अंधेरे बंद कमरे

भाग-1

नौ साल में चेहरे काफी बदल जाते हैं; और कोई-कोई चेहरा तो इतना बदल जाता है कि पहले के चेहरे के साथ उसकी कोई समानता ही नहीं रहती।

मैं नौ साल के बाद दिल्ली आया, तो मुझे महसूस हुआ जैसे मेरे लिए यह एक बिल्कुल नया और अपरिचित शहर हो। जिन लोगों के साथ कभी मेरा रोज़ का उठना-बैठना था, उनमें से कई-एक तो अब बिल्कुल ही नहीं पहचाने जाते थे; उनके नयन-नक्श वही थे, मगर उनके चेहरे के आसपास की हवा बिल्कुल और हो गयी थी। हम लोग कभी आमने-सामने पड़ जाते, तो हल्की-सी 'हलो-हलो' के बाद एक-दूसरे के पास से निकल जाते। और 'हलो' कहने में भी केवल होंठ ही हिलते थे, शब्द बाहर नहीं आते थे। कई बार मुझे लगता कि शायद मेरे चेहरे की हवा भी इस बीच इतनी बदल गयी है कि परिचय का सूत्र फिर से जोडऩे में दूसरे को भी मेरी तरह ही कठिनाई का अनुभव होता है।

हालाँकि कुछ लोग ऐसे भी थे जो काफ़ी खुलकर मिले और जिनसे काफ़ी खुलकर बातें हुईं, मगर उनके पास बैठकर भी मुझे महसूस होता रहा कि हम लोगों के बीच कहीं एक लकीर है—बहुत पतली-सी लकीर, जिसे हम चाहकर भी पार नहीं कर पाते और उसके इधर-उधर से हाथ बढ़ाकर ही आपस में मिलते हैं। कहाँ क्या बदल गया है, यह ठीक से मेरी समझ में नहीं आता था, क्योंकि कुछ लोग तो ऐसे थे कि उनके चेहरे-मोहरे में ज़रा भी फ़र्क़ नहीं आया था। मेरे बाल कनपटियों के पास से सफ़ेद होने लगे थे, मगर उनके बाल अब भी उतने ही काले थे जितने नौ साल पहले, यहाँ तक कि कभी-कभी मुझे शक होता था कि वे सिर पर ख़िज़ाब तो नहीं लगाते। मगर उनके गालों की चमक भी वैसी ही थी और उनके ठहाकों की आवाज़ भी उसी तरह गूँजती थी, इसलिए मुझे मजबूरन सोचना पड़ता था कि ख़िज़ाबवाली बात भी गलत ही होनी चाहिए। फिर भी कई क्षण ऐसे आते थे जब वे परिचित चेहरे मुझे बहुत ही अपरिचित और बेगाने प्रतीत होते थे।

हरबंस को नौ साल के बाद मैंने पहली बार देखा; उसका चेहरा मुझे और चेहरों की बनिस्बत कहीं ज़्यादा बदला हुआ लगा। उसके गालों का मांस कुछ थलथला गया था जिससे वह अपनी उम्र से काफ़ी बड़ा लगने लगा था (उसे देखते ही पहला विचार मेरे दिमाग में यह आया कि क्या मैं भी अब उतना ही बड़ा लगने लगा हूँ?)। उसके सिर के बाल काफ़ी उड़ गये थे, जिससे उसे देखते ही सिलविक्रिन के विज्ञापन की याद हो आती थी। मैं उस समय सिन्धिया हाउस के स्टॉप पर बस से उतरा था और कॉफ़ी की एक प्याली पीने के इरादे से कॉफ़ी हाउस की तरफ़ जा रहा था। तभी पीछे से अपना नाम सुनकर मैं चौंक गया। पीछे मुडक़र देखते ही हरबंस पर नज़र पड़ी, तो मैं और भी चौंक गया। मुझे ज़रा भी आशा नहीं थी कि इस बार दिल्ली में उससे मुलाकात होगी। नौ साल पहले जब मैं यहाँ से गया था, तब से मेरे लिए वह विदेश में ही था। मैं सोचता था कि मेरे एक और दोस्त की तरह, जिसने पोलैंड की एक विधवा से शादी करके वहीं घर बसा लिया है, वह भी शायद बाहर ही कहीं बस-बसा गया होगा। जाने से पहले वह कहता भी यही था कि अब वह लौटकर इस देश में कभी नहीं आएगा।

"हरबंस, तुम?" मैं ठिठककर उसके लम्बे डीलडौल को देखता रह गया। वह हाथों में दो-एक पैकेट सँभाले बहुत उतावली में मेरी तरफ़ आ रहा था। उसकी चाल में वही पुरानी लचक थी जिससे मुझे उसका बदला हुआ चेहरा भी उस समय बदला हुआ नहीं लगा। मैंने अपना हाथ उसकी तरफ़

बढ़ाया, तो उसने मेरा हाथ नहीं पकड़ा, अपनी पैकेटवाली बाँह मेरे कन्धे पर रखकर मुझे अपने साथ सटा लिया।

“अरे, तुम यहाँ कैसे, मधुसूदन?” उसने कहा, “मैंने तो समझा था कि तुम अब बिल्कुल अख़बारनवीस ही हो गये हो और दिल्ली में तुम्हारा बिल्कुल आना-जाना नहीं होता। तीन साल में आज मैं पहली बार तुम्हें यहाँ देख रहा हूँ।”

हम लोग जनपथ के चौराहे पर खड़े थे और मैं बत्ती का रंग बदलने की राह देख रहा था। बत्ती का रंग बदलते ही मैंने उसकी बाँह पर हाथ रखकर कहा, “आओ, पहले सडक़ पार कर लें।”

मेरा यह सुझाव उसे अच्छा नहीं लगा, मगर उसने चुपचाप मेरे साथ सडक़ पार कर ली। सडक़ पार करते ही वह रुक गया जैसे कि अपनी सीमा से बहुत आगे चला आया हो।

“मैं एक तरह से नौ साल के बाद यहाँ आया हूँ।” मैंने कहा, “बीच में मैं दो-चार बार एक-एक दिन के लिए आया था, मगर वह आना तो न आने के बराबर ही था।”

मगर मुझे लगा कि उसने मेरी बात की तरफ़ ध्यान नहीं दिया। उसकी आँखें मेरे कन्धों के ऊपर से सडक़ के पार किसी चीज़ को खोज रही थीं।

“तुम बाहर से कब आये हो?” मैंने पूछा, “मैंने तो सोचा था कि तुम अब बाकी ज़िन्दगी लन्दन या पेरिस में ही कहीं काट दोगे। जाने से पहले तुम्हारा इरादा भी यही था।” यह कहते हुए मुझे सहसा नीलिमा के नाम लिखे उसके पत्रों की याद हो आयी, और मेरा मन एक विचित्र उत्सुकता से भर गया।

“मुझे आये तीन साल हो गये।” वह उसी तरह मोटरों और बसों की भीड़ में कुछ खोजता हुआ बोला, “बल्कि अब यह चौथा साल जा रहा है? मुझे किसी ने बताया था कि तुम लखनऊ के किसी दैनिक में हो। दैनिक का नाम भी उसने बताया था। मैंने एकाध बार सोचा भी कि तुम्हें चिट्ठी लिखूँ, मगर ऐसे ही आलस में बात रह गयी। तुम जानते हो चिट्ठियाँ लिखने के मामले में मैं कितना आलसी हूँ।”

मुझे फिर उन दिनों की याद हो आयी जब वह अभी बाहर गया ही था। उन दिनों भी क्या वह चिट्ठियाँ लिखने के बारे में ऐसी बात कह सकता था? मेरे होंठों पर मुस्कराहट की एक हल्की-सी लकीर आ गयी और मैंने कहा, “हो सकता है, मगर इसमें सिर्फ नीलिमा की बात तुम्हें छोड़ देनी चाहिए।”

वह इससे थोड़ा सकपका गया। सहसा उसके हाथ इस तरह हिले जैसे अपनी खोयी हुई चीज़ उसे भीड़ में नज़र आ गयी हो, मगर दूसरे ही क्षण उसके कन्धे ढीले हो गये और उसके चेहरे पर निराशा की लहरें खिंच गयीं।

“तुम किसी को ढूँढ़ रहे हो?” मैंने पूछा।

“नहीं, देख रहा हूँ कि कोई स्कूटर मिल जाए, तो तुम्हें अपने घर ले चलूँ।”

उसका यह सोच लेना कि मुझे साथ घर ले जाने के लिए उसका मुझसे पूछना ज़रूरी नहीं है, मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने तुरन्त ही मन में निश्चय कर लिया कि मैं उसके साथ नहीं जाऊँगा।

“आज हमारे यहाँ कुछ लोग खाने पर आ रहे हैं, इसलिए मेरा जल्दी घर पहुँचना ज़रूरी है।” वह बोला, “नीलिमा तुम्हें देखकर बहुत ख़ुश होगी। अभी आठ ही दस दिन हुए जब हम लोग तुम्हारी बात कर रहे थे। मैं उससे कह रहा था कि जीवन भार्गव की तरह यह आदमी भी ज़िन्दगी के

दलदल में फँसकर रह गया। घर चलो, तो वहाँ तुम्हें एक नया व्यक्ति भी मिलेगा जिससे मिलकर तुम्हें ख़ुशी होगी।"

"नया व्यक्ति?"

"हमारा लडक़ा अरुण। वह अब तीन साल का होने जा रहा है। एक बार तुम्हें पहचान लेगा, तो फिर तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ेगा। आओ, उधर स्कूटर स्टैंड पर चलते हैं। यहाँ पर खड़े-खड़े कोई स्कूटर नहीं मिलेगा।"

"मैं इस समय तुम्हारे साथ नहीं चल सकूँगा," मैंने कहा। "फिर किसी दिन चलूँगा। या तुम मुझे घर का पता बता दो, मैं अपने आप किसी दिन पहुँच जाऊँगा। तुम्हारे यहाँ आने में मुझे कोई तकल्लुफ तो है नहीं।" और यह कहते हुए मुझे उलझन हुई कि मेरी यह बात भी तकल्लुफ नहीं, तो और क्या है?

"फिर किसी दिन खाक आओगे!" वह थोड़ा खीझ गया, "कल-परसों जाकर लखनऊ से चिट्ठी लिख दोगे कि मुझे अफ़सोस है कि मैं तुमसे मिलने नहीं आ सका। और हो सकता है कि चिट्ठी भी न लिखो।"

"नहीं, अब इस तरह का मौका नहीं आ सकता।" मैंने कहा, "मैं लखनऊ छोडक़र दिल्ली में ही आ गया हूँ।"

"क्या!" आश्चर्य से उसके हाथ का पैकेट गिरने को हो गया जिसे उसने किसी तरह सँभाल लिया, "तुम लखनऊ से नौकरी छोड़ आये हो?"

"हाँ।"

"कब से?"

"वहाँ से रिलीव हुए मुझे दस दिन हो गये। पिछले मंगल से मैंने यहाँ 'न्यू हैरल्ड' में जॉइन कर लिया है। अब दूसरा मंगल है।"

"सच?"

"हाँ, सच नहीं तो क्या?"

"यह सुनकर नीलिमा तो बहुत ही ख़ुश होगी।" उसने दोनों पैकेट एक हाथ में लेकर दूसरे हाथ से मेरी बाँह को पकड़ लिया, "इस वक़्त तो तुम्हें हर हालत में मेरे साथ चलना ही है। नीलिमा को पता चलेगा कि तुम दिल्ली में हो और फिर भी मेरे साथ घर नहीं आये, तो वह कितना बुरा मानेगी? आओ, चलो...।"

"नहीं, इस वक़्त मैं सचमुच नहीं चल सकूँगा।" मैंने अपनी बाँह उसके हाथ से छुड़ाते हुए कहा, "अभी मैं बस से उतरा ही हूँ और पहले कॉफ़ी की एक प्याली पीना चाहता हूँ। और कॉफ़ी हाउस में मैंने किसी से मिलने के लिए भी कह रखा है।"

"ऐसा कौन आदमी है जिससे मिलना इतना ज़रूरी है?"

"है एक आदमी।" मैंने कहा, "तुम उसे नहीं जानते।" मुझे अपने पर गुस्सा आया कि मैंने फट से किसी का भी नाम क्यों नहीं ले दिया। झूठ बोलते वक़्त जाने ज़बान कुछ जकड़ क्यों जाती है? इससे झूठ बोलने का सारा मज़ा किरकिरा हो जाता है और दूसरे को भी फ़ौरन पता चल जाता है कि बात झूठ कही गयी है।

“तो चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ।” वह बोला, “कॉफ़ी की एक प्याली पी लो और उस आदमी को जिस किसी तरह टाल दो। घर तुम्हें मैं अपने साथ लेकर ही जाऊँगा।”

मैं अपना हठ दिखा चुका था और किसी से मिलने की बात थी नहीं, इसलिए मेरा मन हुआ कि अब मैं सीधा उसके साथ चला जाऊँ। मगर अपनी बात मुझे रखनी थी, इसलिए मैंने कहा, “अच्छा आओ, वहाँ चलकर देख लेते हैं। उससे छः बजे मिलने की बात थी। वह नहीं मिला, तो मैं तुम्हारे साथ चला चलूँगा। अपनी तरफ़ से तो मैं उसके सामने सच्चा रहूँगा कि मैं वक़्त पर पहुँच गया था।”

हरबंस और उसके सारे साहित्य और कला सम्बन्धी ज्ञान की बात मैं बम्बई में ही भूल आया था। दिल्ली आकर मैं अपने मित्र अरविन्द के पास ठहरा था जो उन दिनों एक हिन्दी दैनिक में सहायक सम्पादक के रूप में काम कर रहा था। अरविन्द क़स्साबपुरा में अपने प्रेस के एक दफ़्तरी के साथ रहता था। दफ़्तरी, जिसे वहाँ सब लोग ठाकुर साहब कहकर बुलाते थे, क़स्साबपुरा के उस मुसलमान मुहल्ले में एक टूटे-फूटे घर में नीचे की दो कोठरियों पर कब्ज़ा किये हुए था, जिनमें से आगे की कोठरी में अरविन्द रहता था और पीछे की कोठरी में वह स्वयं अपनी पत्नी और सात-आठ साल की लडक़ी के साथ रहता था। अरविन्द खाना भी उसके यहाँ से ही खाता था, और उसे कुल मिलाकर पचहत्तर रुपये महीने देता था। मेरे आने पर पच्चीस रुपये महीने और देकर उसने मेरे खाने की व्यवस्था भी साथ ही कर दी। दफ़्तरी की पत्नी, जिसे हम कभी ठकुराइन और कभी भाभी कहकर बुलाते थे, बहुत स्नेह और चाव से हमें खिलाती थी। कभी-कभी तो मुझे लगता था कि वह अपने ठाकुर साहब को उतना अच्छा खाना नहीं देती जितना अच्छा हमें देती है। अरविन्द की जब दिन की ड्यूटी होती थी, तो वह दोपहर का खाना साथ दफ़्तर ले जाता था और जब रात की ड्यूटी होती थी तो ठकुराइन बारह-एक बजे आने पर भी उसे खाना गरम करके ही खिलाती थी। खाना खाते समय अरविन्द ठकुराइन से कुछ न कुछ चुहल करता रहता था। “ठकुराहन, तर माल तो तुम सब ठाकुर साहब को दे देती हो; हमारे आगे तो जो रूखा-सूखा बच जाता है वही रख देती हो।” वह कहता।

“अभी तुम तर माल के लायक हो कहाँ लाला?” ठकुराइन हँसकर कहती, “अभी तो तुम बच्चे हो। तर माल खाओगे, तो बिगड़ नहीं जाओगे?”

“तुम तो ठकुराइन सारी उम्र हमें बच्चा ही बनाये रखोगी।” अरविन्द कहता, “आखिर हमें किसी तरह बड़े भी तो होना है। हमें कभी तो कुछ खिलाया करो।”

“जब खाने लायक हो जाओगे, तो माँगकर नहीं खाओगे।” ठकुराइन हँसती रहती, “पतीली में से निकालकर खा जाया करोगे। जिस दिन इतनी हिम्मत आ जाएगी, उस दिन ठकुराइन को नहीं पूछोगे। जहाँ पतीली देखोगे, वहीं मुँह मारने लगोगे।” कहते-कहते ठकुराइन को न जाने क्या लगता कि वह सिर पर कपड़ा ठीक कर लेती। अपनी मैली धोती के सूराख भी वह जिस किसी तरह ढक लेती।

“इस तरह कहीं मुँह मारेंगे, तो जूती नहीं खाएँगे?” अरविन्द कहता।

“पकड़े जाओगे तो जूती भी खाओगे। मगर जो जूती से डरता हो, उसे तर माल की बात नहीं करनी चाहिए। क्यों, छोटे लाला?”

मैं हूँ-हाँ में उत्तर देकर कम्बल ओढ़ लेता। ठकुराइन फिर कहती, “हमारे छोटे लाला तो बिल्कुल

साधु-सन्त आदमी हैं। इन्हें तो रूखा-सूखा भी न मिले, तो भी इनका पेट भरा रहता है। मेरा तो ख़याल है इन्हें भूख लगती ही नहीं।"

अरविन्द मेरे चिकुटी काट देता। "क्यों बे, बोलता क्यों नहीं?"

"ठकुराइन ठीक कहती है," मैं कम्बल उतारकर कहता।

"क्या ठीक कहती है?"

"कि मुझे भूख नहीं लगती। आज सुबह गोभी की सब्ज़ी इतनी अच्छी बनी थी, फिर भी मुझसे सिर्फ़ दो ही रोटी खायी गयीं।"

"धत्तेरे की!" अरविन्द मेरे बालों में उँगलियाँ उलझाकर मेरे सिर को अच्छी तरह मल देता, "तुझे गोभी के सिवा कुछ सूझता भी है?"

मैं चुप रहता, क्योंकि मुझे उस समय यह सूझ रहा होता कि कहीं साथ की कोठरी में ठाकुर साहब के खर्राटे सहसा बन्द न हो जाएँ और मुँह से कुछ कहते न कहते मुँह का जायका ही न बदल जाए।

ठकुराइन सिर पर कपड़ा फिर ठीक करती और आँखों ही आँखों में मुस्कराती हुई कहती, "ये देखने में जितने सीधे लगते हैं, असल में उतने सीधे हैं नहीं। दुनिया-भर के सब माल खाये हुए हैं। बम्बई रहकर आये हैं। यहाँ तो सुना है कि भाँत-भाँत के पदारथ मिलते हैं।"

अरविन्द एक हाथ से कौर मुँह में डालता और दूसरे हाथ से फिर मुझे थोड़ा गुदगुदा देता और कहता, "ठकुराइन, हमारी न सही, कभी तुम इसकी ही कुछ ख़ातिर करो। यह भी क्या कहेगा कि हाँ बम्बई के बाद दिल्ली में भी कुछ दिन रहे थे..."

"इनसे कहो, ये कहें अपने मुँह से! बस एक बार कह दें, तो देखो ठकुराइन इनकी ख़ातिरदारी के लिए क्या-क्या नहीं करती? रोज़ कहें तो रोज़ उन्हें घी की पूरी बनाकर खिलाऊँ।"

"क्यों बे!" अरविन्द अपने जूठे गिलास में हाथ धोकर मुँह पर फेरता हुआ कहता, "एक बार कह क्यों नहीं देता? तेरे बहाने हमें भी कभी घी की पूरी मिल जाएगी। भाभी को तुम ऐसी-वैसी मत समझना। इसका दिल-गुर्दा बहुत बड़ा है।"

"किससे कह रहे हो लाला?" ठकुराइन उसके जूठे बरतन उठाकर चल देती। "बेचारे सन्त-महात्मा के पेट में क्यों चूहे दौड़ाते हो? अभी तो इन्हें तुम नौकरी की ही बात सोचने दो। नौकरी हो जाएगी, तो दुनिया-भर के तर माल भी अपने आप उड़ाने को मिल जाएँगे। अभी इन्हें तुम रूखे-सूखे पर ही रहने दो।"

ठकुराइन जाकर अपनी कोठरी का किवाड़ बन्द कर लेती, तो अरविन्द कम्बल ओढक़र लम्बा होता हुआ धीरे से कहता, "ठकुराइन है रंगीन-मिज़ाज! है कि नहीं?"

"हाँ, है।" मैं कुढ़े हुए स्वर में कहता, "अब मुझे सोने दो।"

"अच्छा बताओ, तुम क्या सोच रहे हो?" अरविन्द करवट बदलकर मेरे ऊपर को झुक आता।

"नौकरी की बात सोच रहा हूँ।"

"धत्त!" वह मेरी जाँघ को हाथ से मसल देता, "जैसे नौकरी की बात सोचने का यही वक़्त है।"

"तुम्हें पता होना चाहिए कि बेकार आदमी हर वक़्त एक ही बात सोचता है।"

"अच्छा यार एक बात बताओ।" उसका स्वर बहुत धीमा और रहस्यपूर्ण हो जाता।

"अगर ठकुराइन को थोड़ा और टटोला जाए, तो तुम्हारा क्या ख़याल है इसे पटाया जा सकता है?"

मैं उसे गुस्से में परे धकेल देता, "अब तुम सो जाओ और मुझे भी सोने दो।"

"मैं तो समझता हूँ कि बस दाना डालने की बात है।" वह सीधा पड़ा-पड़ा कहता, "अगर ठीक से दाना डाला जाए तो ऐसी कोई बात नहीं कि ठकुराइन मान न जाए।"

"मुझे नींद आ रही है, इसीलिए कम से कम मुझे सो जाने दो," कहकर मैं करवट बदल लेता।

"लानत है ऐसी नींद पर," अरविन्द भी निराश होकर करवट बदल लेता, "मुझे नहीं पता था कि तुम इतने बोदे आदमी हो।"

और बहुत जल्दी ही उस कम्बल से खर्राटे भरने की आवाज़ सुनायी देने लगती। मैं देर तक जागता हुआ आनेवाले कल की बात सोचता रहता। उन दिनों एक-एक दिन मैं बहुत जुगत-ब्योंत से काट रहा था। मासिक 'इरावती' के दफ़्तर में डेढ़-दो सौ की नौकरी मिलने की आशा थी, मगर सम्पादक महोदय हर रोज चाय-कॉफ़ी पिलाकर विदा कर देते थे और निश्चित बात का कुछ पता नहीं देते थे। शायद उन्होंने मेरी तरह किसी और को भी लटका रखा था और अपने मन में तय नहीं कर पा रहे थे कि किसे रखें ओर किसे मना करें। मेरी कुछ-एक कविताएँ उस पत्रिका में प्रकाशित हो चुकी थीं, इसलिए वे बात बहुत मुलायम ढंग से करते थे। जितनी देर मैं उनके सामने की कुरसी पर बैठा उनसे बात करता रहता, उतनी देर मुझे यही लगता कि कल नहीं तो परसों से वह नौकरी मुझे ज़रूर मिल जाएगी, मगर उनके दफ़्तर की सीढ़ियाँ उतरते ही मन पर निराशा का भूत सवार हो जाता। बम्बई से आते समय जो सौ-सवा सौ रुपये जेब में थे, वे अब समाप्त होने को थे और मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि जब जेब बिल्कुल खाली हो जाएगी, तो एक दिन भी किस तरह काटूँगा। इसलिए ठकुराइन के साथ अरविन्द की चुहल से कभी-कभी मेरा मन बहुत झुँझला उठता था। नफ़्स की भूख से पेट की भूख बड़ी होती है, यह सूत्र उन दिनों मुझे बहुत सार्थक प्रतीत होता था। मुझे गुस्सा आता था कि इतने बड़े सूत्र का अर्थ अरविन्द की समझ में क्यों नहीं आता।

कोठरी में रात को चूहे बहुत शोर मचाते थे। कभी कोई चूहा पैरों की तरफ़ चीं-चीं करता और फिर कम्बल के ऊपर से गुज़रकर सिर की तरफ़ आ जाता। अरविन्द बिल्कुल निश्चिन्त और बेखटके खर्राटे भरता रहता। साथ के कमरे में कोई कटोरी गिरकर झनझना उठती या ठाकुर साहब की चारपाई चरमराने लगती। मुझे वहाँ लेटे-लेटे कई बार बहुत घुटन महसूस होने लगती थी। मैं कम्बल से सिर निकालकर लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगता, क्योंकि मुझे अपना दम रुकता-सा प्रतीत होता था। अरविन्द और ठकुराइन के सारे मज़ाक चूहों की चीं-चीं के साथ मिलकर मेरे दिमाग़ की नसों को कुतरते रहते थे। मैं सोचता था कि क्या ठकुराइन सचमुच वही चाहती है जो अरविन्द समझता है कि वह चाहती है? क्या अरविन्द के मन में सचमुच ठकुराइन को उस रूप में पाने की कामना जागती है? ठकुराइन का झाइयों से लदा हुआ चेहरा और ढीला पड़ा हुआ शरीर क्या सचमुच उसके मन में इस तरह की कामना जगा देते हैं? और ठाकुर साहब के होते हुए ठकुराइन के मन में ऐसी कामना क्यों उठती है? तो क्या...?

और यह सब सोचते हुए मेरे शरीर में एक झुरझुरी-सी भर जाती। मुझे अपने गाँव का वह पोखर याद आ जाता जिसके कीचड़ मिले पानी में सूअर मुँह मारते रहते थे और मैं उन्हें पत्थर मार-मारकर भगाया करता था, मगर मेरे मारे हुए पत्थरों का उन पर उल्टा ही असर होता था। वे पोखर में उतरकर अपने को और भी कीचड़ में लथपथ कर लेते थे। तब मैं चाहा करता था कि वह पोखर

किसी तरह सूख जाए जिससे सूअरों का उसमें उतरकर अपने को कीचड़ में लथपथ करना बन्द हो जाए। गरमी के दिनों में मैं रोज़ देखता था कि पोखर कितना सूख गया है। कई बार यह देखने के लिए ही मैं तेज़ धूप में भी वहाँ चला जाता था, मगर पोखर अभी एक-चौथाई भी नहीं सूख पाता था कि फिर बारिश हो जाती थी और पोखर फिर उसी तरह लबालब भर जाता था। पोखर में उतरते हुए सूअर अपनी थूथनियाँ उठाकर मेरी तरफ़ मुँह चिढ़ाने लगते थे और मैं अपनी बेबसी से खीझकर उन्हें और पत्थर मारने लगता था। घर लौटने तक मेरे सब कपड़े कीचड़ से लथपथ होते और दहलीज़ से अन्दर दाख़िल होते ही मुझे ताई की डाँट सुननी पड़ती थी, "तू नहीं मानेगा कीचड़ से खेले बिना गधू (गधे का यह रूपान्तर उन्होंने मधु के वज़न पर कर रखा था)। इतनी बार मार खायी, फिर भी तेरा वही हाल है। सूअरों के बीच एक सूअर तू भी है।" और मैं थप्पड़ खाने से पहले ही थप्पड़ के डर से रोना शुरू कर देता था।

कभी-कभी रात की खामोशी में एक आवाज़ कोठरी की घुटन को कुछ कम कर देती थी। घर पर ऊपरी मंज़िल पर बुड्ढा इबादत अली कभी-कभी आधी रात को सितार बजाने लगता था। इबादत अली उस घर का मालिक था, मगर वह वहाँ किरायेदारों से बदतर हालत में रहता था। जब पाकिस्तान बना था, तो वह भी और कई लोगों की तरह अपना घर छोडक़र लाहौर चला गया था —शायद अपनी लडक़ी खुरशीद की वजह से, कि हो सकता है अब हिन्दुस्तान में रहकर वह उसकी ठीक से हिफ़ाज़त न कर सके। इबादत अली की बीवी एक वर्ष पहले गुज़र चुकी थी और खुरशीद के अलावा उसके जो एक लडक़ा हुआ था, वह भी चार साल का होने से पहले ही चल बसा था। विभाजन से पहले वह खुद खुरशीद के साथ घर के उस हिस्से में रहता था जो अब ठकुराइन के पास था और बाकी हिस्सों में मुसलमान किरायेदार रहते थे। वह घर उसके परदादा या लकड़दादा को मुग़ल दरबार से बख्शीश में मिला था और तब से वे लोग उसी घर में रहते आ रहे थे। सितार बजाना उनका ख़ानदानी पेशा था। इबादत अली के पास वह तमग़ा भी सुरक्षित था जो उसके पूर्वज इम्तियाज़ अली को शहनशाह जहाँगीर ने अपने हाथों से दिया था। सितम्बर सन् सैंतालीस के दंगों में जब घर के सब किरायेदार घर खाली करके चले गये, तो आसपास के लोगों के विश्वास दिलाने पर भी कि जब तक वे वहाँ हैं, कोई उसका बाल बाँका नहीं कर सकता, वह निश्चिन्त नहीं हो सका था और एक शाम चुपचाप घर छोडक़र अपनी लडक़ी के साथ वहाँ से चला गया था। इस बीच पाकिस्तान से आये हुए हिन्दू शरणार्थियों ने उसके घर पर कब्ज़ा कर लिया। तीन महीने लाहौर में रहकर जब उसका दिल वहाँ किसी तरह नहीं लगा, तो वह जिस तरह एक शाम गया था, उसी तरह एक शाम अपनी लडक़ी को लिये हुए दिल्ली लौट आया। आते हुए उसने शायद यह नहीं सोचा था कि उसके अपने घर में ही उसके लिए जगह खाली नहीं होगी। यहाँ आकर जब उसने देखा कि उसके अपने घर में आये हुए मेहमान अब उस घर के मालिक बने हुए हैं, तो उसे बहुत नागवार गुज़रा और तभी से उसे दिल के दौरे पडऩे लगे। वह कुछ दिन पीछे की गली में मजीद क़स्साब के यहाँ रहा। बाद में कस्टोडियन को अर्ज़ियाँ दे-देकर उसने किसी तरह का घर का ऊपर का हिस्सा खाली करा लिया और अपनी लडक़ी के साथ वहाँ चला आया। घर के हिन्दू किरायेदार उससे यूँ भी खार खाते थे और मुसलमान का छुआ पानी पीने में उनका धर्म भी जाता था, इसलिए वे उसे या उसकी लडक़ी को आँगन के पम्प से पानी नहीं भरने देते। बुड्ढा इबादत अली तो इस पर सब्र कर जाता था, मगर उसकी लडक़ी को यह बरदाश्त नहीं था। वह कई बार जान-बूझकर ऊपर के पम्प को छोडक़र नीचे के पम्प से पानी भरने चली आती थी जिससे सारे घर में कोहराम मच जाता था। खुरशीद की उम्र मुश्किल से पन्द्रह या सोलह साल की थी, मगर उसका शरीर इतनी जल्दी निखर आया था कि वह देखने में उन्नीस-बीस से कम की नहीं लगती थी। वह तंग मोरी का पाजामा और लहरिया दुपट्टे के साथ आधी बाँहों की कमीज़ पहने गरदन तानकर घर में चलती थी और अपनी हर अदा से यह ज़ाहिर कर देना चाहती थी कि वह उस घर की मालकिन है? ठकुराइन, गोपाल की माँ और घर की दूसरी लड़कियाँ और स्त्रियाँ उससे

बहुत जलती थीं। दोपहर को जब वे ड्योढ़ी में बैठकर चावल छाँट रही होतीं, या मसाला कूट रहीं होतीं, तो वह आकर चुपचाप ड्योढ़ी की चौखट पर खड़ी हो जाती और मूँगफली छीलकर उसके छिलके इधर-उधर फेंकती हुई कोई गीत गुनगुनाने लगती। कस्टोडियन का फैसला था कि उस घर के किरायेदार किराया इबादत अली को ही देंगे, इसलिए हर पहली तारीख़ को कापी-पेंसिल लिये हुए वह एक-एक के कमरे में जाकर कुर्की का वारंट लेकर आये सिपाही की तरह कहती थी, “बराये मेहरबानी किराया अदा कर दीजिए।” स्त्रियाँ इस बात पर झींकती थीं कि उनके आदमियों को अभी तनख़ाह तो मिली नहीं, और वह किराया लेने पहले ही आ पहुँची है। जब वे विरोध में कुछ भी कहतीं, तो खुरशीद चुपचाप बाँहों के तिकोन बनाये खड़ी रहती और सब सुनकर अन्त में फिर यही कह देती, “आज पहली तारीख है, आप किराया दे दीजिए।” उससे किराये के लिए मोहलत माँगी जाए, यह उसे अच्छा लगता था और वह सबको दो-दो, तीन-तीन दिन की मोहलत दे भी देती थी। मगर अगली पहली को फिर उसी तरह कॉपी-पेंसिल लिये वह सबके सिर पर आ सवार होती थी, “माईजी, आज पहली तारीख़ है, किराया दे दीजिए।” ठकुराइन और गोपाल की माँ उसके ‘माईजी’ कहकर बुलाने से भी चिढ़ती थीं। गोपाल की माँ कहती थी, “मरी की आँख में ज़रा भी लाज-लिहाज़ नहीं। जाने इसे कहाँ का जवानी का ज़ोर चढ़ा है! इसके लिए और सब तो ‘माईजी’ हैं! दुनिया में एक जवान है, तो यह अकेली ही है। किराया लेकर खिलाएगी अपने खसम को! सारा दिन जाने कहाँ-कहाँ के चक्कर पर चढ़ी रहती है, छिनाल!”

मगर खुरशीद उनकी बातों की ज़रा भी परवाह नहीं करती थी और उनके हज़ार झींखने पर भी उसकी गरदन में खम नहीं आता था। वह जब सुर्ख या सब्ज़ ओढनी लिये ड्योढ़ी में से गुज़रती, तो वहाँ के वातावरण में एक हलचल-सी मच जाती। वह खूब उजले कपड़े पहनकर शायद सब पर यह साबित करना चाहती थी कि वह उनमें से एक नहीं है, उनसे अलग और कहीं ऊँचे रुतबे की है, और उन लोगों से उसकी कोई निस्बत नहीं हो सकती। उसके शरीर का निखार उसकी ऊँचाई की भावना को और भी पुष्ट करता था, और जब वह आती, तो जो कोई भी ड्योढ़ी में खड़ा होता, वह अनायास ही एक तरफ को हट जाता था।

खुरशीद जितनी ही चुस्त थी, और जिस तरह तडक़-भडक़ के साथ रहती थी, बुड्ढा इबादत अली उतना ही पस्त और खस्ताहाल नज़र आता था। घर के बाहर उसके नाम की लकड़ी की तख्ती लगी थी जो धूप और बरसात में आधी से ज़्यादा गल चुकी थी। उस पर लिखे हुए नाम में से भी इबादत का हुलिया बिल्कुल बिगड़ गया था और अली ही अली बाकी रह गया था और वह भी बिल्कुल बुझा हुआ-सा। इबादत अली का अपना व्यक्तित्व की तख्ती पर लिखे नाम से ज़्यादा भिन्न नहीं था। वक़्त की मार से ज्यों-ज्यों तख्ती पर लिखे हुए नाम की हालत ज़ेर होती जा रही थी, त्यों-त्यों उसकी अपनी हालत भी ज़ेर होती जा रही थी। उसकी कमर झुक गयी थी और पुरानी शेरवानियाँ उसके शरीर पर बहुत ढीली आती थीं। उसके व्यक्तित्व में एक ही चीज़ थी जिसकी नोक अब भी तीखी नज़र आती थी और वह थी उसकी कामदार टोपी। वह जब भी खाँसता हुआ ऊपर से नीचे आता, तो उसकी वह टोपी उसके व्यक्तित्व से बिल्कुल अलग किसी और के सिर से उतारकर उसके सिर पर रखी हुई प्रतीत होती थी। वह इस तरह डरा हुआ-सा लोगों के बीच से गुज़रता था जैसे उन सब पर उसे जल्लाद होने का शुबहा हो जो कटारें ताने खड़े हों। कोई सामने से आ रहा होता, तो वह थोड़ा झुककर उसे सलाम भी कर देता, जाने आदत की वजह से या अपनी लाचारी के अहसास से। लोग खुरशीद का बदला अकसर उससे निकाल लेते थे। “मियाँ साहब, रास्ते से हट जाइए, हमारा राशन आ रहा है।” मियाँ पर ऐसी बात का तुरन्त असर होता और वह रास्ते से हटने की जगह कई बार वापस ऊपर चला जाता।

मजीद क़स्साब और कुछ और लोगों ने मियाँ को भडक़ाने की कोशिश की थी कि वह कस्टोडियन को दरख़्वास्त देकर अपने मकान का पूरा कब्जा ले ले, और इशारे में उससे यह भी कहा था कि अगर हिन्दू किरायेदारों ने किसी तरह की शरारत की, तो वे वहाँ फ़साद करा देंगे। मगर मियाँ ने

उस बारे में कोई कार्रवाई नहीं की। खुरशीद अपने बाप के इस दब्बूपन से बहुत चिढ़ती थी और कई बार उस पर बुरी तरह बिगड़ भी उठती थी। मगर मियाँ बिना किसी हील-हुज्जत के उसकी बात सुन लेता था और उसके बाद या तो नमाज़ पढने लगता था, या सितार लेकर बैठ जाता था। जब उसे दिल का दौरा पड़ता, तो वह कई-कई दिन ऊपर से नीचे नहीं आता था। खुरशीद भी उन दिनों ज़्यादा वक़्त उसके पास ही रहती थी। वह नीचे उतरती, तो सिर्फ़ दवाई लाने के लिए या मजीद को बुलाने के लिए। मजीद आकर काफ़ी-काफ़ी देर मियाँ के पास बैठा रहता था और कई बार तो रात खूब गहरी होने लगती थी, तब लौटकर वहाँ से जाता था। घर की स्त्रियों में इस बात को लेकर भी बहुत चर्चा होती थी कि मजीद वहाँ क्यों आता है और इतनी-इतनी रात तक ऊपर क्या करता रहता है। खुरशीद से वह उम्र में कम से कम बीस साल बड़ा था, फिर भी लोग उसके आने का कारण मियाँ इबादत अली को नहीं, खुरशीद को ही समझते थे। “नहीं तो वह लाल-पीले दपुट्टे किसके लिए ओढ़ती है?” गोपाल की माँ कहती थी, “बुड्ढे बाप की तो आँखें हैं नहीं जो उसे दिखाएगी। कमजात दवाई के बहाने इस मरदूद को दिखाने के लिए ही तो ओढ़-ओढक़र जाती है। बाप सिर पर न होता, तो जाकर किसी कोठे पर बैठ जाती।”

“अब भी तो कोठे पर ही रहती है।” ठकुराइन बात का रस लेती हुई कहती, “बस इतना ही फर्क है कि यह कोठा आगे को नहीं बना, पीछे को बना है। क्यों!” इस पर वे दोनों हँस-हँसकर लोट-पोट होने लगतीं, और गोपाल की माँ ठकुराइन के पेट में ठोंगा मारकर कहती, “तू ठकुराइन, एक ही बदमास है!”

“और तू कहाँ की भलीमानस है?” ठकुराइन चट से जवाब देती, “तेरे किस्से तो घर-घर में मशहूर हैं।” और इस पर वे इस तरह हँसती रहतीं जैसे दोनों ने एक-दूसरी की बहुत प्रशंसा की हो।

रात की खामोशी में जब इबादत अली सितार बजाता था, तो मेरी नसों में भरी हुई ऊब और झुँझलाहट धीरे-धीरे कम होने लगती थी। सितार के तारों से निकले हुए स्वर मन को एक और ही तरह के भारीपन से लाद लेते थे—मन कुछ हल्की-हल्की परतों के नीचे दबता जाता था और अपनी तरफ से कुछ सोचने की बात ही मन से निकल जाती थी। नन्ही-नन्ही बूँदों की तरह वे स्वर मन को एक भीगे से पुलक से भरने लगते थे। जिस तरह हवा के झोंकों में फुहार की बूँदें काँपती हैं, उसी तरह वे स्वर कभी तेज़ और कभी मद्धिम हो जाते थे और मेरा मन भी उन स्वरों में भीगता हुआ उस कोठरी की चारदीवारी से निकल खुले आकाश में ही कहीं मँडराने लगता था, आँखें मूँद लेने पर अँधेरे की स्याह स्लेट पर उन स्वरों से कुछ लिपियाँ-सी बनने लगतीं—दूर के सितारों की तरह झिलमिलाती हुई लिपियाँ, जो कि बनने के साथ-साथ ही मिटती जाती थीं, एक मुग्ध चेहरे पर आते-जाते भावों की तरह। परन्तु उनके मिटने के बाद भी कुछ शेष रह जाता था, हवा में, आकाश में, मन में। मन में उसका रूप एक उदासी का होता था। मैं आँखें खोलता और बन्द करता, और धीरे-धीरे मुझे नींद आ जाती।

मेरा कई बार मन होता था कि किसी समय बुड्ढे इबादत अली के पास बैठकर उससे सितार सुनूँ, मगर लोगों की टीका-टिप्पणी के डर से मैं मन को रोक लेता था। मगर एक बार बहुत ही मन हुआ, तो मैं धूप में टहलने के बहाने ऊपर चला गया। इबादत अली उस समय खाना खा रहा था और खुरशीद उसके पास बैठी उसकी उधड़ी हुई शेरवानी को सी रही थी। मुझे देखकर उन दोनों को आश्चर्य हुआ, क्योंकि निचली मंज़िलों से कोई भी ऊपर आता था, तो उसकी तरफ़ से आँखें फेरकर उनकी कोठरी के पास से निकल जाता था। इबादत अली का हाथ रुक गया, जैसे उसे शक हुआ हो कि मैं भी हाथ में कटार लेकर ही तो नहीं आया। खुरशीद ने शेरवानी एक तरफ़ रख दी और सीधी नज़र से मुझे देखती हुई बोली, “कहिए!”

“मैं मियाँ साहब से मिलने के लिए आया हूँ,” मैंने कहा।

“फ़रमाइए!” मियाँ के चेहरे की तरह उसकी आवाज़ में भी एक आशंका थी, एक सन्देह था।

"मैं अक्सर रात को आपका सितार सुना करता हूँ।" मैंने कहा, "चाहता था कि किसी वक़्त आपके पास बैठकर भी सुनूँ।"

मियाँ ने अपनी सन्देह भरी आँखें मेरे चेहरे से हटाकर खुरशीद की तरफ़ देखा, तो उसने कहा, "अब्बा, ये निचली मंज़िल में हमारे वाली कोठरी में रहते हैं।" और फिर आँखें उठाकर मुझसे बोली, "अब्बा अब अपने शौक के लिए ही कभी-कभार बजा लेते हैं। किसी की फ़रमाइश के लिए बजाना इन्होंने एक मुद्दत से छोड़ दिया है।" उसने बात सहज ढंग से कही, फिर भी उसके शब्दों में एक तीखापन था जो मुझे नश्तर की तरह चुभ गया। "आइए, तशरीफ़ रखिए।" मियाँ ने कौर तोड़ते हुए कहा, "मैं इस वक़्त खाना खा रहा था। आप हमारे हाथ का खाएँगे नहीं, नहीं तो मैं कहता कि आप भी थोड़ा-सा नोश फरमाएँ।"

खुरशीद को उसकी यह बात अच्छी नहीं लगी और उसने एक अवज्ञा और उपेक्षा भरी नज़र से मुझे देखकर मियाँ से कहा, "अब्बा, आप खाना खाकर थोड़ी देर आराम करें। फिर आपकी दवाई का वक़्त हो जाएगा।" और फिर मेरी तरफ़ देखकर बोली, "हकीम साहब ने कह रखा है कि खाने के बाद इन्हें कम से कम एक घंटा आराम करना चाहिए। इनकी सेहत दिन-ब-दिन गिरती जा रही है, इसलिए आराम इनके लिए बहुत ज़रूरी है। साज़ बजाने में इन्हें काफ़ी मेहनत पड़ती है। हकीम साहब का तो कहना है कि इन्हें अब बजाना बिल्कुल छोड़ देना चाहिए। मगर ये हैं कि किसी की बात सुनते ही नहीं।"

संकेत स्पष्ट था। मुझे लगा कि मेरा वहाँ और रुकना ठीक नहीं। मैंने जान-बूझकर अपने को उस भद्दी स्थिति में डाल लिया था और अब मुझे उसके लिए अफ़सोस हो रहा था। मगर एकदम वहाँ से चल देना भी ठीक नहीं लगता था, इसलिए मैं क्षण-भर एक असमंजस में खड़ा कोठरी के फटे-पुराने सामान को देखता रहा। जिस सितार के स्वर रात को आकाश में कँपकँपी पैदा कर देते थे, वह देखने में बहुत टूटा-फूटा-सा था। चारपाई पर बिछी हुई चादरों में जगह-जगह पैबन्द लगे थे और खूँटियों से लटके हुए कपड़े बरसों से धुल-धुलकर अब तार-तार हो रहे थे। खाना पकाने के एल्यूमीनियम के बरतन जाने कितनी-कितनी आँचों की कालिख अपने में समेटे हुए थे! खुरशीद की वे ओढ़नियाँ उस समय न जाने कहाँ थीं जिनके बल पर वह अपनी गरदन अकड़ाकर चला करती थी! उसकी गरदन अलबत्ता उस समय भी अकड़ी हुई थी और उसकी आँखों में शरारों की सी चमक नज़र आ रही थी।

"अच्छा, आप इस वक़्त आराम फ़रमाएँ, "मैंने मियाँ से कहा। "मैंने आकर नाहक आपको तकलीफ़ दी, इसके लिए शर्मिन्दा हूँ।"

"आप तशरीफ़ रखिए।" बुड्ढा इबादत अली जल्दी-जल्दी कौर निगलता हुआ बोला, "आपको साज़ सुनने का शौक है, तो मैं आपके लिए..."

"नहीं अब्बा, आप इस वक़्त साज़ नहीं बजाएँगे।" खुरशीद ने उसकी बात बीच में ही काट दी, "आपकी सेहत इसकी इजाज़त नहीं देती और यह वक़्त आपके आराम करने का है।" उसकी आँखों में एक प्रतिहिंसा का भाव स्पष्ट झलक आया था। मुझे और एक पल भी वहाँ रुकना मुनासिब नहीं लगा, इसलिए मैंने कहा, "हाँ, ठीक है। यह इनके आराम का वक़्त है। इस वक़्त इन्हें आराम ही करना चाहिए।" और मियाँ को सलाम करके मन में अपमान और तिरस्कार की चुभन लिये हुए मैं वापस चला आया। शायद इस बात को लेकर बाद में मियाँ की खुरशीद के साथ कुछ कहा-सुनी भी हुई, क्योंकि उसके बाद कई रातों तक मियाँ ने सितार नहीं बजाया। जब मैं ऊपर से लौटकर अपनी कोठरी में पहुँचा, तो ठकुराइन झट से अपनी कोठरी की दहलीज़ पर आ खड़ी हुई। "क्यों लाला, तुम भी अब ऊपर के चक्कर काटने लगे?" उसने कहा।

"मैं ज़रा धूप में टहलने के लिए गया था," मैंने कहा और चुपचाप एक किताब लेकर बैठ गया।

“टहलने न टहलने गये थे।” ठकुराइन बोली, “औरों से झूठ बोलो तो बोलो, भाभी से भी झूठ बोलते हो?”

मुझे अपनी खीझ की वजह से ताव आ गया और मैंने किताब ज़ोर से बन्द करके रख दी। “तुम्हें भाभी, हर वक़्त बस एक ही बात सूझती है।” मैंने कहा। ठकुराइन का चेहरा सहसा फीका पड़ गया और वह चेहरे पर बनावटी मुस्कान लाकर बोली, “अरे, तुम तो बुरा मान गये, लाला! मैं सचमुच थोड़े ही कह रही थी। मैं क्या जानती नहीं कि तुम्हारा उन लोगों से क्या वास्ता हो सकता है? तुम कोई ऐसे-वैसे हो जो जाकर उस फूटी हँडिया को सूँघोगे? मैंने तो ऐसे ही बात के लिए बात कह दी। आजकल सरदी के दिन हैं, आदमी का घड़ी-भर धूप में टहलने को मन कर ही आता है। हम जब किराया देते हैं, तो छत पर जाकर धूप क्यों नहीं सेकें? परमात्मा की बनायी हुई चीज़ है, उस पर मियाँ का राज थोड़े ही है? मैं तो खुद गोपाल की माँ से कह रही थी कि गोपाल की माँ, कभी-कभी हम लोग भी जाकर ऊपर धूप में क्यों न बैठ जाया करें?”

मैंने चुप रहकर किताब फिर उठा ली, तो ठकुराइन थोड़ा पास आकर बोली, “देखो लाला, तुमने मेरी बात का बुरा तो नहीं मान लिया? मुझे तुम चाहे जिसकी सौगन्ध खिला लो, मैं तो हँसी में कह रही थी।”

“खैर, इस बात को अब जाने दो भाभी।” मैंने उसी रूखे स्वर में कहा, “इस वक़्त मैं थोड़ा कुछ पढ़ना चाहता हूँ।”

“हाँ-हाँ, तुम बैठकर पढ़ो, मैं उधर जा रही हूँ।” ठकुराइन चलती हुई बोली, “तुम्हारी भाभी तो तुम्हारी तरह पढ़ी-लिखी है नहीं। वह कभी बेवकूफी की बात भी कह दे, तो बुरा मत मान जाया करो। जिस मरदूद का सारे घर में कलंक फैला है, उसके साथ मैं तुम्हारा नाम कभी ले भी सकती हूँ? मैं तो अपनी ज़बान काटती हूँ कि यह मरी बिना समझे-बूझे जो मुँह में आता है, कह जाती है? तुम मेरी बेवकूफी की बातों पर ध्यान न दिया करो। कहो, तो तुम्हारे लिए चाय बना दूँ?”

मैंने सिर हिलाकर मना कर दिया, तो भाभी वहाँ से चली गयी। मेरी आँखों के सामने किताब की पंक्तियाँ आड़ी-तिरछी होकर एक-दूसरी में उलझ रही थीं, और मैं फिर-फिर खुरशीद के शब्दों और उसकी आँखों के अवज्ञा के भाव से तिरस्कृत होता हुआ भी बार-बार उन्हीं आँखों को अपने सामने देख रहा था।

और बहुत जल्दी ही वह दिन भी आ गया जब मेरी जेब बिल्कुल खाली हो गयी। आखिरी छ: आने जेब मे लिये हुए मैं आखिरी बार ‘इरावती’ के सम्पादक से पूछने गया कि अब भी उसने कुछ निश्चय किया है या नहीं। मैंने तय कर लिया था कि उससे मिलने के बाद मैं घड़ी बेचकर जो भी तीस-चालीस मिलेंगे उन्हें लेकर सीधा गाँव चला जाऊँगा। मगर उस दिन सम्पादक श्री भास्कर काफ़ी अच्छे मूड में थे, इसलिए उन्होंने मुझे पहली तारीख से नौकरी पर आने के लिए कह दिया, जिससे मुझे घड़ी की कलाई से उतारने की नौबत नहीं आयी। मैं जब ‘इरावती’ के कार्यालय से लौटकर घर आया, तो मुझे अपना आपा और दिनों की अपेक्षा बहुत हल्का लग रहा था और मैं चाह रहा था कि किसी के साथ बैठकर कुछ देर खुलकर हँसूँ। ठकुराइन उस समय शाम को रोटी के लिए चूल्हा जला रही थी। उसकी मैली धोती कन्धे से उतरी हुई थी, बाल उड़े हुए थे और चूल्हे में फूँक मारने की वजह से आँखों में पानी आ रहा था। मुझे देखकर उसने आँखें मिचमिचाते हुए पूछा, “क्यों लाला, चाय बना दूँ?”

“हाँ भाभी, आज खूब गरम चाय की प्याली बनाकर दो।” मैंने कहा, “आज तो चाय के साथ कोई गरम-गरम नमकीन चीज़ भी बनाकर खिला सको, तो खिलाओ। खूब गरम और नमकीन!”

ठकुराइन ने चूल्हे के पास से हटकर आँखें पोंछ लीं और कुछ आश्चर्य के साथ मेरी तरफ़ देखा। उसे शायद समझ नहीं आ रहा था कि यह आदमी, जो हर रोज़ रोटी भी अनमने ढंग से खाता है, ऐसे जैसे कोई बेगार टाल रहा हो, आज अचानक गरम और नमकीन चीज़ की फ़रमाइश कैसे करने लगा। वह पास आकर खड़ी हो गयी, तो मुझे न जाने क्यों उसका शरीर अस्वाभाविक रूप से छोटा लगा, जैसे वह एक छोटी-सी बच्ची हो और आँखें फैलाये हुए अपने सामने कोई कौतुक की चीज़ देख रही हो।

“क्या बात है लाला, आज नमकीन की फ़रमाइश कर रहे हो?” वह बोली, “आज कोई पुरानी दोस्त तो नहीं मिल गयी?”

“तुमने ठीक ही सोचा है भाभी।” मैंने हँसकर कहा, “बड़ी मुद्दत से उसके इन्तज़ार में था।”

“कौन है, हमें नहीं बताओगे? कोई तुम्हारी बम्बई की वाकिफ़ है?”

“नहीं भाभी, जो बात तुम सोचती हो, वह बात नहीं है। मुझे पहली तारीख़ से नौकरी मिल गयी है।”

“सच?” ठकुराइन का चेहरा एकदम खिल गया, “तब तो तुम दुनिया की जो चीज़ कहो, वही चीज़ तुम्हें बना दूँ। कितने की मिली है?”

“एक सौ साठ की।” और मैं हाथ-मुँह धोने के लिए पम्प पर चला गया। पैर धोते हुए मैंने आवाज़ दी, “भाभी, चाय ज़रा जल्दी तैयार कर देना। मैं अभी घूमने के लिए भी जाऊँगा। जब से आया हूँ, एक बार भी कनॉट प्लेस नहीं गया। सोचता हूँ कि आज उधर का चक्कर भी लगा आऊँ।”

गोपाल की माँ हैरान-सी अपने कमरे से निकल आयी कि जो आदमी कभी अपने कमरे में भी ऊँची बात नहीं करता था, वह आज पम्प के पास से कैसे चिल्ला रहा है।

ठकुराइन ने चाय बनाकर दी तो वह काफ़ी गरम थी। पीतल का गिलास रोज़ की तरह मैला था, मगर मैंने रोज़ की तरह चाय को अन्दर उँडेला नहीं, धीरे-धीरे चुस्कियाँ लेकर पीता रहा। ठकुराइन जल्दी से पकौड़े भी बनाना चाहती थी, मगर मैंने उसे मना कर दिया, क्योंकि मुझे अपने अन्दर तुरन्त वहाँ से चल देने की जल्दबाज़ी महसूस हो रही थी। ठकुराइन का चेहरा भी उस समय चूल्हे की रोशनी में रोज़ की तरह मुरझाया हुआ न लगकर काफ़ी सजीव और ताज़ा लग रहा था। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि उसके चेहरे की झुर्रियाँ एकदम हल्की कैसे पड़ गयीं और वह अचानक अपनी उम्र से छोटी कैसे लगने लगी। उसकी गरदन के नीचे जो गड्ढा था, वह भी उस समय आकर्षक लग रहा था। मगर उसकी आँखों में जो भाव था, वह न जाने कैसा था! उससे लगता था जैसे वह मुझसे एक गज के फ़ासले पर न होकर, कई गज़ के फ़ासले पर बैठी हो और इस तरह मुझे देख रही हो जैसे एक बच्चा दूर आकाश में गुम होते हुए गुब्बारे को देखता है।

मैं जल्दी-जल्दी चाय पीकर जब चलने के लिए तैयार हो गया, तब मुझे ध्यान आया कि मेरी जेब में एक भी पैसा नहीं है। इससे सहसा मेरे बाहर जाने के उत्साह पर पानी पड़ गया। ठकुराइन ने जाने कैसे ताड़ लिया कि पैसे की वजह से मैं अपना जाने का इरादा बदल रहा हूँ। उसने अपनी कोठरी की दहलीज़ के पास आकर कहा, “क्यों लाला, जा नहीं रहे हो क्या?”

“सोच रहा हूँ कि आज न ही जाऊँ।” मैंने कहा, “दिन-भर बसों में धक्के खाकर परेशान हुआ हूँ। कुछ देर यहीं बैठकर कोई किताब पढ़ता रहूँ। थोड़ी देर में अरविन्द भी दफ़्तर से आ जाएगा।”

“अभी तो इतनी खुशी में जा रहे थे, और अब कह रहे हो कि बैठकर किताब पढ़ूँगा?” ठकुराइन ने अपना मैला-कुचैला रूमाल निकाल लिया और उसकी गाँठ खोलने लगी, “आज जाकर जो कुछ खाओ-पीओगे, उसका खर्चा मेरे सिर। तुम्हारी नौकरी लगी है, तो भाभी को भी तो कुछ खर्च करना चाहिए। यह लो, मेरे पास कुल ढाई रुपये हैं। पाँच होते, तो आज मैं तुम्हें पाँच ही दे देती।”

मैं क्षण-भर ठकुराइन के चेहरे को देखता रहा। एक बार फिर मेरे दिमाग़ में वही बात घूम गयी कि क्या सचमुच ठकुराइन वही कुछ चाहती है, जो अरविन्द सोचता है कि वह चाहती है? मगर अरविन्द तो उसे दाना डालने की बात किया करता था, और वह थी कि...शायद मुझी को दाना डाल रही थी। मेरा एक बार मन हुआ कि पैसे लेने से मना कर दूँ और खाली जेब वहाँ से चल दूँ, मगर फिर कनॉट प्लेस की बत्तियाँ मेरी आँखों के सामने जगमगा गयीं और मैं मन की उस कमज़ोरी पर काबू न पा सका। मैंने कुछ संकोच के साथ उसके रूमाल से पैसे उठा लिये और कहा, “ऐसे तो मैं नहीं लूँगा, मगर उधार मानकर लेता हूँ। आज मेरी जेब बिल्कुल खाली है। जिस दिन तनखाह मिलेगी, उस दिन ब्याज समेत अदा कर दूँगा।”

“जिस दिन तुम्हें तनखाह मिलेगी, उस दिन मैं तुमसे ढाई रुपल्ली लूँगी?” ठकुराइन रूमाल झाडक़र उसे नेफ़े में खोंसती हुई बोली, “उस दिन तो मैं तुमसे साड़ी लूँगी, साड़ी। कम से कम बीस रुपये वाली। तुम्हारे साथ कनॉट प्लेस जाकर लाऊँगी।”

“हाँ-हाँ, साड़ी छोडक़र तुम जो चाहो ले लेना।” मैंने एकदम निरुत्साह होकर कहा और वहाँ से चल दिया। कोठरी से निकलते समय मुझे ठकुराइन के चेहरे की झाइयाँ फिर बहुत गहरी लगीं और

उसका नेफ़े में खोंसा हुआ मैला रूमाल देर तक मेरी आँखों के सामने फडफ़ड़ाता रहा। मेरा मन यह सोच-सोचकर खीझ रहा था कि जो ढाई रुपये उसने मुझे दिये हैं, वे स्नेह या ममता के कारण नहीं दिये, आनेवाले कल को उनके बदले बीस रुपये वाली साड़ी वसूल करने के लिए दिये हैं। और मैं अपनी खीझ में अपने को समझा रहा था कि मैं ही बेवकूफ़ हूँ, बात दरअसल वही है जो अरविन्द कहता था...।

बम्बई से आने के बाद उस दिन पहली बार मैं कॉफ़ी हाउस में दाखिल हुआ, तो सबसे पहले मेरी नज़र हरबंस पर पड़ी। अन्दर जाते ही दरवाज़े के पास जो पहली मेज़ थी, उसके इर्द-गिर्द सात-आठ व्यक्ति बैठे थे। उन्हीं में वह भी था। बाकी लोगों में तीन लड़कियाँ थीं। मैं हरबंस से आँख बचाकर आगे निकल जाता, मगर वह मुझे देखते ही इस तरह कुरसी से उठ खड़ा हुआ जैसे वह मेरे इन्तज़ार में ही बैठा हो और अपने बायीं तरफ़ बैठी लडक़ी से बोला, “लो, यह रहा वह!”

मगर उस लडक़ी ने उसकी बात की तरफ़ ध्यान नहीं दिया। हरबंस के पास ही एक कुरसी खाली पड़ी थी। उसने हाथ पकडक़र मुझे इस तरह अपने पास बिठा लिया जैसे मेरा वहाँ आना रोज़ की ही बात हो और बरसों से हम लोग उस तरह साथ-साथ बैठते आये हों। सामने की कुरसी पर बैठा हुआ एक नवयुवक उँगलियाँ और अँगूठे हिला-हिलाकर ‘स्टिल लाइफ़’ के बारे में कोई बात कर रहा था। बायीं तरफ़ की कुरसी पर एक और नवयुवक आँखें मूँदे हुए बैठा था। वह न जाने बहुत ध्यान से उसकी बात सुन रहा था या अपनी ही कोई बात सोच रहा था। मुझे दो-एक मिनट बैठकर लगने लगा कि मैं बिल्कुल फ़ालतू आदमी की तरह उनके बीच आ बैठा हूँ। मगर इससे पहले कि मैं वहाँ से उठने की बात सोचता, हरबंस ने बैरे को बुलाकर बिल अदा कर दिया और बिना इसका ज़रा भी लिहाज़ किये कि ‘स्टिल लाइफ़’ की बात अभी बीच में ही है, अचानक कुरसी से उठ खड़ा हुआ।

“आओ, अब चलें।” उसने इस तरह कहा जैसे एक प्रधान किसी सभा को विसर्जित करने की बात कहता है। मगर न तो किसी को इसका बुरा लगा और न किसी ने इसका विरोध किया। हम लोग वहाँ से बाहर निकल आये, तो भी वह नवयुवक ‘स्टिल लाइफ़’ की बात उसी तरह कर रहा था।

बाहर आकर उन नए लोगों से मेरा परिचय हुआ। उनमें एक तो हरबंस की पत्नी नीलिमा ही थी जो अन्दर उसके बायीं तरफ़ बैठी थी। उसके अलावा बाकी दोनों उसकी बहनें थीं, शुक्ला और सरोज। सरोज शक्ल-सूरत से बाकी दोनों बहनों में बिल्कुल अलग थी और मैंने सोचा था कि वह ‘स्टिल लाइफ़’ वाले नवयुवक की बहन होगी। अँगूठे और उँगलियाँ हिलाकर ‘स्टिल लाइफ़’ की बात करनेवाला नवयुवक कलाकार शिवमोहन था जिसके विषय में बाद में मुझे पता चला कि उसके लैंडस्केप्स की उन दिनों बहुत धूम है, हालाँकि रुपये-पैसे के लिहाज़ से उसे बहुत तंगी में से गुज़रना पड़ रहा है। जो नवयुवक आँखें मूँदे हुए चिन्तन कर रहा था, उसके व्यक्तित्व की एक खास बात यह थी कि वह सफेद सलवार के साथ जोगिया रंग का खादी का कुरता पहने था और बात इतनी कम और इस तरह धीमे स्वर में करता था जैसे उसकी ज़बान में कोई तकलीफ़ हो। उसका नाम था जीवन भार्गव। वह भी शिवमोहन की तरह पेंटर था और उन दिनों एब्स्ट्रेक्ट पेटन्र्स के प्रयोग कर रहा था। इन दोनों के अलावा एक और व्यक्ति भी था जिसे नीलिमा और सरोज ‘मामाजी’ कहकर बुला रही थीं, हालाँकि उम्र में वह शिवमोहन और जीवन भार्गव से बड़ा नज़र नहीं आता था। मेरा इन सब लोगों से परिचय हुआ, यह कहना शायद ठीक नहीं, क्योंकि कॉफ़ी हाउस से बाहर आकर भी हरबंस ने किसी के साथ मेरा परिचय कराने की आवश्यकता नहीं समझी। मैं उनके सम्बन्ध में जो कुछ भी जान सका, वह सरसरी बातचीत से ही। कुछ देर बाहर बातें करके शिवमोहन और जीवन भार्गव जब चले गये, तो मैंने भी विदा लेने के लिए अपना हाथ हरबंस की तरफ़ बढ़ा दिया। मगर मेरा हाथ उसने इस तरह अपने हाथ में थाम लिया जैसे उसे जेब

में डाल लेना हो, और कहा, "अरे, तुम कहाँ चल दिये? तुम्हारी वजह से तो मैं इतनी जल्दी अन्दर से उठकर चला आया हूँ। तुम हमारे साथ घर चलोगे, और खाना भी हमारे साथ ही खाओगे। मैं कई दिन से सोच रहा था कि तुम अब बम्बई से आनेवाले होगे। मुझे प्रेम ने बताया था कि तुम बहुत जल्दी बम्बई छोडक़र दिल्ली आने की सोच रहे हो और यहीं-कहीं नौकरी करने का इरादा रखते हो। मेरा तो ख़याल था कि तुम इससे पहले ही आ जाओगे। नवम्बर के शुरू से ही मैं एक तरह से तुम्हारा इन्तज़ार कर रहा था।"

"तुम्हारा अन्दाज़ा ग़लत नहीं था।" मैंने कहा, "मैं नवम्बर के शुरू में ही यहाँ आ गया था।"

"क्या?" वह एकदम जैसे आसमान से गिर पड़ा। मेरे हाथ को उसने और भी कस लिया और कहा, "तुम नवम्बर के शुरू से यहाँ हो और मुझे तुम्हारी सूरत आज नज़र आ रही है?"

मुझे लगा जैसे इतने दिन उससे न मिलकर सचमुच मुझसे एक अपराध हुआ हो। हम लोग सडक़ पार करके 'रीगल' की तरफ़ के फुटपाथ पर चल रहे थे। शुक्ला और सरोज मामाजी से बात करती हुई हमारे पीछे आ रही थीं। नीलिमा पर्स घुमाती हुई हम लोगों के बराबर चल रही थी। हरबंस ने उसकी तरफ़ देखकर कहा, "देखो, यह शख़्स आज महीने भर से यहाँ है, और आज पहली बार इसकी सूरत दिखायी दी है। वह भी अचानक मैंने इसे देख लिया, वरना यह तो शायद आज भी आँख चुराकर निकल जाता। मैंने इसकी कविताओं की जो आलोचना की थी, वह शायद इसे बहुत बुरी लगी है।"

"तो ये वही हैं, तुम्हारे बम्बईवाले दोस्त?" नीलिमा ने कहा। मेरा परिचय हरबंस ने तब तक भी नहीं दिया था।

"तुम्हें अभी तक पता नहीं चला कि यह वही शख़्स है जिसके बारे में मैंने इतने दिनों से कह रखा है कि वह बम्बई से यहाँ आ रहा है?" हरबंस ने इस तरह कहा जैसे पता न चलने में कसूर नीलिमा का ही हो।

“अच्छा?” नीलिमा ने पर्स हिलाना बन्द कर दिया और मेरी तरफ़ देखकर कहा, “हरबंस तो सचमुच बहुत दिनों से कह रहा था कि आप बम्बई से यहाँ आनेवाले हैं। बल्कि हम लोग तो आपके बारे में इसकी बातें सुन-सुनकर बोर हो चुके थे।” और वह उन्मुक्त भाव से हँस दी, “आप अच्छे आदमी हैं कि आपने आकर अपना पता ही नहीं दिया!”

“मुझे आप लोगों का पता मालूम नहीं था,” मैंने अपनी शर्मिन्दगी को किसी तरह छिपाकर कहा। मुझे यह सोचकर खुशी भी हो रही थी कि मुझसे एक ही बार मिलने के बाद हरबंस यहाँ आकर लोगों से मेरे विषय में बात करता रहा है। मैं मन ही मन कट भी रहा था और उत्साहित भी महसूस कर रहा था।

“मैंने बम्बई में अपना कार्ड तुम्हें दिया नहीं था?” हरबंस ने कहा।

“वह कार्ड मुझसे वहीं रह गया था।” मैंने कहा, “मैं यहाँ आकर इतने दिन मिलने की कोशिश इसलिए भी नहीं कर सका कि मैं आते ही एक नौकरी के पीछे लग गया था।”

“किस नौकरी के?”

“यहाँ ‘इरावती’ के कार्यालय में एक जगह थी...।”

“तो वह तुम्हें मिल गयी?”

“हाँ, आज ही उसके सम्पादक ने कहा है कि मैं पहली तारीख से काम पर आ सकता हूँ।”

“तब तो इसकी पार्टी होनी चाहिए। चलो, पहले ‘एल्प्स’ में चलकर कॉफ़ी पिलाओ।” हरबंस ने कहा और मेरा हाथ पकड़े हुए ही रुख़ पीछे की तरफ़ कर लिया। मुझे सोचने या बहाना करने का मौका उसने नहीं दिया।

‘एल्प्स’ में हरबंस, नीलिमा और मैं, हम तीन व्यक्ति हो गये, इसलिए ठकुराइन के दिये हुए ढाई रुपये कम नहीं पड़े और मुझे शर्मिन्दगी नहीं उठानी पड़ी—सिवाय इसके कि रुपये-रुपये के दोनों नोट काफ़ी मैले और मुड़े हुए थे और जब मैंने वे निकालकर बैरे की प्लेट में रखे, तो नीलिमा ने इतना कह दिया, “लगता है आप किसी हलवाई से नोट तुड़ाकर आये हैं।” और मैंने हँसकर बात टाल दी।

बात तो टल गयी, मगर मन में मैं यही सोचता रहा कि अगर शुक्ला, सरोज और मामाजी भी साथ चले आते, तो मुझे कितनी भद्दी स्थिति का सामना करना पड़ता! यह तो गनीमत थी कि नीलिमा ने शुक्ला और सरोज से घर चलकर खाना तैयार कराने के लिए कह दिया और वे दोनों क्योंकि उस समय मामाजी से अलग नहीं होना चाहती थीं, इसलिए मामाजी को भी उनके साथ चले जाना पड़ा, वरना मैं उस समय कितनी मुश्किल में पड़ जाता! जब हम लोग ‘एल्प्स’ से बाहर आये, तो हवा में खुनकी काफ़ी बढ़ गयी थी। बाहर आते ही मैं एक बार सरदी से काँप गया।

“आपने तो कोट या पुलोवर कुछ भी नहीं पहन रखा,” नीलिमा ने कहा। “लौटते हुए आपको ठंड नहीं लगेगी?”

“नहीं, मुझे ठंड नहीं लगती,” मैंने कहा, और एक बार फिर काँप गया।

“जाते हुए इसे मेरा कोट दे देना,” हरबंस ने कहा।

“तुम्हारा कोट!” नीलिमा बोली। वह इन्हें घुटनों तक आएगा।” और वह न जाने क्या सोचकर अपने आप हँस दी।

मैंने किसी लड़की को उस तरह खुलकर हँसते नहीं देखा था जिस तरह नीलिमा हँसती थी। किसी ज़माने में मैं खुद अपने ठहाकों के लिए बहुत बदनाम रहा हूँ। कई बार मैं इतने ज़ोर का ठहाका लगाता था कि आसपास बैठे हुए लोग एकदम चौंक जाते थे। बम्बई में कई बार कॉफ़ी हाउस के बैरे मैनेजर की चिट ले आया करते थे जिस पर लिखा होता था, 'प्लीज़!' फिर भी न जाने क्यों हँसते वक़्त मुझे यह याद नहीं रहता था कि आदमी की हँसी में भी एक सभ्यता होनी चाहिए और आदमी को गला रोककर हँसना चाहिए। उससे पहले अमृतसर के जिस घर में हम रहते थे, उसके आस-पास के घरों से कुछ बच्चे मुझे चिढ़ाने के लिए मेरे ठहाके की नक़ल किया करते थे। मुझे खुद बुरा लगता था, मगर जाने कैसी बेबसी थी कि मैं बिना ठहाका लगाये हँस ही नहीं पाता था। मुझे सभ्यता के तकाज़े की बात तभी याद आती थी जबकि आसपास का वातावरण एक बार मेरे ठहाके से चौंक जाता।

नीलिमा की हँसी के सम्बन्ध में मैं इतना ही कह सकता हूँ कि वह लड़कियों की तरह न हँसकर लड़कों की तरह हँसती थी। हँसते समय उसका मुँह पूरा खुल जाता था और वह अपनी गरदन को थोड़ा पीछे को झटका लेती थी। उसकी आवाज़ काफ़ी बारीक थी, मगर हँसने में उसकी आवाज़ भी कुछ भारी हो जाती थी और उसके छोटे-छोटे दाँत पूरे बाहर दिखायी दे जाते थे। उसकी हँसी में ही नहीं, बातचीत और चलने के ढंग में एक उन्मुक्तता थी जो उस व्यक्ति को काफ़ी चौंका सकती थी जिसका उससे नया-नया ही परिचय हुआ हो। वह हर समय इतनी अस्थिर रहती थी कि लगता था जैसे उसके शरीर में एक बिजली-सी कौंधती रहती हो। जब वह मुँह से बात नहीं करती थी, तब भी उसकी आँखें और भौंहें कुछ न कुछ बात करती प्रतीत होती थीं।

उनके यहाँ जाकर मुझे पता चला कि वे लोग नीलिमा की माँ के घर में रहते हैं। हरबंस की माँ और बहन-भाई भी दिल्ली में ही थे, मगर वे लोग करोल बाग की तरफ़ मॉडल बस्ती में रहते थे। नीलिमा की माँ का घर वहाँ पास ही हनुमान रोड पर था और हरबंस को दूर से आने-जाने में शायद असुविधा महसूस होती थी इसलिए वह और नीलिमा वहीं रहते थे। नीलिमा, सरोज और शुक्ला के अलावा उनकी एक चौथी बहन और थी, सरिता, जो उस समय नौ-दस वर्ष की थी। वे बस चार बहनें ही थीं, भाई कोई नहीं था। नीलिमा के अलावा तीनों बहनें कुँआरी थीं, इसलिए उस घर में हरबंस की स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण थी। नीलिमा के पिता पक्षाघात से पीड़ित थे और हर समय एक अलग कमरे में कुरसी या पलँग पर पड़े रहते थे जिससे घर में आने-जानेवाले लोगों को उनकी उपस्थिति का पता भी नहीं चलता था। मुझे भी कई दिनों के बाद पता चला कि नीलिमा के पिता जीवित हैं और घर में ही रहते हैं। वैसे हर दृष्टि से घर का प्रमुख व्यक्ति हरबंस ही था। उस घर में आकर जब तक नीलिमा की माँ से परिचय नहीं हुआ तब तक मैं यही सोचता रहा कि वह घर हरबंस का है और सरोज, शुक्ला और सरिता उसी के घर में उसके साथ रहती हैं।

खाना बहुत अच्छा बना था। खाने के बाद काफ़ी देर तक हम लोग बाहर के कमरे में, जो वास्तव में कमरा न होकर ढका हुआ बरामदा ही था, बैठकर बातें करते रहे। वह बरामदा ही उनके यहाँ बैठक और खाना खाने के कमरे के तौर पर इस्तेमाल होता था। वहाँ की सजावट बहुत सादा मगर काफ़ी सुरुचिपूर्ण थी। दीवारों पर कुछ जगह एब्स्ट्रेक्ट आकृतियों में कटी हुई पतली-पतली टहनियाँ लगी थीं। सामने की दीवार के साथ गौतम बुद्ध की पत्थर की मूर्ति रखी थी जिसके सिर के पीछे दीवार पर एक छोटा-सा रंगीन मोढ़ा लगा था। यही एक चीज़ वहाँ अखरती थी। फ़र्श के कालीन और बैठने की कुरसियों की व्यवस्था काफ़ी अच्छे ढंग की थी और पर्दों के साथ दूसरी चीज़ों के रंगों का मिलान काफ़ी सूझ-बूझ से किया गया था। कमरे की एक विशेषता यह भी थी कि जब मैं कमरे में दाख़िल हुआ, तो मुझे वहाँ उस बेगानेपन का अनुभव नहीं हुआ जो बहुत बार एक नए घर में

जाकर होता है। उस जगह की अपनी ही एक आत्मीयता थी। कुछ व्यक्तियों की तरह कुछ जगहों में भी क्या ऐसी विशेषता नहीं होती कि वे पहले परिचय में ही बहुत परिचित और बहुत आत्मीय लगने लगें?

नीलिमा की बीजी और तीनों बहनें खाना खाने के बाद तुरन्त ही अन्दर के कमरे में चली गयी थीं और उनके मामाजी भी दो-एक बार जम्हाइयाँ लेकर उठ गये थे। बीजी जितनी देर बैठी रही थीं, उन्होंने बहुत कम बात की थी। वे बहुत छोटे-छोटे वाक्य बोलती थीं और जब तक मतलब न हो, तब तक कोई बात नहीं करती थीं। उन्होंने ज़्यादातर बातें प्लेटें रखने, डूँगे उठाने और मेज़ साफ़ करने के बारे में ही की थीं। उनके चेहरे से मुझे यह भी लगा था कि उन्हें नए लोगों से मिलना-जुलना पसन्द नहीं है। उन्हें जैसे ज़िन्दगी में जितना कुछ देखना था, वे देख चुकी थीं और अब उन्हें और किसी नए अनुभव की अपेक्षा नहीं थी। उनकी खामोशी से मुझे लगा जैसे हर नया व्यक्ति उनके लिए एक ऐसे अजनबी की तरह है जो आधी रात को आराम से सोये हुए एक आदमी का दरवाज़ा खटखटाकर उसकी नींद में खलल डाल देता है। वे जैसे न तो अपने इर्द-गिर्द खिंचे हुए दायरे से बाहर कदम रखे। मुझे उनका भाव एक जीवन से सन्तुष्ट व्यक्ति का भाव नहीं लगा, एक ऐसे व्यक्ति का भाव लगा जो अपने असन्तोष में ही सन्तुष्ट रहना चाहता है। नीलिमा की तीन बहनों में से एक ऐसी थी जिसका अपना अलग व्यक्तित्व था। वह थी शुक्ला—सरोज से छोटी और सरिता से बड़ी। मैंने उसे पहली बार देखा था, तो मेरी आँखें उसके चेहरे से फिसलकर किसी और की तरफ़ मुड़ गयी थीं। और यह अनुभव मुझे पहली बार ही नहीं, उसके बाद भी कई बार हुआ। कह नहीं सकता कि उसके चेहरे में ऐसा क्या था कि आँखें अनायास ही उसकी ओर खिंच जाती थीं, मगर वहाँ टिकी नहीं रहती थीं। क्या यह उसके आकर्षण के कारण ही था? मगर शायद कारण उसके आकर्षण के अतिरिक्त कुछ और भी था—एक सहज आत्मविश्वास और दुनिया-भर के प्रति अवहेलना का भाव; अपने आकर्षण की एक सहज अनुभूति और उसमें मिली-जुली एक मासूमियत; जैसे उसे इसका तो बहुत गहरा अहसास हो कि वह युवा है, परन्तु इसका ज़रा भी अहसास न हो कि यौवन का अर्थ क्या है। उसके चेहरे का कुछ खोजता हुआ-सा भाव उसे और भी सुन्दर बना देता था। किसी-किसी समय उसकी आँखों से लगता था जैसे वह अपने से बाहर कम और अपने अन्दर ही ज़्यादा देखती हो। अपने चुस्त पंजाबी लिबास में वह बहुत बार जैसे अपने को अपनी नज़र से न देखकर दूसरों की नज़र से देखने लगती थी। कहीं ज़रा-सी भी शिकन या सलवट देखते ही उसकी आँखें बेचैन हो उठती थीं। उसने हमारे साथ बैठकर खाना भी इस तरह खाया जैसे हम लोगों पर एक तरह का अहसान कर रही हो और खाना खाते ही सबसे पहले उठकर अन्दर चली गयी।

कमरे में गौतम बुद्ध के बस्ट से थोड़ा हटकर एक तरफ़ ईज़ेल पर एक कैनवस लगा था और पास ही फ़र्श पर कुछ कूचियाँ और रंग बिखरे थे। "तुम खुद भी पेंट करते हो क्या?" मैंने हरबंस से पूछा, "तुमने बम्बई में तो नहीं बताया था।"

"यह कैनवस मेरा नहीं है," हरबंस बोला, "नीलिमा का है।"

"इनका है?" और मैं उठकर, कैनवस के पास चला गया, "आप कब से पेंट कर रही हैं?" मैंने वहाँ से लौटकर बैठते हुए नीलिमा से पूछा।

"मैं पेंट नहीं, सिर करती हूँ!" नीलिमा ने जिस स्वर में यह कहा उसमें दिखावटीपन नहीं था, "यह मेरे पीछे पड़ा रहता है कि मैं पेंट करूँ, इसलिए मैं पेंट करती हूँ वरना मुझे न तो कुछ आता-जाता है और न ही इसमें रुचि ही है। हाँ, अब तक इतना पता चल गया है कि किस तरह के स्ट्रोक्स के लिए कौन-सा ब्रश इस्तेमाल करना चाहिए। और देखो, तुम हरबंस को तो 'तुम' कहते हो, और मुझे 'आप', यह कौन-सा तरीका है?"

उसका हरबंस के लिए एकवचन का प्रयोग मुझे स्वाभाविक नहीं लग रहा था। उससे पहले मैंने

किसी स्त्री को अपने पति को इस तरह बुलाते नहीं सुना था। स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध में 'वे' और 'आप' की विनम्रता या दूरी ही मुझे स्वाभाविक लगती थी। मगर उसकी बात पर मैंने चुपचाप सहमति प्रकट कर दी, "ठीक है, मैं आगे से यह शिष्टाचार नहीं बरतूँगा।"

"इसकी एक पेंटिंग को अभी-अभी बम्बई में हुई प्रदर्शनी में विशेष पुरस्कार मिला है," हरबंस ने इस तरह कहा जैसे उस बात का सूत्र वह छोड़ना न चाहता हो।

"पुरस्कार मिलने से क्या होता है?" नीलिमा बोली, "मैं जानती हूँ कि मैं पेंट नहीं कर सकती।"

"मगर आप अपनी दो-एक पेंटिंग्स दिखाएँ तो सही," मैंने कहा। मन में यह भी सोचा कि अगर मुझे उसकी पेंटिंग पसन्द नहीं आएँगी, तो यह बात मैं उससे किस तरह कहूँगा!

"देखो भई, मैं कह चुकी हूँ कि मुझे यह आप-आप सुनना अच्छा नहीं लगता।" वह बोली, "बाकी दिखाने को कुछ होता,तो मैं ज़रूर दिखा देती।"

"मगर आप..."

"आप नहीं, तुम!"

"अच्छा, तुम अपनी एकाध पेंटिंग दिखा तो दो।"

"मेरे पास सचमुच ऐसी एक भी पेंटिंग नहीं है जो मैं किसी को दिखा सकूँ।" नीलिमा जैसे अपने अन्दर की हताशा से थकी हुई कुरसी की पीठ से टेक लगाकर बोली, "एक ही पेंटिंग है जिसे लोगों को इसलिए दिखा सकती हूँ कि उस पर पुरस्कार मिल गया है। मगर वह अभी बम्बई में है। यहाँ आ जाएगी, तो तुम्हें ज़रूर दिखाऊँगी।"

"यह केवल नम्रता ही है, या...?"

"नम्रता नहीं खाक!" वह बोली, "मुझे इस तरह की झूठी नम्रता बरतना आता ही नहीं। इसी बात पर तो हरबंस मेरे ऊपर कुढ़ता रहता है।"

हरबंस अचानक काफ़ी गम्भीर हो गया था। मुझे यह समझ नहीं आ रहा था कि जिस विषय पर बात करते हुए उसे काफ़ी उत्साहित हो उठना चाहिए था, उसकी चर्चा होने पर उसका चेहरा इस तरह मुरझा क्यों गया है। वह उस समय जैसे उस कमरे के वातावरण से हटकर कहीं और पहुँच गया था और वहाँ से वापस लौटने में उसे असुविधा हो रही थी।

"अच्छा आज न सही, फिर किसी दिन सही।" मैंने वहाँ से उठने की भूमिका बाँधते हुए कहा, "आज वैसे भी काफ़ी देर हो गयी है।"

"हाँ, फिर किसी दिन आओगे, तो जो कुछ बनाया है सब दिखा दूँगी।" नीलिमा बोली, "तुम्हें खुद पता चल जाएगा कि जो बात मैं कहती हूँ वह ठीक है या नहीं। मगर 'हबी' ने मन में यह तय कर लिया है कि मैं पेंटर बनूँ, इसलिए जैसे भी बनेगा, मुझे इसकी बात तो रखनी ही होगी।"

मैंने उठने की तैयारी में अपने हाथों को उलझा लिया और 'हबी' की तरफ़ देखा। 'हबी' जाने हसबैंड का छोटा रूप था या हरबंस का! उसके चेहरे पर लम्बी-लम्बी लकीरें खिंच गयी थीं। मैंने अपनी उँगलियों को चटखाया और कुरसी से उठ खड़ा हुआ।

"अच्छा, अब मैं चलूँगा।" मैंने कहा, "आज की शाम आप लोगों के साथ बहुत अच्छी बीत गयी। जब से दिल्ली आया हूँ, आज पहली बार महसूस हुआ है कि हाँ दिल्ली में ही हूँ।"

"कुछ देर और नहीं बैठोगे?" नीलिमा ने पूछा।

"तुम्हें इतनी सरदी में लौटकर घर आना हो, तो तुम्हें पता चले कि कुछ देर और बैठने का क्या मतलब होता है।" हरबंस बिना कारण ही झुँझला उठा, "यही क्या कम है कि उस भले आदमी ने इतना वक़्त हम लोगों के साथ बिता दिया है?" मुझे समझ नहीं आया कि मेरे उतनी देर वहाँ वक़्त बिताने से उसे सुख मिला, या दु:ख हुआ है। कम से कम इतना ज़रूर था कि मैं ठीक वक़्त पर ही वहाँ से उठ खड़ा हुआ था।

हम लोग गेट से निकलकर सडक़ पर आ गये, तो नीलिमा ने कहा, "अब तो सोचना चाहिए कि तुमसे भेंट हुआ ही करेगी, क्यों?"

"हा-हा!" हरबंस ने मुँह चिढ़ाने की तरह कहा, "जैसे तुम्हारी तरह और सब लोगों को भी रोज़-रोज़ कॉफ़ी हाउस में आने के सिवा कोई काम नहीं है।"

"इसी तरह फिर किसी दिन भेंट हो जाएगी।" मैंने उस स्थिति से बचने के लिए कहा और उनके पास से चल दिया। अभी कुछ ही कदम चला था कि पीछे से हरबंस ने कहा, "सुनो, मेरा पुलोवर लेते जाओ। इस समय बहुत ठंड हो गयी है।"

"मुझे ठंड नहीं लग रही," मैंने कहा और हाथ हिलाकर चला आया।

पत्रिका के कार्यालय में हम चार सहायक सम्पादक थे। एक ही बड़े से कमरे में पार्टीशन के एक तरफ़ प्रधान सम्पादक बाल भास्कर बैठता था और दूसरी तरफ़ हम चार सहायक सम्पादक बैठते थे। हम चारों में भी एक प्रधान था जिसे वहाँ काम करते चार साल हो चुके थे। एक ही लम्बी डेस्क के साथ चार कुरसियों पर हम लोग बैठते थे। छोटे प्रधान की कुरसी डेस्क के सिरे पर खिडक़ी के पास थी और हम तीनों की कुरसियाँ उसके बाद वेतन के क्रम से लगी थीं। छोटे प्रधान उर्फ बड़े सहायक सुरेश का वेतन दो सौ रुपये था। उसके बाद लक्ष्मीनारायण था जिसे पौने दो सौ मिलते थे। तीसरे नम्बर पर मेरी एक सौ साठ वाली कुरसी थी और चौथे नम्बर पर डेढ़ सौ वाली कुरसी पर मनोहर बत्रा बैठता था। छोटा प्रधान सबसे ज़्यादा काम करता था, क्योंकि प्रूफ़ देखने के अलावा उसे हम सब पर नज़र भी रखनी होती थी और जब सम्पादक के कमरे में घंटी बजती, तो उठकर आदेश लेने के लिए भी उसी को जाना होता था। वह दुबला-पतला हड्डियों के ढाँचे जैसा आदमी था, जिसे देखकर यह अन्देशा होता था कि बार-बार उठने-बैठने में उसकी टाँगें न चटक जाएँ। सम्पादक को हममें से किसी से भी बात करनी होती, तो पहले उसी की बुलाहट होती थी और वह वापस आकर कारखाने के फ़ोरमैन की तरह हमें आदेश देता था, "नम्बर तीन, उधर जाओ। साहब याद कर रहे हैं।" एक बार बत्रा ने उससे कह दिया कि वह साहब के लिए चपरासी का काम क्यों करता है, तो वह सप्ताह-भर बत्रा से अपने प्रूफ़ दिखाता रहा था।

"यह मेरा रुतबा है।" उसने बत्रा को डाँटकर कहा था, "मैं यहाँ पर सम्पादक का प्रधान सहायक हूँ। मैं चाहूँ, तो तुम्हें नौकरी से अलग भी करा सकता हूँ...।"

हम जानते थे कि वह किसी को नौकरी से अलग करा सकते हों, या नहीं, वह अपनी नौकरी की सलामती साहब को खुश रखने में ही समझता है। दफ़्तर में एक बूढ़ा चपरासी था जिसे साहब जवाब देना चाहता था। मगर वह उसके पिता के वक़्त से काम करता रहा था और उसके पिता का चहेता चपरासी था, इसलिए वह उसे नोटिस देकर नौकरी से अलग नहीं करना चाहता था; चाहता था कि वह खुद ही किसी तरह नौकरी छोडक़र चला जाए। इसलिए साहब घंटी बजाकर सुरेश को बुलाता और उससे कहता कि वह नीचे जाकर देख आये कि सीताराम क्या कर रहा है।

“बीड़ी पी रहा है।” सुरेश नीचे से आकर उसे रिपोर्ट देता, “यह आदमी बिल्कुल हराम की तनखाह लेता है। सारा दिन कुछ काम नहीं करता।”

“जाकर उससे कह दो कि वह बीड़ी पीना छोड़ दे। दफ़्तर के वक़्त में उसे बीड़ी पीने की इजाज़त नहीं है।”

सुरेश फिर नीचे जाता और लौट आता।

“उसने बीड़ी फेंक दी है?” साहब पूछता।

“जी हाँ, फेंक दी है।”

“तो जाओ, तुम काम करो। अगले महीने की पूरी डमी मुझे शाम तक मिल जानी चाहिए।”

सुरेश साहब के केबिन से निकलकर आता, तो फिर उसी फ़ोरनमैन की-सी मुद्रा में हमसे कहता, “आज शाम तक अगले महीने की डमी तैयार हो जानी चाहिए। साहब शाम को डमी देखना चाहता है।”

“साहब शाम को डमी देखकर क्या करेगा?” बत्रा धीरे-से कहता, “सारा मैटर तो उसी का दिया हुआ है।”

“यह मैं नहीं जानता।” फ़ोरमैन गरदन ताने हुए अपनी कुरसी पर जा बैठता, “साहब डमी देखना चाहता है, इसलिए शाम तक डमी तैयार हो जानी चाहिए।”

“डमी के लिए पूरी तसवीरें नहीं हैं।” हममें से कोई कह देता।

“पूरी तसवीरों की कोई ज़रूरत नहीं है।” फ़ोरमैन खिडक़ी से आती हुई हवा को रोकने के लिए खिडक़ी के किवाड़ बन्द कर देता जिससे बैठने की वह तंग गैलरी एक अँधेरी गली का रूप ले लेती, “बगैर तसवीरों के भी डमी तैयार हो सकती है।”

"वैसे तो डमी बगैर मैटर के भी तैयार हो सकती है," लक्ष्मी धीरे-से कह देता।

"मैं ये सब बातें नहीं सुनना चाहता। अगर तुम लोग काम नहीं करना चाहते तो मुझे साहब के पास जाकर रिपोर्ट करनी पड़ेगी।"

इतने में अन्दर फिर घंटी बज उठती और सुरेश उठकर अन्दर चला जाता। वहाँ उसे आदेश मिलता, नीचे जाकर एक बार फिर देख आओ कि सीताराम क्या कर रहा है।

सुरेश नीचे जाता और लौटकर कहता, "एक किताब पढ़ रहा है।"

"किताब पढ़ रहा है?"

"हाँ, कुरसी पर बैठा किताब पढ़ रहा है, जैसे बड़ा साहब वही हो।"

"तुम जाकर उसके हाथ से किताब ले लो, और उससे कहो कि कुरसी उठाकर ऊपर रख जाए। उसे किताब पढने या कुरसी पर बैठने की इजाज़त नहीं है। उसे खड़े होकर ड्यूटी देनी चाहिए।"

सुरेश केबिन से निकलता और हाथ मलता हुआ फिर नीचे चला जाता।

वापस आकर वह फिर साहब के कमरे में जाता, तो साहब उससे पूछता, "अब वह क्या कर रहा?"

"खड़ा है।"

इसके आगे साहब का वश चलता, तो वह सुरेश को उसकी कुरसी पर वापस भेज देता।

लंच के समय सुरेश को यह आदेश होता था कि वह अपना खाना लेकर साहब के कमरे में आ जाए। वहाँ उस समय साहब उसके साथ पॉलिसी मैटर्स डिस्कस करता था। हम लोग उस समय नीचे चाय की दुकान में चले जाते थे। लक्ष्मीनारायण घर से अपना खाना लेकर आता था और बत्रा और मैं वहीं से कुछ खाने को ले लेते थे, क्योंकि खाना हम खाकर आते थे। लक्ष्मी किसी ज़माने में नारायणस्वामी के नाम से कहानियाँ भी लिखा करता था। अब उसका लिखना-लिखाना छूट गया था और वह अपनी घर-गृहस्थी की चिन्ताओं से ही परेशान रहता था। "तुम देखो, यह आदमी कैंसर से मरेगा," वह खाना खाते हुए कहता।

"कौन?"

"यह बी.बी. लाल भास्कर, प्रधान सम्पादक।"

"क्यों?"

"यह जिस तरह सबको तंग करता है, उससे मुझे यही लगता है कि इसके पेट में कैंसर है।"

हम दोनों हँस देते, मगर लक्ष्मी गम्भीर बना रहता।

"बेचारे का इस तरह रोग से छुटकारा हो जाए, यही अच्छा है," वह कहता।

"कैंसर बहुत बुरी बीमारी है।"

"उसे तो रोग से छुटकारा मिल जाएगा, मगर तुम्हें क्या मिलेगा?" मैं पूछता।

"मैं इसकी जगह प्रधान सम्पादक हो जाऊँगा। तुम्हारा क्या खयाल है, इसके मरने के बाद वह घोंचू प्रधान सम्पादक बनेगा?"

"इसके मरने के बाद इसका लडक़ा प्रधान सम्पादक होगा।" बत्रा कहता, "वह अब दसवीं में है, तब तक बी.ए. पास कर जाएगा। एक दिन वह कह भी रहा था कि उसके पिताजी कहते हैं कि जब वह बी.ए. पास कर जाएगा, तो दस दिन में उसे पत्रिका का सारा काम सिखा देंगे। ससुरे के घर की पत्रिका है, इसका प्रधान सम्पादक कोई बाहर का आदमी थोड़े ही हो सकता है!"

"तब तो इसके पेट में कैंसर बना ही रहे, तो अच्छा है।" लक्ष्मी उँगलियाँ चाटता हुआ कहता।

"क्यों?"

"मुझे इसका लडक़ा बिल्कुल ही पसन्द नहीं है। वह तो इससे भी ज़्यादा नाक में बोलता है।"

लंच का वक़्त ही ऐसा था जो कुछ ठीक से कट जाता था, वरना दफ़्तर में बैठने के सात घंटे हमें यूँ लगता था जैसे हमें एक ब्लैक होल में बन्द कर दिया गया हो और हमें वहाँ ज़बान हिलाने की भी इज़ाजत न हो। जिस नौकरी को पाने के लिए मैं पहले इतना बेचैन था उसे पाकर अब एक और ही तरह की बेचैनी बनी रहती थी। जब सम्पादक के कमरे की घंटी बजती और सुरेश उधर चला जाता तो हम लोग आँखों ही आँखों में आपस में कुछ बात कर लेते थे। हमें वहाँ बैठे हुए ज़िन्दगी में आगे-पीछे अँधेरा ही अँधेरा नज़र आता था। खिडक़ी बन्द होने पर गैलरी में एक ऐसी घुटन छा जाती थी कि सरदी के दिनों में भी मुझे वहाँ उमस प्रतीत होने लगती थी।

दफ़्तर से निकलकर बस-स्टैंड तक मैं और बत्रा साथ-साथ आते थे। बत्रा देखने में हल्का-फुल्का आदमी था और प्राय: बहुत बढिय़ा सिले हुए कपड़े पहनता था। दिन-भर तो हम इन्तज़ार करते थे। कब पाँच बजें और दफ़्तर से निकलें, मगर पाँच बजे जब हम बाहर निकलते, तो हमारे चेहरे पर गहरी मुर्दनी छायी होती। बत्रा अपने चौड़े माथे पर बल डालकर कहता, "मेरा बस हो, तो मैं एक दिन भी यहाँ नौकरी न करूँ। यह नौकरी तो अन्दर ही अन्दर मेरी जान पी रही है। और यहाँ दस साल भी नौकरी करके क्या होगा? एक सौ साठ के एक सौ पचहत्तर हो जाएँगे; बस!"

"अच्छी नौकरी के लिए कहीं अच्छी वाक़फ़ियत भी तो होनी चाहिए," मैं कहता।

"उससे क्या होता है?" वह कहता, "मेरी इतने लोगों से वाक़फ़ियत है, मगर कोई मेरे लिए कुछ करता है? अच्छी नौकरी के लिए अच्छी तिकड़म आनी चाहिए, या एक अच्छे बाप के घर पैदा होना चाहिए।"

"मतलब बी.बी. के?"

हम एक ठहाका लगाकर हँस देते। बत्रा चलते-चलते कहता, "सच कहता हूँ तुम्हारी वजह से ही मैं यहाँ नौकरी कर रहा हूँ। तुम न होते, तो मैं किसी भी दिन यह नौकरी छोडक़र चला जाता।"

मैं भी ऐसे ही शब्दों में अपनी भावना प्रकट कर देता और हम लोग हाथ मिलाकर अपनी-अपनी बस के क्यू में जा खड़े होते।

रोज़ हम उसी तरह मिलते थे और हर दूसरे-तीसरे दिन मैं उनके यहाँ से होता हुआ घर वापस आता था। थोड़े ही दिनों में यह क्रम इतना स्वाभाविक हो गया था कि जिस दिन मैं कॉफ़ी-हाउस न जा पाता, या उन लोगों से वहाँ भेंट न होती, उस दिन मुझे लगता कि दिन का एक महत्त्वपूर्ण काम पूरा नहीं हुआ। यह एक विचित्र बात थी कि सुरजीत कॉफ़ी-हाउस में तो उन लोगों के साथ नहीं बैठता था, मगर उनके घर पर उससे गाहे-बगाहे भेंट हो जाती थी। वह वहाँ भी बहुत व्यस्तता प्रकट करता हुआ आता था, कुछ इस अन्दाज़ से जैसे कि वह उसके लिए बहुत पराया घर हो, और बहुत जल्दी ही वहाँ से लौट जाता था। मुझसे वह बाहर अब उतना खुलकर भी नहीं मिलता था जैसे

पहले मिला करता था। मुझसे वह हरबंस और नीलिमा वगैरह के बारे में बात करता था, तो इस तरह जैसे उनसे उसका बहुत ही कम परिचय हो। वह बल्कि कुछ इस तरह बात करता था जैसे उन लोगों के साथ अपने परिचय को वह ज़रा भी महत्त्व न देता हो। मगर मैं जब भी उसे उनके यहाँ देखता, वह हाथ में कोई न कोई चीज़ लिये रहता था और इस तरह उसे वहाँ छोडक़र चला जाता था जैसे वह उतने-भर के लिए ही वहाँ आया हो।

“बीजी, यह बारह औंस ऊन है।” वह नीलिमा की माँ से कहता, “और चाहिए, तो और बता दीजिएगा, मैं ला दूँगा। शुक्ला और सरोज ने कहा था कि उन्हें छ:-छ: औंस ऊन मोज़ों के लिए चाहिए। मैंने कहा था कि आर्मी के स्टोर से सस्ती मिल जाएगी, मैं ला दूँगा। जितनी और चाहिए, बता दीजिएगा। एक मेजर अपना अच्छा वाकिफ़ है। अच्छा, मैं चल रहा हूँ...”

और वह चला जाता।

जीवन भार्गव उन दिनों बहुत उखड़ा-उखड़ा और उदास रहता था। वह कॉफ़ी-हाउस में बैठा जिस तरह खोयी-खोयी नज़र से शुक्ला की तरफ़ देखता रहता, उससे शुक्ला को शायद अच्छा नहीं लगता था। वह कई बार जान-बूझकर उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करती थी, और जब वह धीमे स्वर में उससे कोई बात कहने लगता तो बीच में ही किसी और से बात करने लगती थी। कभी हम कॉफ़ी-हाउस से निकलकर कनॉट प्लेस में चक्कर लगाते, तो वह जान-बूझकर यह चेष्टा करती कि उसे भार्गव के साथ न चलना पड़े और मुझे या शिवमोहन को रोककर कहती, “तुम मेरे साथ आओ, मुझे उस दुकान से एक चीज़ खरीदनी है; इन लोगों को आगे जाने दो।”

भार्गव ऐसे अवसरों पर यूँ महसूस करता जैसे हम लोग शुक्ला के साथ पीछे रुककर उसके साथ दुश्मनी कर रहे हों, और सिर झुकाए चुपचाप चलता जाता। कई बार उसे यह ध्यान भी नहीं रहता कि उसके साथ के और लोग कहाँ हैं और वह सबसे अलग होकर अकेला ही चलता जाता। उसके इस तरह खो जाने पर नीलिमा उसका उद्धार करती और उसे भीड़ में से ढूँढक़र उसके कन्धे को थपथपाती हुई कहती, “तुम्हें क्या हुआ है, भार्गव? तुम अफ़ीम तो नहीं खाने लगे?”

भार्गव चौंक जाता और कानों तक लाल होकर कहता, “नहीं, मैं कुछ सोच रहा था।”

“सोचने के लिए क्या यही जगह है?” नीलिमा कहती, “तुम सारी शाम में एक बार भी खुलकर हँस नहीं सकते? तुम कैसे आदमी हो!”

इतने में हम लोग पास पहुँच जाते और शुक्ला भार्गव को सुनाकर कहती, “दीदी, देखो यह कितना सुन्दर रिबन है! यह मुझे शिवमोहन ने लेकर दिया है।”

भार्गव उसके हाथ की चीज़ पर नज़र तक नहीं डालता और फिर सीधा चल पड़ता। नीलिमा हँसकर कहती, “बेचारा भार्गव! यह लडक़ी जान-बूझकर उसे तंग करती है।”

“क्यों? मैं उसे कैसे तंग करती हूँ?” शुक्ला इस तरह कहती जैसे उसे इस बात में कोई तुक ही नज़र न आती हो, “मुझे किसी को तंग करने से क्या मलतब है?”

“तुझे नहीं, तो और किसे मतलब है? वह बेचारा तेरी ज़रा-ज़रा-सी बात से इतना दुखी हो जाता है।”

“किसी को दुखी होने की आदत ही हो, तो मैं क्या कर सकती हूँ?” कहकर शुक्ला भी अलग हटकर चलने लगती और कुछ देर के लिए सब पर एक खामोशी छायी रहती।

“शुक्ला की यह बात मेरी समझ में नहीं आती।” नीलिमा ने एक बार मुझसे कहा, “या तो उसे साफ़ जवाब ही दे दे कि मुझे तुमसे ब्याह नहीं करना है, या उससे ठीक से बात किया करे। वह

बेचारा इतना सेंसिटिव है कि इसकी ज़रा-ज़रा-सी बात से उसकी आँखें भर आती हैं। कई दिनों से वह कुछ पेंट भी नहीं कर रहा। उसका एब्स्ट्रैक्ट आजकल इस लडक़ी की चिन्ता में ही घुला जा रहा है।”

“मगर इन दोनों की तो सगाई हो चुकी है न...?” मैंने कहा।

“सगाई-अगाई नहीं हुई, वैसे ही एक अंडरस्टैंडिंग-सी है। भार्गव ने एक बार मुझसे कहा था और मैंने शुक्ला से पूछ दिया था। तब इसने हामी भर दी थी। उन दिनों हरबंस भार्गव से अच्छी तरह बोला करता था। मगर जब से हरबंस उससे चिढऩे लगा है, तब से शुक्ला का रुख भी बदल गया है। बात दरअसल यह है...,” वह पल-भर के लिए रुकी और कुछ सोचती हुई-सी बोली, “बात दरअसल यह है कि शुक्ला हरबंस की बात को बहुत मानती है। हरबंस ने भी इसे अपने लाड़ से बहुत सिर पर चढ़ा रखा है और यह अपने सामने किसी को कुछ समझती ही नहीं। मैं हरबंस से कहती हूँ कि तुम इस तरह इस लडक़ी की ज़िन्दगी ख़राब कर रहे हो, तो वह उलटा मुझी को डाँटने लगता है। यह लडक़ी जिससे भी ब्याह करेगी, हरबंस की मरज़ी से ही करेगी। बल्कि अगर वह इससे कह दे कि तुझे ज़िन्दगी-भर क्वारी रहना चाहिए, तो यह क्वारी ही बैठी रहेगी।”

मुझे इससे सुरजीत की कही हुई बात याद हो आयी। उसने भी एक बार कुछ ऐसी बात कही थी। “मुझे लगता है,” उसने कहा था, “कि इस लडक़ी को अपने बहनोई का फ़िक्सेशन है। हर लिहाज़ से यह उसी को अपना आइडियल मानती है। वह कल को अगर कबूतरों से प्यार करने लगे, तो यह लडक़ी घर में कबूतर पालने लगेगी।”

“हमारे जाननेवाले लोगों में तो इस बात की बहुत चर्चा है।” मैंने नीलिमा से कहा, “कि बहुत जल्द ही शुक्ला का भार्गव के साथ ब्याह होनेवाला है।”

“मुझे पता है कि लोग ऐसा सोचते हैं।” नीलिमा बोली, “मगर हरबंस होने देगा ब्याह तभी तो! आजकल तो वह भार्गव का नाम सुनते ही एकदम भडक़ उठता है।”

हमारे परिचितों में भी बहुत शीघ्र ही इस बात की चर्चा होने लगी कि भार्गव के साथ शुक्ला के ब्याह की बात टूट रही है। जाने क्यों, ज़्यादातर लोगों को इससे ख़ुशी ही हुई और लोग इस सम्बन्ध में अनुमान लगाने लगे कि भार्गव के बाद अब नया उम्मीदवार कौन होगा।

“भार्गव की जगह अब कौन ले रहा है?” एक दिन भद्रसेन ने मुझसे पूछा।

“मैं यह कैसे कह सकता हूँ?” मैंने कहा, “यह उन लोगों का व्यक्तिगत मामला है।”

“मगर हमने तो सुना है कि भार्गव का पत्ता तुम्हारी वजह से कटा है।”

“मेरी वजह से?”

“तुम्हारी वजह से नहीं तो शिवमोहन की वजह से कटा होगा। आजकल वह तुम्हीं दोनों से घुल-मिलकर बातें किया करती है।”

“हो सकता है।” मैंने कहा, “मुझसे तुमने पूछ लिया है, अब शिवमोहन से भी एक दिन पूछ लेना।”

“यार, लडक़ी बहुत अच्छी है।”

“इसमें क्या शक है!”

“जिसके साथ भी उसकी शादी होगी, वह एक बार तो निहाल हा जाएगा।”

“इसमें क्या शक है!”

“तुम मज़ाक समझ रहे हो?”

“बिल्कुल नहीं। यह तुमने कैसे सोच लिया?”

"ऐसे ही। भई, हम तो चाहते हैं कि उसकी जिस किसी के साथ भी शादी हो, वह कॉफ़ी-हाउस में आती रहे और हमेशा इतनी ही सुन्दर दिखायी देती रहे।"

मैं हँस दिया, "उससे तुम्हें क्या मिलेगा?"

"कुछ नहीं।" वह बोला, "मैं तो एब्स्ट्रेक्ट में बात कर रहा हूँ।"

शिवमोहन भी उन दिनों काफ़ी परेशान था, मगर अपने ही कारण से। उसकी तसवीरें ख़ास बिक नहीं रही थीं, और वह अपना ख़र्च चलाने के लिए आर्ट स्कूल में नौकरी करता था। उन दिनों आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल से उसकी अनबन हो गयी थी और वह चाहता था कि नौकरी छोड़ दे। मगर रोटी खाने और रंग ख़रीदने के लिए उसे और कोई ज़रिया भी नज़र नहीं आता था। होशियारपुर के पास उसकी कुछ पुश्तैनी ज़मीन थी और वह सोच रहा था कि या तो होशियारपुर में ही जा बसे या होशियारपुर में ज़मीन बेचकर अपनी माँ और बहन-भाइयों को अपने पास दिल्ली ले आये।

"मगर मुझे डर यह है।" उसने एक बार कहा, "कि मैं उन्हें साथ दिल्ली से आया, तो मुझे घर-गृहस्थी की चिन्ताएँ झेलनी पड़ेंगी। अगर यही सब चिन्ताएँ उठानी हैं तो ब्याह ही क्यों न कर लूँ? मुझसे न तो इस छछूँदर को निगलते बनता है और न ही इसे छोड़ते बनता है।"

"तो तुम ब्याह कर क्यों नहीं लेते?" मैंने कहा।

"ब्याह?" वह ऐसे चौंक गया जैसे मैंने कोई बहुत ही अनहोनी बात कह दी हो, "मैं और ब्याह? नामुमकिन बात है! मैं इतना कमज़ोर आदमी हूँ कि मेरी बीवी आकर एक दिन मुझे घुड़की देगी कि यह पेंटिंग-एंटिंग का चक्कर छोड़ो और भले आदमियों की तरह सरकारी नौकरी करो, तो मैं चुपचाप उसी दिन से सरकारी नौकरी के लिए अ$िर्जयाँ देने लगूँगा। मुझसे इन बातों के लिए किसी से बहस नहीं की जाती। मैं उसे यह कैसे समझाऊँगा कि जो गमले और लंगूर मैं कैनवस पर बनाता हूँ उनमें कहीं मेरी आत्मा भी है? वह कहेगी कि गमला गमला है और लंगूर लंगूर है, इसलिए इन्सान का फ़र्ज़ है कि सरकारी नौकरी करे।"

"तो तुम अपने लिए क्या रास्ता सोचते हो?"

"भूखा मरूँगा और क्या रास्ता है?" और वह बच्चों की तरह हँस पड़ा, "मेरे जैसे आदमी के लिए और क्या रास्ता हो सकता है? ये गमले और लंगूर मुझे रोटी थोड़े ही देंगे? ये रोटी देंगे, तो किसी आर्ट-डीलर को जो मेरे मरने के बाद मेरी तसवीरें बेचेगा।"

हरबंस शिवमोहन की किस बात पर चिढ़ता है, यह मेरी समझ में नहीं आता था। मुझे शिवमोहन की बातों में इतनी सादगी और मासूमियत लगती थी कि ख़ामख़ाह उसके लिए मेरे मन में प्यार उमड़ आता था। कई बार मेरा ध्यान उसकी बात से भी हट जाता था और मैं केवल उसके चेहरे की भाव-भंगिमाओं को और उन हिलते हुए हाथों की आवेशपूर्ण अस्थिरता को देखता रहता था। उसके जीवन का सारा उत्साह जैसे उसकी उँगलियों में सिमट आता था और वह जो कुछ मुँह से कहता था, उससे कहीं अधिक कुछ उसकी उँगलियाँ और आँखें कहने लगती थीं। बल्कि कई बार तो उसकी बातें जितनी सादा होती थीं, उसकी आँखें उतनी ही गम्भीर हो जाती थीं। मुझे उसकी आँखों को देखकर लगा करता था जैसे उनके पीछे एक लावा छिपा हो जो उस गम्भीरता की तह के नीचे भूचाल पैदा करता हो। उन आँखों में एक कोमलता भी थी और एक हलचल भी। मैं आज भी समझता हूँ कि मैं यह सब लिखकर उसकी आँखों का ठीक वर्णन नहीं कर रहा। मैं जब भी उसकी आँखों की तरफ़ देखता तो एक ऐसी वादी में जा पहुँचता जहाँ ऊपर से एक बड़ा-सा प्रपात गिर रहा हो और उसकी आवाज़ सारे वातावरण में गूँज रही हो, मगर फिर भी जहाँ एक शान्ति छायी हो—गहरी ख़ामोशी शान्ति—और जहाँ पहुँचकर आदमी हवा में तैरती हुई चीलों को देखता हुआ घंटों अपने को भूला रह सकता हो।

हरबंस भार्गव और शिवमोहन से जितना दूर हट रहा था, मेरे साथ उसका व्यवहार उतना ही घनिष्ठ और आत्मीयतापूर्ण होता जा रहा था। वह मुझे कुछ इस तरह का भी आभास देता था जैसे वह मेरे ऊपर किसी बात के लिए निर्भर कर रहा हो। अपने उपन्यास की चर्चा उसके बाद उसने बहुत दिनों तक नहीं चलायी। एक बार मेरे पूछने पर भी उसने इतना ही कहा कि वह अपने दोस्त रमेश खन्ना के जीवन को लेकर कुछ लिखना चाहता है, मगर भाषा पर पूरा अधिकार न होने से उसने लिखने का इरादा लगभग छोड़ दिया है। रमेश खन्ना कई साल एक लडक़ी को पाने के लिए बेचैन रहा था, और अब जब उसकी उस लडक़ी के साथ शादी हो गयी थी, तो वह उससे दूर भागने के लिए बेचैन था। "मैं सोचता था कि शायद मैं इस थीम को लेकर कुछ लिख सकूँ," हरबंस ने कहा, "मगर मुझसे कुछ भी बन नहीं पड़ता। मैं कई तरह से आरम्भ करके देख चुका हूँ, मगर जिस किसी तरह आरम्भ करता हूँ वही आरम्भ मुझे ग़लत लगने लगता है। कोई मुझे इतना बता दे कि मैं कैसे आरम्भ करूँ, तो मेरा ख़याल है कि मैं वह किताब पूरी कर सकता हूँ। जहाँ तक भाषा का सवाल है, वह मैं बाद में किसी से ठीक करा सकता हूँ। यह मेरे साथ बहुत बड़ी ट्रेजेडी है कि मुझे हिन्दी, उर्दू और अँग्रेज़ी में से कोई भी भाषा ठीक से नहीं आती। इनमें से कोई भी भाषा मेरी अपनी नहीं।"

एक बार उसने अपनी फ़ाइलें मुझे दिखा भी दीं। इनमें दो-तीन जगह पचास-पचास पन्ने रखे हुए थे—कहीं हिन्दी और कहीं अँग्रेज़ी में लिखे हुए। कई जगह वाक्य भी अधूरे ही लिखे हुए थे, जैसे कि वे एक व्यक्तिगत डायरी के संकेत हों। उन पन्नों से कुछ पता नहीं चलता था कि उनका आरम्भ कहाँ से है और उनमें कोई क्रम भी है या नहीं। "ऐसी ही दो फ़ाइलें और भी हैं।" उसने कहा, "मगर वह मैं फिर किसी समय ढूँढक़र निकालूँगा। शायद वह मेरे उस सामान में बन्द हैं जो मॉडल बस्ती के घर में रखा है। मैं किसी दिन जाऊँगा, तो निकालकर ले आऊँगा।"

उन पन्नों को देखकर किसी तरह की राय देना असम्भव था, इसलिए मैंने उन पर कोई टिप्पणी नहीं की। इतना ही कह दिया कि वह जब दूसरी फाइलें ले आएगा, तो मैं उस विषय में कुछ कहूँगा। वह इतने से ही काफ़ी सन्तुष्ट हो गया। उसे शायद इतना ही बहुत लगा कि मैंने नीलिमा की तरह उसके लिखे का मज़ाक नहीं उड़ाया, और गम्भीरतापूर्वक इस बारे में बात करता रहा हूँ। जब उसने वे फ़ाइलें समेटकर रख दीं, तो उसके तुरन्त बाद ही कहा, "मुझे लगता है मेरे सिर से एक बोझ उतर गया है। चलो, अब कहीं चलकर एक-एक प्याला कॉफ़ी पीते हैं।"

यह प्रकरण दो-एक बार से ज़्यादा नहीं उठा, इसलिए मेरे ऊपर उसकी निर्भरता का यह कारण तो हो नहीं सकता था। वह कारण क्या हो सकता है, यह मैं बहुत बार सोचकर भी नहीं समझ पाता था। शायद उसे अपने अन्दर इस बात की ज़रूरत महसूस होती थी कि कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसका उसके साथ उठना-बैठना नीलिमा और शुक्ला की वजह से न होकर उसकी अपनी वजह से ही हो और जो कम से कम एक व्यक्ति के रूप में तो उसे गम्भीरतापूर्वक ले। उसकी यह भूख इससे शायद और भी बढ़ जाती थी कि नीलिमा बात-बात पर उसका मज़ाक उड़ाने लगती थी। हरबंस को शायद ख़याल था उसकी इस भूख को मैं मिटा सकता हूँ। मगर मैं अपने मन को टटोलता कि क्या मैं हरबंस की वजह से ही उन लोगों में उठता-बैठता हूँ, तो मुझे इसका ठीक और स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता था। इसमें तो कोई सन्देह नहीं था कि हरबंस ही उस दायरे का सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति था। नीलिमा और शुक्ला आख़िर उसी की कुछ लगती थीं, और उसी की वजह से हम लोगों से मिलती-जुलती थीं। हरबंस का उन लोगों से चिढऩा भी अस्वाभाविक नहीं था जो उसे एक स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में न लेकर नीलिमा और शुक्ला के साथ संलग्न एक इकाई के रूप में लेते थे। मगर मैं भी क्या उन्हीं लोगों में से नहीं था? क्या मैं भी किसी और की वजह से ही उसके साथ नहीं उठता-बैठता था? मैं इस सवाल को अपने मन से हटाये रखना चाहता था, मगर वह बार-बार वहाँ लौट आता था। क्या सचमुच...?

इतवार का दिन था और सुबह से ही आकाश में कोहरा छाया था। मैंने सुबह से शाम तक वही कुछ किया था जो हर भला आदमी ऐसे दिन में करता है, अर्थात् सुबह देर से उठा था और देर तक बिना नहाये पड़ा रहा था; फिर बिस्तर में ही नाश्ता किया था और उसके बाद देर तक अरविन्द से गप करता रहा था। मेरा घर से निकलने को ज़रा भी मन नहीं था, मगर अरविन्द दो बजे के बाद ड्यूटी पर चला गया, तो (मेरे लिए आइन्स्टाइन के सिद्धान्त के अनुसार) समय के क्षण बहुत लम्बे होने लगे और मैं चार बजे तक एक उपन्यास के पन्ने पलटने के बाद बेमन से तैयार होकर घर से निकल पड़ा। इतवार की शाम को कनॉट प्लेस में तब भी आज की तरह वीरानी छायी रहती थी। दुकानें बन्द थीं और कोहरे की वजह से घूमनेवाले लोग भी बहुत ही कम नज़र आ रहे थे। कनॉट प्लेस उस समय एक बड़े से स्टेडियम की तरह लग रहा था जिसमें खेल समाप्त हो चुका हो और पीछे छिलके बटोरनेवाले लोग ही रह गये हों। तब तक कनॉट प्लेस से शरणार्थियों के स्टॉल अभी उठाये नहीं गये थे। वे लोग अपना-अपना सामान फैलाये जैसे एक उजड़े हुए मीना बाज़ार में बैठे आकाश के बदले हुए रंग को देख रहे थे। उन स्टॉलों के पास से गुज़रते हुए अचानक एक जगह मेरी नज़र हरबंस पर पड़ गयी। वह एक किताबें बेचनेवाले के स्टॉल पर झुका हुआ कुछ किताबें देख रहा था। मैं उसके पास जा खड़ा हुआ, तो भी कुछ देर उसका ध्यान मेरी तरफ़ नहीं गया। आख़िर जब मैंने उसकी पीठ पर हाथ रखा, तो उसने चौंककर मेरी तरफ़ देखा और सीधा खड़ा हो गया। “अरे, तुम?” उसने कहा।

“तुम इस वक़्त अकेले कैसे निकल आये?” मैंने पूछा।

“ऐसे ही...घर बैठे-बैठे ऊब गया था। सोचा चलकर कुछ किताबें ही देखूँ।”

“तो चलो, कुछ देर तुम्हारे यहाँ चलकर ही बैठते हैं। मैं भी घर पर काफ़ी ऊब गया था। आज दिन ही कुछ ऐसा है।”

“नहीं, घर नहीं चलेंगे।” वह हाथ में ली हुई किताब को वापस रखता हुआ बोला, “कहीं और चलते हैं।”

“और कहाँ चलेंगे?”

“जहाँ भी चलो।”

“मैंने घर के लिए इसलिए कहा था कि इस कोहरे में बाहर तो कहीं बैठा नहीं जाएगा। घर में कुछ रिकॉर्ड सुन सकते हैं और साथ में...।”

“रिकॉर्ड जाएँ भाड़ में! मैं रोज़-रोज़ वे रिकॉर्ड सुनकर तंग आ गया हूँ।” वह बोला, “हम बाहर कहीं क्यों नहीं बैठ सकते? इस मौसम में बल्कि बाहर बैठना ज़्यादा अच्छा लगेगा। मैं इस वक़्त घर तो बिल्कुल ही नहीं जाना चाहता।” उसने मेरा हाथ कसकर पकड़ लिया और सामने टैक्सी स्टैंड की तरफ़ चलते हुए कहा, “यह बहुत ही अच्छा हुआ जो तुम मिल गये। मैं इस वक़्त बहुत-बहुत अकेला महसूस कर रहा था।”

“क्यों?”

“मैं ठीक से तुम्हें बता नहीं सकता। मैं जब घर से निकला, तो यह महसूस कर रहा था कि मेरा कोई घर-बार नहीं है, कोई सगा-सम्बन्धी नहीं है, और मैं बिल्कुल अकेला हूँ। मुझे लगता है मेरे साथ अन्दर ही अन्दर कोई दुर्घटना हो रही है!”

“तुम्हारा मतलब है कि तुम इस समय किसी मानसिक संकट में हो?”

“तुम इसे मानसिक संकट कह लो या कुछ भी कह लो। मुझे लग रहा है कि मैं धीरे-धीरे अपने वश से बाहर होता जा रहा हूँ। कोई चीज़ मुझे अन्दर से धकेल रही है और मुझे लग रहा है कि मैं...”

मैं उसके वाक्य पूरा करने की प्रतीक्षा करता रहा, मगर वह वाक्य पूरा न करके टैक्सी से बाहर जाने क्या देखने लगा। हम लोग जब टैक्सी छोडक़र इंडिया गेट के लॉन में आ गये, तो भी उसकी खामोशी उसी तरह बनी रही।

“लगता है आज तुम बहुत उदास हो।” जब काफ़ी देर उसने कोई बात नहीं की, तो मैंने कहा।

वह लॉन की घास पर लेट गया था और शायद उसे यह अहसास भी नहीं रहा था कि मैं उसके पास बैठा हूँ। उसने कुछ चौंककर मेरी तरफ़ देखा और कहा, “कितना अच्छा होता अगर बात सिर्फ़ उदास होने तक ही होती!”

“तो क्या कोई बहुत बड़ी बात हो गयी है जिससे तुम इतने परेशान हो?”

वह कुछ देर चुपचाप कोहरे से लदे हुए आकाश को कुछ खोजती हुई सी आँखों से देखता रहा। फिर बोला, “एक बात है जो मैं तुम्हीं को बता रहा हूँ। बहुत जल्दी ही मैं यहाँ से बाहर चला जाऊँगा।”

“मतलब, दिल्ली छोडक़र और कहीं नौकरी कर लोगे?”

“मेरा मतलब है मैं इस देश से बाहर चला जाऊँगा।”

मुझे कुछ आश्चर्य हुआ और मैं उसका वास्तविक अभिप्राय समझने के लिए पल-भर उसके चेहरे की तरफ़ देखता रहा, “मतलब बाहर जाकर डॉक्टरेट-ऑक्टरेट करने का इरादा है, या...?” एक बार बातों ही बातों में उसने कहा था कि वह डॉक्टरेट के लिए इंग्लैंड जाना चाहता है।

“नहीं, मैं इस मतलब से नहीं, वैसे ही जाना चाहता हूँ।”

“वैसे ही, मतलब घूमने के लिए, या...?”

“घूमने के लिए आदमी इस तरह जाता है? और मेरे पास इतना पैसा कहाँ कि सिर्फ़ घूमने के लिए बाहर जा सकूँ?”

मैं उसकी आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं जानता था। मुझे अपने रोज़ के अनुभव से इतना ही पता था कि वह काफ़ी ख़र्चीली ज़िन्दगी बिताता है।

“तो आख़िर कुछ तो इरादा होगा?” मैंने कहा।

“इरादा कुछ भी नहीं है।” वह धीरे से आँखें झपककर बोला, “सिर्फ़ जा रहा हूँ।”

“मतलब अकेले ही जा रहे हो, या नीलिमा को साथ लेकर...?”

“मैं अकेला जा रहा हूँ और इसीलिए जा रहा हूँ कि घर के लोगों से दूर रह सकूँ।”

“मगर आख़िर क्यों?” मेरी आँखों के सामने नीलिमा का हँसता हुआ चेहरा आ गया, “यह तो बहुत अजीब-सी बात लगती है कि तुम बिना किसी उद्देश्य के विदेश जा रहे हो, और बिल्कुल अकेले जा रहे हो।”

“चाहे कितनी भी अजीब लगे, मगर बात यही है कि मैं यहाँ से जा रहा हूँ और बिल्कुल अकेला ही जा रहा हूँ। मैं अब बिल्कुल अकेला रहना चाहता हूँ और अपनी ज़िन्दगी बिल्कुल नए सिरे से

आरम्भ करना चाहता हूँ।"

"मतलब?" मुझे विश्वास नहीं हुआ कि उसने जो बात कही है, उसका वही मतलब हो सकता है।

"क्यों मुझे यह हक नहीं है कि मैं अपनी ज़िन्दगी नए सिरे से आरम्भ कर सकूँ?"

"मगर अचानक ऐसी बात क्या हो गयी? कल तक तो सब कुछ ठीक-ठाक था।"

"ऊपर से ज़रूर ऐसा लगता होगा।" वह थोड़ा चिढक़र बोला, "मगर मेरे अन्दर यह कशमकश न जाने कब से है! तुमने मेरी फ़ाइलों में लगे हुए वे पन्ने देखे थे न?"

मैं थोड़ा सावधान हो गया कि कहीं घुमा-फिराकर वह बात अपने उपन्यास पर ही तो नहीं ला रहा।

"हाँ-हाँ...।"

"मैंने तुमसे कहा था कि मैं वह उपन्यास एक आदमी के मानसिक संघर्ष को लेकर लिख रहा हूँ।"

"हाँ, मुझे याद है। रमेश खन्ना कई साल तक एक लडक़ी के प्रेम में तड़पता रहा और जब उस लडक़ी से उसका ब्याह हो गया, तो वह सोच-सोचकर तड़पने लगा कि उससे किस तरह छुटकारा पाये।"

"मैंने रमेश खन्ना का नाम ऐसे ही ले दिया था।" वह बोला, "मैं वह उपन्यास दरअसल अपने बारे में ही लिखना चाहता था।"

मेरे अन्दर कोई चीज़ सहसा झनझना गयी और मैं चुपचाप उसके चेहरे की तरफ़ देखता रहा। वह भी चुप रहकर कुछ देर कोहरे के अन्दर उसी तरह कुछ खोजता रहा। मैं इतने दिनों से उसके साथ घूमता था और कई बार उनके घर गया था, मगर उसकी और नीलिमा की ज़िन्दगी को देखकर मेरी यही धारणा बनी थी कि वे दोनों दो अच्छे मित्रों की तरह रहते हैं और उनका जीवन बहुत सुखी है। बल्कि मैं तो सोचता था कि वास्तव में सुखी विवाहित जीवन हो सकता है, तो उसी तरह का हो सकता है।

"मगर मैं तो कभी सोच भी नहीं सकता था कि..."

उसने मेरी बात पूरी नहीं होने दी और बीच में ही बोल उठा, "हममें से हर आदमी दूसरे आदमी की ज़िन्दगी के बारे में यही कहता है। मगर सच बात तो यह है कि मुझे आज से एक-डेढ़ साल पहले ही यह निश्चय कर लेना चाहिए था और यहाँ से चले जाना चाहिए था।"

"मगर क्या सचमुच तुम समझते हो कि स्थिति इतनी ही गम्भीर है, या...?"

उसने केवल कन्धे हिला दिये और फिर कुछ देर कुहरीले बादलों में खोया रहा। मैं भी कुहनियों पर झुककर उन बादलों को ही देखने लगा जो अपने आपमें एक भरी-पूरी दुनिया की तरह थे, हल्के और गहरे रंगों की एक उदास और खामोश दुनिया की तरह जो हर क्षण अपना रूप बदल रही थी, फिर भी अपने अवसाद में जड़-सी प्रतीत होती थी। उसमें एक अथाह गहराई तो थी जिसका कोई आर-पार नहीं था, मगर ऐसी घनता नहीं थी जो उसे बरसा देती। मैं कोहरे के अन्दर तरह-तरह की तसवीरें बनते देखता रहा, जैसे बचपन में स्कूल में ब्लैकबोर्ड के सामने बैठा मन ही मन उसमें से हाथी-घोड़े और न जाने क्या-क्या तराशता रहता था।

हम काफ़ी देर वहाँ बैठे रहे। मैं घास की तिगलियों को अपनी उँगलियों में मसलता रहा। हरबंस कुछ देर बाद घास पर उलटा लेट गया; कुहनियों के बल होकर बात करता रहा। उसके जीवन में वास्तविक उलझन कहाँ है, यह उसकी सब बातें सुनकर भी मुझे पता नहीं चल सका। वह जो बातें

बहुत गम्भीर होकर कह रहा था, वे मुझे बहुत ऊपरी और बहुत सतही लग रही थीं। परन्तु उनके भीतर शायद कहीं कुछ था, सतह से बहुत नीचे, गहरे पानी में कुलबुलाती हुई नन्ही-नन्ही मछलियों की तरह, जिनके अस्तित्व का सतह से देखने पर बिल्कुल आभास नहीं होता। उसने जो कुछ कहा, वह बहुत साधारण था, मगर जिस तरह कहा उससे मुझे लगा कि अपने अन्दर ही अन्दर बहुत गहरे में कहीं वह बुरी तरह रिस रहा है, और जो कुछ वह कहना चाहता है, उससे शब्दों में व्यक्त नहीं हो पाता। शायद बात करने में भी उसके साथ वही कठिनाई थी जो लिखकर भाव प्रकट करने में थी।

जो कुछ उसने बताया, वह यही था कि पिछली रात घर में उसकी नीलिमा से कुछ कहा-सुनी हो गयी थी। कुछ दिनों से उन लोगों की जीवन भार्गव से भेंट नहीं हुई थी। पिछली रात जब वे खाना खा रहे थे, तो भार्गव उनके यहाँ आया और आग्रह करके उसे अपने साथ कॉफ़ी पीने के लिए बाहर ले गया। वह उस समय सरदी में बाहर नहीं जाना चाहता था, मगर भार्गव ने बहुत ही हठ किया कि वह उसके साथ एक बहुत ज़रूरी बात करना चाहता है। नीलिमा ने भी कहा कि भार्गव इतनी ठंड में उससे कोई बात करने के लिए आया है, तो उस बेचारे को निराश नहीं करना चाहिए। वह जब भार्गव के साथ बाहर आ गया, तो उसे ध्यान आया कि वह खाली चप्पल पहने हुए ही बाहर आ गया है, मगर वह मोजा या जूता पहनने के लिए लौटकर नहीं गया। उसका मन जो पहले ही खीझा हुआ था, इससे और खीझ गया। भार्गव उसे अपने साथ 'वोल्गा' में ले गया। वहाँ जाकर काफ़ी देर भार्गव इधर-उधर की बातें करता रहा पर आखिर जब तंग आकर वह उठने की सोचने लगा, तो भार्गव ने हिचकिचाते हुए उससे कहा कि वह शुक्ला के साथ ब्याह करने के लिए उसकी अनुमति चाहता है।

इस प्रकरण पर आकर हरबंस कुछ उत्तेजित होकर बैठ गया। "मैंने उससे कहा कि तुम्हें यह बात कहते हुए शरम नहीं आती? तुम्हें पता है शुक्ला की उम्र क्या है? वह मुश्किल से अभी सत्रह बरस की हुई है, और इस कच्ची उम्र में तुम चाहते हो कि उसका तुम्हारे साथ ब्याह कर दिया जाए? मैं नहीं जानता था कि तुम इतने ओछे और इतने स्वार्थी हो? तुम इतने दिनों से मेरे साथ इसीलिए दोस्ती का स्वाँग भर रहे थे?"

"मगर..." मैं कुछ कहने लगा, तो हरबंस ने मेरी बात बीच में ही काट दी।

“मैंने उससे कहा कि मैं आज से तुम्हारे साथ उठने-बैठने का भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहता। तुम आज से कभी न तो हमारे यहाँ आओगे, और न ही बाहर हममें से किसी से मिलोगे। मैं यह बरदाश्त नहीं कर सकता कि लोग मेरे साथ बैठकर कला-संस्कृति की बातें करें और वास्तव में उनकी आँख मेरे घर की लड़कियों पर हो।”

“यह क्या एक तरह से तय ही नहीं था कि...”

“यह तुमसे किसने कहा है कि ऐसी कोई बात कभी तय हुई थी?” वह उसी उत्तेजना में कहता गया, “तुम समझते हो कि मैं यह बरदाश्त कर सकता हूँ कि वह लडक़ी इस उम्र में ब्याह, करके बाल-बच्चे सँभालने लग जाए? मैंने उसके बारे में जाने क्या-क्या सोच रखा है! सबसे पहले तो मैं उसे मॉरिस कॉलेज में संगीत की शिक्षा के लिए भेजना चाहता हूँ।”

एक तरफ़ तो वह विदेश जा रहा है, और दूसरी तरफ़ वह शुक्ला को संगीत की शिक्षा के लिए भेजना चाहता हूँ।”

एक तरफ़ तो वह विदेश जा रहा है, और दूसरी तरफ़ वह शुक्ला को संगीत की शिक्षा के लिए मॉरिस कॉलेज भेज रहा है—इसमें जो असंगति थी, उसकी तरफ़ उसका ध्यान नहीं गया। उसका चेहरा इस तरह तमतमा रहा था जैसे जीवन भार्गव उस समय भी उसके सामने बैठा हो और वह उसी को सम्बोधित करके बात कर रहा हो।

“खैर, यह तो तुम्हारे और शुक्ला के सोचने की बात है। “मैंने कहा, “मगर इससे तुमने विदेश जाने का निश्चय कैसे कर लिया?”

“मगर बात वहीं तो समाप्त नहीं हो गयी।” वह बोला, “आज सावित्री ने इस बात को लेकर एक तूफ़ान खड़ा कर दिया है।” नीलिमा का वास्तविक नाम यही था। ‘नीलिमा’ यह नाम उसने बाद में अपने लिए चुन लिया था। मगर हरबंस के मुँह से अब भी कई बार उसका पूरा नाम ही निकल पड़ता था। यह ज़्यादातर तब होता था जब वह उत्तेजित होता।

सुबह की उसने जो बात बतायी, वह इस तरह थी कि रात को उसने नीलिमा को भार्गव के साथ हुई अपनी बातचीत के विषय में नहीं बताया था। सुबह नाश्ते के समय उसने नीलिमा को बताया कि उसने भार्गव को उस घर में आने-जाने से मना कर दिया है, इसलिए उसकी अनुपस्थिति में भी भार्गव को वहाँ नहीं आना चाहिए। नीलिमा इस पर एकदम भडक़ उठी और उसने कहा कि वह उसके पिता का घर है, उस घर में किसी को आने-जाने से रोकनेवाला वह कौन है! नीलिमा ने उससे यह भी कहा कि शुक्ला के भविष्य के बारे में निर्णय करने का उसे कोई अधिकार नहीं है। यदि किसी को अधिकार है, तो शुक्ला को है, या बीजी और बाबूजी को है। हरबंस इस पर नाश्ता बीच में ही छोडक़र उठ खड़ा हुआ और यह कसम खाकर वहाँ से चला आया कि अब वह उस घर में कभी क़दम नहीं रखेगा। तब से लेकर मुझे मिलने तक वह इधर-उधर घूमता रहा था। अब रात को भी वह न तो लौटकर उस घर में जाना चाहता था, और न ही मॉडल बस्ती में अपनी माँ के घर।

“मैं यही सोच रहा था कि तुम मिल जाओ, तो मैं तुम्हारे साथ तुम्हारे घर चला चलूँगा और बाहर जाने से पहले जितने दिन यहाँ हूँ, उतने दिन तुम्हारे साथ ही काट लूँगा। मुझे जाने से पहले पैसे का प्रबन्ध करना है। इसके लिए मैं कल से ही दौड़-धूप शुरू करूँगा। हो सकता है रमेश खन्ना डेढ़-दो हज़ार रुपये का प्रबन्ध कर दे। मेरा पासपोर्ट बना हुआ है, इसलिए उसकी मुझे चिन्ता नहीं है। मुझे आज अच्छी तरह पता चल गया है कि जिस घर में मैं रहता हूँ, वह मेरा घर नहीं है और जिसे मैं अपनी पत्नी समझता हूँ, वह मेरी पत्नी नहीं है। मैंने आज तक इन लोगों के लिए जो कुछ किया है, उसके लिए भी मुझे अफ़सोस है। अपने पिता के गुज़रने पर मुझे घर से अपने हिस्से के जो दस हज़ार मिले थे, वे दस्र के दस हज़ार मैंने एक-डेढ़ साल में इन लोगों के ऊपर खर्च कर दिये हैं।

इसके नृत्य के अभ्यास पर ही हर महीने तीन सौ रुपया खर्च होता रहा। उस रुपये से मैंने अपने लिए एक पैसे की चीज़ नहीं ख़रीदी। आज भी अगर मेरी सारी तनख़ाह चार दिन में ख़र्च हो जाती है, तो किसके ऊपर होती है? इन्हीं लोगों पर या किसी और पर? अगर मेरी उस घर में कोई आवाज़ नहीं है, तो ठीक है। मैं भी उस घर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहता।"

वह उस समय इतना भरा हुआ था कि अगर मैं उसे न मिलता, तो शायद वह बैठकर हवा से ही बात करता रहता। मेरा ध्यान कुछ देर उसकी बातों से हटा रहा और मैं अपने आसपास खेलते हुए बच्चों को देखता रहा। वे हवा में गेंद उछालते थे और उसे दबोचने के लिए किलकारियाँ मारते हुए दौड़ पड़ते थे। कुहरीली शाम के धुँधलके में उन्हें ऊपर से आती हुई गेंद न जाने कैसे दिखायी दे जाती थी। मुझे हर बार लगता जैसे गेंद ऊपर ही कहीं उस रुई जैसे कोहरे में दुबककर रह गयी हो, मगर बच्चे उसे न जाने कहाँ से दबोच लाते थे और क्षण-भर के बाद वह फिर उसी तरह ऊपर को उछाल दी जाती थी। तभी सहसा सडक़ की बत्तियाँ जल उठीं। सडक़ का अँधेरे में खोया हुआ व्यक्तित्व फिर बाहर निकल आया। उससे अगले ही क्षण इंडिया गेट के फ़व्वारों की बत्तियाँ भी जगमगा उठीं। हम लोगों के आसपास अँधेरा पहले से गहरा हो गया।

मैं सोच रहा था कि हरबंस को मैं अपने साथ घर कैसे ले जाऊँगा। तब तक हम लोगों में कभी यह बात नहीं उठी थी कि मैं कहाँ और किस घर में रहता हूँ। क्या सचमुच वह क़स्साबपुरा के उस घर में मेरे साथ रह सकता था और ठकुराइन और गोपाल की माँ की रामायण सुनकर वहाँ आत्मीयता का अनुभव कर सकता था?

"तुम चलना चाहो, तो बेशक मेरे साथ चलो।" मैंने कहा, "मैं कस्साबपुरा की एक छोटी-सी गली में अपने एक मित्र के पास ठहरा हुआ हूँ। हम लोग रात को ज़मीन पर सोते हैं क्योंकि वहाँ दो चारपाइयाँ ठीक से नहीं बिछ सकतीं। तुम तकलीफ़ महसूस न करो, तो मेरी तरफ़ से तुम चाहे जितने दिन वहाँ रहो!"

हरबंस इस तरह मेरी तरफ़ देखने लगा जैसे नक़ाब हटाने से उसे मेरा कोई और ही चेहरा नज़र आ रहा हो। कुछ देर वह चुपचाप सोचता रहा।

"वैसे मैं रमेश के यहाँ भी रह सकता हूँ।" वह बोला, "सिर्फ़ उसकी पत्नी की बातें मुझसे बरदाश्त नहीं होतीं। वह औरत अपने को जाने क्या समझती है! उसे हर समय यह सोचने से ही फ़ुरसत नहीं मिलती कि ब्याह से पहले वह कितनी सुन्दर थी और कितने लोग उससे ब्याह करने के लिए उत्सुक रहते थे।"

"तुम अपने मन में फ़ैसला कर लो।" मैंने कहा, "मेरे साथ चलना हो, तो चाहे अभी चलो।"

"अच्छा, मैं अभी सोचकर बताऊँगा।" उसने कहा और घास पर पीठ के बल सीधा लेट गया। उसकी सिगरेट का धुआँ अँधेरे और कोहरे के बीच अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करता हुआ धीरे-धीरे ऊपर उठता और विलीन होता रहा। मैं चुपचाप बैठा सडक़ से गुज़रती हुई गाडिय़ों को देखता रहा।

उस दिन हरबंस काफ़ी गम्भीर होकर बात कर रहा था, फिर भी मैंने यह नहीं सोचा था कि वह सचमुच बाहर चला जाएगा। उस दिन इंडिया गेट से लौटने पर कॉफ़ी-हाउस में हमारी नीलिमा से भेंट हो गयी थी और वह उसे मनाकर अपने साथ घर ले गयी थी। जीवन भार्गव का उसके बाद हम लोगों से मिलना-जुलना बिल्कुल बन्द हो गया। शुक्ला ने स्वयं ही अगले दिन उससे कह दिया था कि वह उसके साथ ब्याह नहीं करना चाहती, इसलिए अच्छा होगा कि वह उनके यहाँ आना-जाना बन्द कर दे। उस दिन भार्गव दो घंटे शुक्ला के सामने बैठा चुपचाप आँसू बहाता रहा, और उसके

बाद न जाने वह दिल्ली से चला गया, या क्या हुआ कि उसकी सूरत ही दिखायी नहीं दी। कह नहीं सकता कि वह अपना जी हल्का करने के लिए एब्स्ट्रेक्ट की दुनिया में लौट गया, या बाद में भी उस चोट की वजह से आँसू ही बहाता रहा। दो साल बाद जब एक बार मेरी उससे लखनऊ स्टेशन पर भेंट हुई, तो उसकी नई ब्याहता पत्नी उसके साथ थी और एक चपरासी उसका बैग सँभाले था। उसका लिबास भी तब तक बदल गया था और सलवार और कुरते की जगह वह कोट-पतलून पहने था। उससे मिलने पर पता चला कि उसने एक सरकारी महकमे में आर्ट-डिज़ाइनर के रूप में नौकरी कर ली है। अगर उस दिन मैं ही उसे पहचानकर न बुला लेता, तो शायद वह मेरे पास से बिल्कुल एक अजनबी की तरह गुज़रकर चला जाता। उसके चेहरे से मुझे स्पष्ट लगा कि मुझसे मिलकर और बात करके उसे ख़ुशी नहीं हुई।

इंडिया गेट पर हुई बातचीत के बाद कई दिन गुज़र गये। हरबंस से फिर कभी उस विषय में बात नहीं हुई। मैंने इससे सोचा कि वह एक क्षणिक उबाल था जो अब शान्त हो गया है। रोज़ की ज़िन्दगी लगभग वही थी—वही घर, वही दफ़्तर, वही कॉफ़ी-हाउस और वही बातें। भार्गव की बात हम लगभग भूल गये थे। केवल नीलिमा ही थी जो कभी-कभी उसका ज़िक्र कर देती थी। “बेचारा भार्गव!” वह कहती, “उसके साथ सचमुच बहुत बुरा हुआ है!” इस पर हम लोग चुप रहते, हरबंस की भौंहें कुछ तन जातीं और शुक्ला गरदन घुमाकर दूसरी तरफ़ देखने लगती। मगर यह ऐसे ही होता जैसे झरने के पानी में एक छोटा सा पत्थर गिरे और तब तक उससे एक लहर पैदा हो तब तक बहाव उस लहर को बहाकर ले जाए। भार्गव की स्थिति उस क्यूरियो पीस की तरह थी जिसका सिर हमारे सामने टूटा था, मगर जिसे चुपचाप उसकी जगह पर छोडक़र हम आगे चले आये थे।

इसलिए जब एक दिन नीलिमा ने मुझसे कहा कि हरबंस दस-पन्द्रह दिन में बाहर जा रहा है, तो मुझे विश्वास नहीं आया।

“कहाँ जा रहा है?” मैंने बहुत सरसरी तौर पर और लगभग मज़ाक में पूछ लिया।

“अभी तो लन्दन जा रहा है,” उसने अपने होंठों को एक करवट देते हुए कहा।

“इन दिनों? इस सरदी में?”

नीलिमा ने चुपचाप सिर हिलाया और अपने नाखूनों को देखती रही।

“कितने अरसे के लिए जा रहा है?”

“यह उसी से पूछ लेना।” वह बोली, “मुझसे तो उसने यही कहा है कि वह फ़िलहाल दो-एक साल बाहर रहना चाहता है। हो सकता है वहाँ रहकर डॉक्टरेट कर ले।”

“मगर मुझसे तो उसने कहा था कि...” मैं कहते-कहते रुक गया।

“तुमसे उसने क्या कहा था?” नीलिमा की आँखें एक उत्सुकता के साथ मेरे चेहरे पर स्थिर हो गयीं। मुझे उस समय उसके सामने झूठ बोलने के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ा।

“कि अभी उसका बाहर जाने का इरादा नहीं है।”

“यह उसने कब कहा था?”

“बहुत दिन हो गये।”

“मैं तुम्हें आज की बात बता रही हूँ। आज उसने सचमुच फ़ैसला कर लिया है कि फ़रवरी के शुरू में वह यहाँ से चला जाएगा।”

"और तुम?"

"मैं यहीं रहूँगी।"

"मगर..."

"मगर क्या?"

"मगर ये तो यहाँ से जाने के दिन नहीं हैं। अगर उसे डॉक्टरेट ही करना है, तो उसके लिए, उसे एडमिशन लेकर जून-जुलाई में यहाँ से जाना चाहिए।"

"यह बात तो वही बता सकता है। कहता है पहले जाकर कोई नौकरी करूँगा और जब ख़र्च का कुछ प्रबन्ध हो जाएगा, तो एडमिशन ले लूँगा।"

"तो यहाँ से नौकरी छोडक़र जाएगा?"

"यहाँ से उसने त्यागपत्र दे दिया।"

"दे दिया है?"

"हाँ, आज सुबह वह अपना त्यागपत्र दे आया है।"

"बगैर नोटिस के ही त्यागपत्र दे आया है?"

"कहता है कि उसने प्रिंसिपल को पीछे की तारीख़ डलवाकर त्यागपत्र लेने के लिए राज़ी कर लिया है। वह तीन फ़रवरी के जहाज़ के लिए सीट भी बुक करा आया है।"

"इतनी जल्दी? क्या और सारा इन्तज़ाम उसने कर लिया?"

"उसने हज़ार रुपया रमेश से क़र्ज़ लिया है। जाने तक शायद उसे कॉलेज से अपने प्राविडेंट फ़ंड के पैसे भी मिल जाएँगे।"

नीलिमा काफ़ी तटस्थ रहकर बात करने का प्रयत्न कर रही थी, जैसे चर्चा हरबंस के जाने की न होकर किसी और के जाने की हो रही हो। मैं देखता रहा कि उसके चेहरे पर दुख या क्षोभ की कोई रेखा नज़र आती है या नहीं, परन्तु ऐसी कोई रेखा उस समय मुझे वहाँ नज़र नहीं आयी। वह इस तरह सरसरी तौर पर बात कर रही थी जैसे सुबह के अख़बार में पढ़ी हुई कोई ख़बर सुना रही हो।

"मगर इस तरह अचानक ही उसने जाने का निश्चय कैसे कर लिया?" मैं भी उस समय यह बिल्कुल ज़ाहिर नहीं होने देना चाहता था कि मुझे उस बारे में कुछ मालूम है।

वह कुछ देर अपने में गुम होकर सोचती रही—उसे इस तरह सोचते मैंने कभी नहीं देखा था; और क्षण-भर एक हाथ को दूसरे हाथ में उलझाए रही। फिर बोली, "अगर सच पूछते हो, तो मुझे लगता है वह मेरी वजह से ही यहाँ से जा रहा है। यहाँ रहकर शायद उसे लगता है कि वह जो कुछ करना चाहता है, वह मेरी वजह से नहीं कर पा रहा। मैं भी सोचती हूँ कि अगर सचमुच ऐसा है और मेरी वजह से ही उसे अपनी ज़िन्दगी में रुकावट महसूस होती है तो मैं उसके रास्ते में रुकावट क्यों बनूँ? वह कुछ अरसा मुझसे दूर रहेगा, तो उसके मन से यह बात तो निकल जाएगी। मैं भी इस बीच देख लूँगी कि अकेली रहकर मुझे कैसा लगता है। मैं इस बीच दक्षिण चली जाऊँगी और वहाँ नृत्य का अभ्यास करूँगी। बीजी कह रही हैं कि वे मुझे वहाँ जाने का ख़र्च दे देंगी। मैंने तय कर लिया है कि मैं उसे एक बार भी रुकने के लिए नहीं कहूँगी।"

और तब पहली बार मुझे नीलिमा के चेहरे की गहराई में एक ऐसी रेखा नज़र आयी जो एक दर्द या

व्याकुलता की रेखा हो सकती थी। परन्तु तुरन्त ही उसने अपने को झटककर ठीक कर लिया और बोली, "तुम तो हरबंस के जाने के बाद हम लोगों से मिला करोगे न?"

"हाँ, क्यों नहीं मिला करूँगा?"

"हरबंस तुमसे बात करे, तो तुम भी उसे यही राय देना कि वह ज़रूर चला जाए।" वह बोली, "वह आजकल तुम्हारी बात की बहुत क़द्र करता है। हो सकता है तुम उसे रुकने के लिए कहो, तो वह रुक जाए और उसके बाद रात-दिन उसी तरह झींकता रहे। मैं अब इस निष्कर्ष पर पहुँच गयी हूँ कि कुछ दिनों के लिए उसका चले जाना ही हम लोगों के लिए हितकर है।"

"मगर बात यह है नीलिमा कि..."

"मैं तुम्हें एक बात बता दूँ सूदन।" वह बोली, "वह मुँह से चाहे जो कहे, मगर मुझसे अलग होकर वह नहीं रह सकता। मैं यह बात बहुत अच्छी तरह जानती हूँ। मगर मैं चाहती हूँ कि वह एक बार कुछ दिनों के लिए यह प्रयोग करके देख ले, नहीं तो वह ज़िन्दगी-भर कुढ़ता रहेगा कि मेरी वजह से वह यह नहीं कर सका, वह नहीं कर सका। बाकी जहाँ तक शुक्ला की ज़िन्दगी का सवाल है, उसमें उसका दख़ल मुझे ज़रा भी पसन्द नहीं है। मैं आज भी सोचती हूँ कि शुक्ला का भार्गव के साथ ब्याह हो जाना चाहिए था। चाहे अभी न होता, दो साल बाद होता।"

"मगर शुक्ला ने उसे खुद ही मना कर दिया था। जब वह खुद ही नहीं चाहती थी, तो...?"

"वह क्या चाहती है और क्या नहीं, यह वह खुद भी नहीं जानती। सरोज एक मैकेनिक से ब्याह करना चाहती है जिसके पास न सूरत है न पैसा है, और न ही वह ज़्यादा पढ़ा-लिखा है। हम लोग उसके हक में नहीं थीं, मगर उसे तो हरबंस बढ़ावा देता रहा है कि जिस आदमी को वह चाहती है, उसी से उसे ब्याह करना चाहिए। मगर शुक्ला के मामले में—मैं नहीं जानती कि इसने इस तरह की दख़लअन्दाज़ी क्यों की है। कभी-कभी तो मुझे लगता है कि कहीं...?"

मुझे अपने अन्दर एक झनझनाहट-सी महसूस हुई, मगर मैंने बहुत जल्दी अपने को सँभाल लिया। "तुम सचमुच ऐसा समझती हो?" मैंने पूछा।

"मैं कह नहीं सकती।" वह बोली, "मगर ऐसे ही कभी-कभी मुझे लगता है...।"

"मेरा ख़याल है, यह सिर्फ़ तुम्हारा वहम है।"

"हो सकता है ऐसा ही हो।" नीलिमा कुछ क्षणों के लिए फिर अन्तर्मुख हो गयी, "शुक्ला अभी बिल्कुल बच्ची है। उसके लिए हरबंस भापाजी की इच्छा से बड़ी दुनिया में कोई चीज़ नहीं है। जो हरबंस भापाजी के लिए अच्छा है, वही उसके लिए अच्छा है और जो उनकी नज़र में बुरा है, वह उसके लिए भी बुरा है। मैं कहती हूँ कि हरबंस भापाजी के साथ उसका यही लगाव रहा, तो ब्याह के बाद वह किसी के यहाँ जाकर कैसे सुखी हो सकेगी?"

उसने हँसने का प्रयत्न किया, मगर ठीक से हँस नहीं सकी। वह उस हँसी से अपने अन्दर के किसी भाव को छिपाने का प्रयत्न कर रही थी, जो कि उसके स्वभाव के विपरीत था। आम तौर पर वह अपने किसी भी भाव को छिपाती नहीं थी—छिपा सकती ही नहीं थी। जो कुछ वह महसूस करती थी, वही बात अक्सर उसकी ज़बान पर भी आ जाती थी। छिपाने का प्रयत्न उसके लिए एक बहुत बड़ा प्रयास था।

जिस दिन हमने हरबंस को विदा किया, उस दिन हल्की-हल्की फुहार पड़ रही थी। स्टेशन पर आने

से पहले हरबंस मुझे अपने साथ एक जगह ह्विस्की पीने के लिए ले गया। वहाँ जाज़ चल रहा था और हमें सीट भी ऐसी मिली कि अपनी कही हुई बात अपने को ही सुनायी नहीं देती थी। हम लोगों ने ह्विस्की का एक-एक पेग ख़ामोश रहकर पिया। जब दूसरा पेग भी आधा-आधा पी चुके और हमारी आँखें सुर्ख होने लगीं, तो हरबंस ने कहा, "देखो, ज़िन्दगी में आदमी कैसे फ़ैसला करता है!"

मैंने सुना कि वह कह रहा है कि ज़िन्दगी में आदमी कैसे हौसला करता है। "किस चीज़ का हौसला?" मैंने पूछा।

“मैं आज यहाँ से जा रहा हूँ।” वह बोला, “शायद हमेशा के लिए! यह इतना बड़ा फ़ैसला कितनी आसानी से हो गया!”

“तुम सचमुच समझते हो कि यह फ़ैसला बहुत आसानी से हो गया है?” मैंने कहा।

“बिल्कुल आसानी से।” वह बोला, “जब तक मैंने फ़ैसला नहीं किया था, तब तक मेरे मन में उलझन थी। अब कोई उलझन नहीं है।”

“अगर सचमुच तुम्हारे मन में कोई उलझन नहीं है, तो मुझे इसकी ख़ुशी है।”

“तुम्हें ख़ुशी है न?” वह बोला, “मैं जानता था तुम्हें ख़ुशी होगी।”

मुझे लगा कि मैं बात का सूत्र ठीक से पकड़ नहीं पाया, “तुम क्या बता कर रहे हो?” मैंने कहा।

“मैं तुम्हारी ख़ुशी की बात कह रहा हूँ।” वह बोला, “मुझे पता था तुम्हें ख़ुशी होगी।”

“किस बात की ख़ुशी?” मैंने फिर बात का सूत्र पकडऩे की कोशिश की।

“मेरे जाने की! और किस बात की?” उसने आख़िरी घूँट भरकर गिलास रख दिया और सहसा उठ खड़ा हुआ, “आओ चलें...।”

उसकी बात का सूत्र तब तक मेरी पकड़ में नहीं आया जब तक हम बाहर आकर टैक्सी में नहीं बैठ गये। तब तक मुझे अपना आपा ह्विस्की की वजह से काफ़ी हल्का लग रहा था, मगर बात का सूत्र पकड़ में आते ही मेरे मन पर ही नहीं, शरीर पर भी एक भारीपन छाने लगा। तो क्या...नीलिमा जो बात सोचती थी, वह सच थी? हरबंस को जीवन भार्गव से ही नहीं, मुझसे भी ईर्ष्या थी? उस हर व्यक्ति से ईर्ष्या थी जो किसी भी तरह शुक्ला के निकट रह सकता था?

“तुम यह कैसे कह रहे थे कि मुझे तुम्हारे जाने की ख़ुशी है?” मैंने उसका हाथ पकड़ लिया। मैं उसके जाने से पहले उस पर अपनी पारसाई की छाप बैठा देना चाहता था, “तुम ऐसी बात सोच भी कैसे सकते हो?”

उसने मेरी तरफ़ एक अभियोगपूर्ण दृष्टि से देखा और कन्धे हिला दिये, “मैं जा रहा हूँ और कभी लौटकर नहीं आऊँगा।” उसने कहा, “आज मैं हमेशा के लिए इस शहर से विदा ले रहा हूँ। आज से इस शहर और इसकी ख़ुशियों में मेरा कोई हिस्सा नहीं होगा।”

“क्या इसका यही मतलब नहीं कि तुम जाना न चाहते हुए भी ज़बरदस्ती जा रहे हो?”

उसने मुँह बिचकाकर कन्धे हिला दिये और टैक्सी के मीटर को देखने लगा।

“अगर तुम ऐसे ही महसूस करते हो तो रुक क्यों नहीं जाते?”

उसने एक बार घूरकर मेरी तरफ़ देखा और एक हल्की-सी ‘हुँह’ के बाद उसी तरह टैक्सी के मीटर को देखता रहा।

“सच, अभी तो कुछ नहीं बिगड़ार।” मैंने कहा, “तुम्हारा टिकट अब भी वापस हो सकता है और...।”

“टिकट वापस नहीं हो सकता।” वह बोला, “मैंने वापस करने के लिए टिकट नहीं ख़रीदा था।”

“मगर मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि तुम्हारा जाने को मन नहीं है।”

“तुम मेरे मन की बात मुझसे ज़्यादा जानते हो?” वह बोला, “मैं जानता हूँ कि मैं ज़िन्दगी में क्या

चुन सकता हूँ और मुझे क्या चुनना चाहिए। यह भी जानता हूँ कि मेरे आसपास की दुनिया में किसे मेरी ज़रूरत है और किसे नहीं है। मैं सब कुछ जानता हूँ। खूब अच्छी तरह जानता हूँ। हर एक को जानता हूँ। खूब अच्छी तरह जानता हूँ।”

खिडक़ी से फुहार के साथ बहुत ठंडी हवा आ रही थी। मैं खिडक़ी का शीशा चढ़ाने लगा, मगर टैक्सी तब तक हनुमान रोड पर पहुँच गयी।

उसके बाद हरबंस से मेरी अलग से कोई बात नहीं हुई। स्टेशन पर उसे छोडऩे के लिए हम तीन व्यक्ति ही गये थे—नीलिमा, शुक्ला और मैं। और लोगों को हरबंस ने स्वयं ही मना कर दिया था कि उस खराब मौसम में किसी को स्टेशन पर आने की ज़रूरत नहीं। अपनी माँ और बहन-भाइयों से भी वह घर पर ही मिल आया था और उन्हें भी स्टेशन पर आने से मना कर आया था। यह शायद उसकी सनक ही थी, या शायद वह जाते समय अपने आसपास ज़्यादा भीड़ नहीं देखना चाहता था। गाड़ी के चलने तक हम तीनों के बीच भी वह जैसे बिल्कुल अकेला और पराया-सा ही खड़ा रहा। किसी से भी उसने ज़्यादा बात नहीं की। गाड़ी स्टेशन से दस मिनट लेट चली और वे दस मिनट उसने बहुत ही बेचैनी में काटे। कभी वह घड़ी की तरफ़ देखता, कभी सिग्नल की तरफ़ और कभी अपने जूते के फ़ीते को खोलकर बाँधने लगता। भाप छोड़ते हुए इंजन की तरफ़ वह बार-बार इस तरह देखने लगता जैसे गाड़ी को लेट करने का दोष उसी पर हो। आख़िर जब गार्ड ने सीटी दी, तो उसने एक बार मुस्कराकर हम सबकी तरफ़ देखा और फिर चुपचाप गाड़ी में सवार होकर दरवाज़े के पास खड़ा हो गया। वहाँ से वह इस तरह इंजन की तरफ़ देखने लगा जैसे उसे याद ही न हो कि कोई उसके साथ उसे छोडऩे के लिए भी आया है।

“जाती बार तुम ठीक से मिलकर भी नहीं जाओगे?” नीलिमा ने कुछ चोट खाये स्वर में उससे कहा। वह काफ़ी देर से बहुत गम्भीर दृष्टि से उसके चेहरे की तरफ़ देख रही थी।

वह बहुत खोया-खोया-सा जल्दी से गाड़ी से उतरा। पहले उसने मुझसे हाथ मिलाया। फिर उसने नीलिमा का हाथ पकड़ा, तो वह उसके गले में बाँहें डालकर उससे लिपट गयी। उसी तरह शुक्ला भी उसके गले में बाँहें डालकर उसे मिली।

तभी इंजन की चीख वातावरण में फैल गयी। हरबंस ने एक झटके के साथ शुक्ला को अपने से अलग किया और जल्दी से फिर गाड़ी के दरवाज़े पर जा खड़ा हुआ। इंजन ने दो-एक बार फफककर भाप छोड़ी, पटरियों पर पहिये चिलके, और एक हल्के-से झटके के साथ गाड़ी चल पड़ी। मैं न जाने क्यों गाड़ी के चलने तक अपने मन में कहीं आशा कर रहा था कि हरबंस नहीं जाएगा, नहीं जाएगा; जब गाड़ी चलने लगेगी, तो वह अचानक अपना मन बदलकर उतर पड़ेगा। मगर वह अपनी जगह पर उसी तरह खड़ा रहा, गाड़ी की चाल धीमे से तेज़ होती गयी और कुछ ही देर में प्लेटफॉर्म खाली रह गया।

गाड़ी प्लेटफॉर्म से निकल गयी तो नीलिमा हम दोनों से पहले गेट की तरफ़ चल दी। मैंने उसकी तरफ़ देखा कि शायद उसकी आँखों मे कहीं आँसू अटके हों। मगर उसकी आँखें बिल्कुल सूखी थीं और चेहरे के भाव में भी विशेष अन्तर नहीं था। शायद वह अपने मन के भाव को बाहर प्रकट नहीं होने देना चाहती थी। अचानक मेरे कानों में सुबकने की सी आवाज़ पड़ी, तो मैंने चौंककर फिर उसकी तरफ़ देखा। वह अपने स्वाभाविक अन्दाज़ में उसी तरह चल रही थी और कहीं कोई अन्तर नहीं था। तभी मेरी नज़र शुक्ला पर पड़ी। मैंने देखा कि उसकी आँखें भीगी हैं और उसके होंठ भी ज़रा-ज़रा हिल रहे हैं। मुझे नीलिमा की स्थिरता उस समय अच्छी नहीं लगी। क्या सचमुच उसे हरबंस के चले जाने से कोई अन्तर नहीं पड़ा था, या उसकी स्थिरता एक अभिनय थी—केवल एक कुशल अभिनय? यह भी सम्भव था कि वह केवल यह दिखाना ही चाहती थी कि वह किसी भी स्थिति में अपने को विचलित नहीं होने देती; हर स्थिति में अपने पर पूरा काबू रख सकती है। या शायद कमज़ोर पडक़र वह अपने उस विश्वास को खोना नहीं चाहती थी जिसकी वह मेरे सामने

घोषणा कर चुकी थी। क्या उसे पता था कि हरबंस कभी लौटकर वहाँ न आने का निश्चय करके गया है? या कि उसका विश्वास उस जानकारी से कहीं बड़ा था? या उसे इसकी परवाह ही नहीं थी और वह अपने को पूरी तरह अपने ही ऊपर निर्भर मानती थी? उसकी सधी हुई चाल, तनी हुई गरदन और चमकती हुई आँखें—कुछ भी तो उस समय की स्थिति के अनुकूल नहीं था। क्या सचमुच उसमें वह दुर्बलता नहीं थी जो हर स्त्री में होती है?

हम अभी बाहर निकले ही थे कि स्टेशन के टैक्सी स्टैंड से मुझे एक परिचित आकृति अपनी ओर आती दिखायी दी। मैं उसे देखकर चौंक गया, मगर नीलिमा और शुक्ला को उसे देखकर आश्चर्य नहीं हुआ। सुरजीत जैसे वहाँ खड़ा हमारे बाहर निकलने की ही प्रतीक्षा कर रहा था।

वह बहुत तेज़-तेज़ चलता हुआ हमारे पास आ गया। उसके ताजा कटे हुए बाल बारिश में भीग रहे थे। वह कुछ घबराया हुआ-सा बोला, "गाड़ी चली गयी?"

"हाँ," नीलिमा ने कहा, "गाड़ी तो दस मिनट लेट गयी है।"

"मुझे गाड़ी के वक़्त का ठीक पता नहीं था।" वह जल्दी-जल्दी और बहुत व्यस्त ढंग से बोला, "मैं अन्दाज़े से ही टैक्सी लेकर आया हूँ। एक चाय पार्टी थी, वहाँ से उठने-उठने में ही देर हो गयी। मैं उनसे कहता भी रहा कि मेरे एक दोस्त को बाहर जाना है, इसलिए मुझे जल्दी उठ जाने दो। मगर तुम्हें इन पार्टियों का पता ही है। लोग विदा लेने-देने में ही एक घंटा लगा देते हैं।"

"ख़ैर, गाड़ी तो अब चली ही गयी है।" नीलिमा ने जैसे बात को समाप्त करने के लिए कहा।

"मुझे बहुत अफ़सोस है कि इतनी जल्दी करके भी लेट हो गया," वह बोला, "अच्छा, अब तुम लोगों का क्या प्रोग्राम है? तुम्हें सीधे घर ही चलना है न?"

उसके हाथ जल्दी-जल्दी हिल रहे थे और वह बात करते थोड़ा हकला भी रहा था। उसके चौड़े-चकले चेहरे पर इतनी व्यस्तता और घबराहट मैंने पहले नहीं देखी थी। वह जैसे सचमुच एक अफ़रा-तफ़री में था और उसे समझ नहीं आ रहा था कि उसे क्या करना चाहिए?

"हाँ, अब घर ही चलना है, और हम कहाँ जाएँगी?" नीलिमा ने कहा।

"और तुम?" सुरजीत ने पहली बार यह ज़ाहिर किया कि उसे मेरी उपस्थिति का भी पता है, "तुम भी हमारे साथ ही चलोगे या...?"

"मैं सदर की तरफ़ रहता हूँ, इसलिए मैं अलग से चला जाऊँगा।" मैंने कहा।

"अच्छा!" और उसने तुरन्त मेरी तरफ़ हाथ बढ़ा दिया। नीलिमा ने चलते-चलते मुझसे कहा, "देखो, हरबंस चला गया है, इसका यह मतलब नहीं कि तुम अब दिखायी देना ही बन्द कर दो।"

"यह कैसे हो सकता है?" मैंने खोखली आवाज़ में कहा।

"अच्छा!" सुरजीत ने मेरा हाथ हिला दिया और टैक्सी-स्टैंड की तरफ़ चल दिया। शुक्ला ने किसी से भी बात नहीं की। वह पहले जड़-सी खड़ी रही और जब चलने की बात आयी, तो चुपचाप चल दी। मैं अपनी जगह पर रुका रहा। वे लोग टैक्सी लेकर चले गये, तो भी मैं कुछ देर वहीं फुहार में भीगता रहा। फुहार की बूँदें बिना शब्द किये, बिना चोट किये, मुझे बाहर से अन्दर तक भिगोती रहीं और मैं न जाने उस भीगी हवा में क्या ढूँढ़ता खड़ा रहा। मेरे आसपास कई लोग आ-जा रहे थे, मगर मेरे लिए वहाँ जैसे कोई भी नहीं था। गाडिय़ों की एक भीड़ स्टेशन के अहाते में से गुज़र रही थी, मगर मेरे लिए उनकी चमकती हुई बत्तियों और गुर्राते हुए इंजनों का जैसे अस्तित्व ही नहीं था। मैं रुका हुआ था, तो मेरे साथ मेरे अन्दर और बाहर सभी कुछ रुका हुआ था। आसपास जो कुछ था, वह एक चौखट में जड़ा हुआ दृश्य था जो उस चौखट से बाहर नहीं निकल पाता था। हर चीज़ अपनी गति के बावजूद उस चौखट में कसी हुई थी। मैं फुहार में भीगता रहा और यह सोचने की चेष्टा करता रहा कि मैं क्या सोच रहा हूँ! क्या मुझे किसी चीज़ की ज़रूरत महसूस हो रही थी? क्या मुझे भूख लग आयी थी? या, क्या मुझे सरदी लग रही थी और मैं उस सरदी से बचना चाह रहा था? आखिर वह अनुभूति क्या थी? जड़ता या विह्वलता? और विह्वलता कैसी? मेरे चारों तरफ़ से एक भरी-पूरी, ठसाठस लदी हुई, दुनिया गुज़र रही थी और मैं अपने अन्दर एक अभाव का, एक शून्य का अनुभव कर रहा था। वह अभाव क्या था? वह शून्य कहाँ था?

मैंने तय कर लिया कि मैं नौकरी छोडक़र दिल्ली से चला जाऊँगा। दिल्ली छोड़े बिना मेरी उन धुन्ध के गोलों से मुक्ति नहीं हो सकती। हालाँकि आगे के लिए सब कुछ अनिश्चित था और दिल्ली छोडक़र गाँव चले जाने से केवल नई समस्याएँ ही खड़ी हो सकती थीं, फिर भी मुझे अपने को सँभालने का यही एक उपाय नज़र नहीं आता था। मेरे पास जीवन के जो सीमित साधन थे, उनमें मुझे यह कदापि सम्भव नज़र आता था कि मैं उस पंक्ति में और लोगों से आगे आ सकता हूँ; मेरे अन्दर ऐसी आशा करने का साहस ही नहीं था। और मैं अपने को जीवन भार्गव की स्थिति में नहीं देखना चाहता था। मुझे उस कल्पना से ही ग्लानि होती थी। मैं यह सोच ही नहीं सकता था कि मैं उस तरह की स्थिति में से गुज़रकर भी आईने में अपना चेहरा देख सकता हूँ। जीवन भार्गव तो उसके बाद एब्स्ट्रेक्ट पेंटिंग की दुनिया को छोडक़र इंडस्ट्रियल डिज़ाइनर बन गया था, मगर मैं ज़रूर उसके बाद अपने को बिल्कुल एब्स्ट्रेक्ट में ले जाता। इसलिए मैंने तय कर लिया कि जितने दिन मैं दिल्ली में हूँ, उतने दिन भी मुझे उन लोगों से दूर ही रहना चाहिए। मैं न केवल नीलिमा के बुलाने पर भी उनके घर नहीं गया, बल्कि मैंने शाम को नई दिल्ली घूमने जाना भी बन्द कर दिया। मैं नहीं चाहता था कि मैं वहाँ जाऊँ और सुरजीत उसी अन्दाज़ में यह कहकर कि 'शो' में देर हो रही है, उठ खड़ा हो और नीलिमा भी मुझसे फिर कभी मिलने के लिए कहकर साथ ही उठ जाए, और शुक्ला चलते-चलते मुझसे रास्ते पर उगे हुए पेड़ के पत्तों को सहलाने की तरह कहे,

“अच्छा जी!” मेरे लिए वह स्थिति उतनी ही असह्य थी जितनी भार्गव के बहाये हुए आँसुओं की याद। जब नीलिमा ने मुझे बताया था कि भार्गव शुक्ला के सामने बैठकर आँसू बहाता रहा है, तो मैं मन ही मन एक बार उस स्थिति पर हँस लिया था, “उस जनखे के साथ यही होना चाहिए था।” मैंने सोचा था। यह कोई बात थी कि मर्द होकर वह एक लडक़ी के सामने बैठकर आँसू बहाता रहा! मगर अब उसकी बात सोचकर मेरे मन में सहानुभूति उमडऩे लगती थी और मेरा अपना मन भी भर आता था। बल्कि मैं मन ही मन भार्गव की कुछ कद्र करने लगा था कि कम से कम उसमें इतना साहस तो था कि उसने अपने मन की बात बाहर प्रकट कर दी थी और एक हद तक वह अपनी कामना में सफल भी हो गया था। अगर हरबंस बीच में अड़चन न डाल देता, तो क्या अधिक सम्भव यह नहीं था कि सन् बावन की सर्दियों तक शुक्ला का उससे ब्याह हो जाता और उस साल वह पहाड़ से हमें अपने हनीमून की तस्वीरें भेजता? दूसरी तरफ मैं था जो लोगों की उपस्थिति में चेहरे पर एक खोल चढ़ाये रखता था, एक झूठी हँसी हँसता था, एक झूठी उपेक्षा प्रकट करता था, और इस तरह हर समय अपने को एक यन्त्रणा में रखता था। क्या इस झूठ को मैं अपनी सहिष्णुता कह सकता था?

उन रातों को मुझे अपनी कोठरी का वातावरण भी रुका हुआ और उदास प्रतीत होता था। जीवन के पहले के अभाव इस नए अभाव के कारण और भी बड़े प्रतीत होते थे। वह आदमी, जिसे कुल एक सौ आठ रुपये तनखाह मिलती थी और उसमें से भी उसे अस्सी रुपये महीना घर पर अपनी विधवा माँ और भाई-बहनों के खर्च के लिए भेजना होता था, इस परिस्थिति में सिवाय एक व्याकुलता का अनुभव करने के और कर भी क्या सकता था? मुझे अपने में साहस की कमी अखरती थी, मगर वह साहस मुझे केवल दूसरों की हँसी का विषय ही तो बना सकता था! रात को इबादत अली सितार बजाने लगता, तो भी मुझे अपने मन में किसी पुलक का अनुभव न होता, बल्कि उससे उदासी और भी गहरी हो जाती, नींद और भी उड़ जाती, शून्य और भी बड़ा होने लगता। मैं आँखें खोलकर पड़ा रहता और छत को देखता रहता, यहाँ तक कि गली में सुबह जल्दी उठनेवाले लोगों का आना-जाना आरम्भ हो जाता। सुबह के करीब कहीं मेरी आँख लग पाती। मगर मुझे गहरी नींद कभी नहीं आती थी। एक सपना था जो बार-बार दिखायी देता था, हर रात को दिखायी देता था और कई रातों को तो कई बार दिखायी देता था। मैं देखता कि एक बड़ा-सा इंजन है, जिसके पीछे गाड़ी के कई-एक डिब्बे लगे हैं। वह इंजन पटरी से उतरकर चलता है। वह घने जंगलों से गुजरता है, लम्बी सुरंगों में से होकर जाता है और गाड़ी को एक प्लेटफॉर्म से दूसरे प्लेटफॉर्म पर भी ले जाता है, मगर पटरी पर नहीं आता। मुझे हर समय लगता रहता है कि वह अभी गिरा, कि अभी गिरा अभी उलटा और सब कुछ चकनाचूर हुआ, मगर न जाने कैसे गिरते-गिरते उसका सन्तुलन फिर ठीक हो जाता है और वह उसी तरह बिना पटरी के अपने रास्ते पर चला चलता है। मैं बहुत चाहता हूँ कि वह पटरी अब चढ़े, अब चढ़े, और कई बार सोचता हूँ कि थोड़ी दूर और जाकर उसे पटरी मिल जाएगी, मगर वह पटरी के पास पहुँचकर भी नीचे ही चलता है, उसके ऊपर नहीं जाता। मैं अपने को इंजन में बैठे हुए ही पाता हूँ। मेरा शरीर आग की भभक से तपता रहता है; इंजन की गति को मैं एक खतरे की आशंका के साथ महसूस करता हूँ, उसके हर मोड़ को उसी आशंका के साथ देखता हूँ मगर कुछ कर नहीं पाता।

मैं उस सपने से बहुत परेशान रहता था और रात को कई-कई बार जागकर यह निश्चय करता था कि मैं इंजन में नहीं, अपनी कोठरी में हूँ जो कि जहाँ की तहाँ खड़ी है और पटरी पर या बिना पटरी के किसी भी तरह अपनी जगह से नहीं चलती। मैं तब साथ सोये हुए अरविन्द की तरफ देखता और मुझे उससे चिढ़ होने लगती कि मेरी तरह वह सपना उसे भी क्यों नहीं दिखायी देता। मुझे अरविन्द से इस बात की भी ईर्ष्या होती कि उसके जीवन में मेरे जितनी समस्याएँ क्यों नहीं हैं, और उसे हर रोज़ इतनी गहरी नींद क्यों आ जाती है। मुझे बल्कि अरविन्द से ही नहीं, हर ऐसे व्यक्ति से ईर्ष्या होने लगती जिसे तकिये पर सिर रखते ही नींद आ जाती हो और जिसे रात को कभी एक के बाद दो और दो के बाद तीन के घंटे न सुनने पड़ते हों। रात को दूर से मुझे इंजन की

चीख या गाड़ी के चलने की आवाज़ सुनायी देती, तो भी मैं घबराकर उठ जाता कि कहीं यह वही गाड़ी न हो। जहाँ यह जानकर मन आश्वस्त होता कि वह गाड़ी दूसरी है, वहाँ इस बात से मन निराश भी होता कि दुनिया की और सब गाडिय़ाँ ठीक से अपनी पटरी पर चलती हैं तो मेरे सपने की गाड़ी ही क्यों हमेशा पटरी से उतरी रहती है!

दिन गुज़र रहे थे। दफ़्तर में काम दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा था। या शायद मुझे ही लगता था कि काम बढ़ता जा रहा है, क्योंकि मैं अपना काम कभी वक़्त से पूरा नहीं कर पाता था। उस मन:स्थिति में मेरे लिए दिन और वार सब निरर्थक से थे और मुझे कुछ अनुमान नहीं था कि समय बहुत धीरे-धीरे बीत रहा था या बहुत जल्दी-जल्दी बीत रहा था। समय समय है और बीत रहा है, इसी का अहसास मुझे नहीं था। मेरे लिए महीने के तीसों दिन एक दिन के बराबर थे और एक दिन तीस दिनों के बराबर, क्योंकि उनमें सब कुछ एक-सा और एक तरह का था और अगर कहीं गति थी, तो उस पटरी से उतरे हुए इंजन में थी जो कि न सँभलता था, न ही रुकने में आता था। मैं तो यहाँ तक चाहता था कि वह इंजन एक बार गिरकर टूट-फूट ही जाए, तो झंझट मिटे, मगर मेरे चाहने से यह भी तो नहीं होता था...? आख़िर हालत यहाँ तक पहुँच गयी कि मैंने नींद की टिकियाँ लेकर सोना शुरू कर दिया।

दिन में हल्की-हल्की गरमी होने लगी थी और रात को क़स्साबपुरा में भी जो हवा आती थी, उसमें जाने कहाँ से रात की रानी की गन्ध मिल जाती थी! वसन्त की रातों के शरीर से उठती हुई वह सोंधी गन्ध हर उम्र में मेरे मन पर एक अलग प्रभाव डालती रही है। उम्र के साथ जैसे चेहरा बदलता है वैसे ही शायद मन की दुनिया का बाहर की दुनिया के साथ सम्बन्ध भी बदल जाता है, और वही चीज़ें जिनकी मन पर कभी एक प्रतिक्रिया होती थी, आगे चलकर मन पर और ही तरह की प्रतिक्रिया उत्पन्न करने लगती हैं। जाने उम्र के बढने के साथ मन में कहाँ और क्या बदल जाता है कि वे पहले की अनुभूतियाँ अपनी होती हुई भी बहुत दूर की लगने लगती हैं, जैसे कि उनका अस्तित्व हमारे व्यक्तित्व का एक भाग न होकर आईने में दीखते हुए चेहरे—जैसे किसी और ही व्यक्तित्व का भाग हो—चलती गाड़ी में सैकड़ों मील पीछे छूटे हुए, धुन्ध में लिपटे शहरों की तरह उनका अस्तित्व केवल उनके आभास में ही हो! बचपन में रातरानी की गन्ध मन में एक विस्मय भर देती थी—पहाड़ी मज़दूरों के डेरे से आती हुई बाँसुरी की आवाज़ से मन की ज़मीन बहुत कोमल हो उठती थी और मन के अन्दर से जाने कौन-कौन-से अंकुर बाहर फूटने के लिए व्याकुल होने लगते थे। विस्मय की उस उम्र में उस गन्ध में भीगा हुआ आकाश अपना सहयोगी लगता था और उसमें टिमटिमाते हुए तारे उसके हल्के-हल्के संकेत। आकाश नीचे को झुका-झुका लगता था और आँखें उसमें बादलों के पशु और बादलों के दैत्य बनाती और मिटाती रहती थीं। फिर जब कॉलेज में पढ़ते थे, उन दिनों उस गन्ध का एक और ही अर्थ हो गया था। बैडमिंटन कोर्ट में सामने से आती हुई चिडिय़ा को ज़ोर से ज़मीन पर दे मारने के लिए कलाई घूमती थी, तो सूर्यास्त के वातावरण की वह गन्ध मन में एक विचित्र पुलक और उत्साह भर देती थी। लगता था कि दुनिया का सब कुछ अपने और केवल अपने लिए है—अपने ही लिए सूर्य उगता है, धूप ढलती है और हवा चलती है। कलाई तब तक घूमकर सामने से चिडिय़ा को रास्ते में पा लेती थी और एक सामूहिक आवाज़ उस सुगन्धित वातावरण में गूँज जाती थी, “शॉट!” मगर अब वही गन्ध न जाने कितनी गलियां और मुहल्ले लाँघकर क़स्साबपुरा की उस कोठरी में आती हुई, अनायास ही मन को उदास कर देती थी—जाने कितनी-कितनी गीली परतें मन पर घिर आती थीं और अपना आप एक अवश भारीपन से दबा-सा, टूटता-सा लगता था। अरविन्द कहता था कि यह फ्लू की वजह से है, इसलिए इन दिनों एहतियात से रहना चाहिए।

उस दिन भी इतवार था। मैं हर इतवार की तरह नौ बजे उठकर तब तक नहाया नहीं था। बाहर गली में सब्ज़ी बेचनेवालों ने वही हो-हल्ला मचा रखा था और उनके साथ, उनके ग्राहकों की 'कें-कें में-में' चल रही थी। ड्योढ़ी से आता हुआ धुआँ कोठरी में भर रहा था। तभी एक सजी-सँवरी आकृति आकर कोठरी के दरवाज़े के पास खड़ी हो गयी, तो मैं सहसा उसे पहचान नहीं सका। मैंने सोचा कि वह भी ठकुराइन की रामायण की ही कोई उर्मिला या मांडवी होगी। मगर जब उसने मेरा नाम लेकर पूछा, तो मैं एकदम चौंक गया। नीलिमा मुझे पूछती हुई वहाँ आ सकती है, इसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। मुझे शरम भी आयी, क्योंकि मैं जो बनियान पहने था, वह तीन जगह से फटी हुई थी और लगातार तीन-चार दिन पहनने से काफ़ी मैली भी हो रही थी। मुझे मन में बहुत अफ़सोस हुआ कि मैंने अपना नहाने का इरादा दूसरे दिन पर मुलतवी क्यों नहीं कर दिया जैसे कि मैं करने की सोच रहा था। उससे कम से कम मैं अपनी कमीज तो पहने होता जिससे वह बनियान छिपी रहती।

"देखिए, मधुसूदन यहीं पर रहते हैं?" नीलिमा ने भी पहले मुझे नहीं पहचाना और मुझसे न पूछकर जैसे किसी अनजबी से ही पूछा। यह विश्वास करने में उसे कुछ समय लगा कि उसके सामने खड़ा बनियानवाला आदमी मैं ही हूँ।

"नीलिमा, तुम?" मैंने अपनी घबराहट को छिपाने की चेष्टा में खासी बेतकल्लुफी के साथ कहा, "तुम यहाँ कैसे पहुँच गयीं?" मगर उसके कुछ कहने से पहले ही मुझे इस सवाल का जवाब मिल गया था। अपनी नीले पन्नोंवाली डायरी उसने खोलकर हाथ में ली हुई थी।

"तुम यहाँ रहते हो?" वह पाँव रखने की पटरी से उचककर कोठरी में आ गयी, "उफ़! यह कैसी जगह तुमने ले रखी है!"

"मैं भाई गरीब आदमी हूँ।" मैं अपने संकोच को छिपाने की चेष्टा में एक हाथ बगल में दबाये हुए खूँटी से कमीज उतारकर पहनने लगा।

"मैं कभी सोच भी नहीं सकती थी कि तुम ऐसी जगह पर रहते हो।" वह बोली, "मैंने समझा था कि क़स्साबपुरा कोई अच्छीख़ासी बस्ती होगी। इट्स हॉरीबल! ऐसी जगह पर इन्सान रह कैसे सकता है?"

"कैसे रह सकता है?" मैं थोड़ा हँसा, "तुमने देखा नहीं कि यहाँ कितने लोग रहते हैं? ऐसी जगहें रहने के लिहाज़ से बहुत लोकप्रिय होती हैं। यहाँ आठ फुट और दस फुट के रक़बे में एक-एक पूरा परिवार रहता है।"

"इट्स हॉरीबल!" उसने फिर कहा और जाने सचमुच सिहर गयी, या उसने सिहरने का अभिनय किया। मैंने ड्योढ़ी के दरवाज़े की तरफ़ देखा, तो वहाँ से ठकुराइन, गोपाल की माँ और कई छोटी लड़कियाँ कोठरी में झाँक रही थीं। मेरी नज़र पड़ते ही वे सब दरवाज़े के पास से हट गयीं, सिर्फ़ ठकुराइन वहाँ खड़ी रही।

"लाला, कुछ चाय-वाय बनाऊँ?" ठकुराइन $गौर से नीलिमा के चेहरे को देखती हुई कोठरी में आ गयी।

"नहीं भाभी," मैंने कहा। घबराहट में मेरा हाथ सन्दूक पर रखी हुई लालटेन को जा लगा जिससे वह नीचे गिरकर टूट गयी। "ओह!" मैंने कहा, "तुम्हारी लालटेन टूट गयी, भाभी!" और मैं सहसा बैठकर टूटे हुए काँच के टुकड़े बटोरने लगा।

"टूट गयी, तो क्या हुआ?" ठकुराइन अचानक ही बहुत ऊँची उठकर बोली, "छ: आने की चिमनी है, ये जाकर और ले आएँगे।" यह ठकुराइन ने शायद इसलिए कहा कि उसके 'ये' उस समय

ड्योढ़ी से गुज़र रहे थे और उनकी आँखें इस तरह दायें को मुड़ी हुई थीं जैसे मार्च पास्ट करते समय सिपाहियों की मुड़ी रहती हैं। 'ये' ड्योढ़ी से गुज़रकर गली में पहुँच गये, तो भाभी स्वयं बैठकर काँच बटोरने लगी। मेरा हाथ पकडक़र उसने मुझे उठा दिया, "तुम क्यों ये शीशियाँ उठाते हो, लाला?" वह बोली, "तुम रहने दो, मैं सब उठा दूँगी। तुम्हारी मेज़बान आयी हैं (ठकुराइन न जाने क्यों मेहमान को मेज़बान कहती थी!)। तुम इनसे बात करो।"

"तुम जल्दी से तैयार हो जाओ और मेरे साथ चलो।" नीलिमा कुछ उतावली के साथ बोली, "मुझे तुमसे कुछ ज़रूरी बात करनी है।"

"मैं अभी एक मिनट में तैयार हुआ।" कहकर मैंने किताबों के नीचे से अपना मुचड़ा हुआ सीलदार तौलिया निकाला और अन्दर पम्प की तरफ़ भाग गया। जब तक मैं तैयार हुआ तब तक घर के किरायेदारों और कुछ मुहल्लेदारों की भीड़ ड्योढ़ी में जमा होकर अचम्भे के साथ नीलिमा को देखती रही और उनमें न जाने क्या खुसर-पुसर चलती रही। मैं शायद ही कभी इतनी जल्दी तैयार हुआ हूँगा, जितनी जल्दी उस दिन हुआ। मगर फिर भी मुझे लगता रहा कि मुझे तैयार होने में बहुत समय लग रहा है और मुझे अपने आस-पास की हर चीज़ पर गुस्सा आता रहा। मैंने जल्दी में सिर पर तेल भी नहीं लगाया और ऐसे ही रूखे बालों पर कंघी कर ली। तेल के लिए मुझे ठकुराइन से कहना पड़ता और मुझे पता था कि जिस गिलास में ठकुराइन तेल रखी है, वह महीनों के मैल से काला पड़ा हुआ है। कंघी एक तरफ से टूटी हुई थी, मगर मैं उस पूरे हिस्से को ही हाथ में पकड़े रहा जिससे वह दिखायी न दे। आईने में तीन जगह दरारें पड़ी थीं, इसलिए मैंने उसे भी इस्तेमाल नहीं किया। जब मैं बिल्कुल तैयार हो गया, तो मुझे पता चला कि ठकुराइन ने पत्ती, दूध और चीनी मिलाकर हमारे लिए चाय पतीली में चढ़ा रखी है। मैंने बड़ी मुश्किल से ठकुराइन को बताया कि इस समय हम चाय नहीं पियेंगे। चलते समय ठकुराइन ने मुझे अपनी कोठरी में बुला लिया और बहुत धीरे से पूछा, "क्यों लाला, ये तुम्हारी बम्बई की कोई हैं?"

"नहीं भाभी, यहाँ मेरे एक दोस्त हैं, उनकी पत्नी हैं," मैंने कहा और जल्दी से चलने को हुआ।

"बाहर जा रहे हो?" ठकुराइन ने मुझे हाथ से पकडक़र रोक लिया, "साथ में कुछ पैसा-वैसा तो नहीं चाहिए?" और वह झट से अपने रूमाल की गाँठ खोलने लगी, "मेरे पास हैं चार-पाँच रुपये, चाहिए, तो ले जाओ।"

"नहीं भाभी, मेरे पास हैं पैसे।" मैंने फिर उसी तरह जल्दी में कहा और बाहर निकल आया। जब हम लोग गली में आये, तो ड्योढ़ी की भीड़ उसी तरह उचककर गली में देखने लगी। खोमचों के पास खड़ी भीड़ की नज़रें भी हमारी तरफ घूम गयीं। नीलिमा सिर से पैर तक बहुत चुस्त कपड़े पहने थी; उसके बाल बहुत ढंग से बने हुए थे और उसके चेहरे का मेकअप उस सारे वातावरण में बहुत अलग और बहुत विचित्र लग रहा था। उसके कानों में जो सोने की बालियाँ थीं, वे भी उस समय बहुत ही बड़ी लग रही थीं। नीलिमा ने चलते-चलते मुझसे कहा, "मुझे पता होता कि मुझे ऐसी जगह पर आना है, तो मैं कभी न आती। जब तुम नहाने चले गये थे, तो एक मोटी-सी औरत पता है मुझसे क्या पूछ रही थी? पूछ रही थी कि तुम इन बाबू साहब की क्या लगती हो!"

मुझे हँसी आ गयी। "तो तुमने क्या कहा?" मैंने पूछा।

“मैंने यही कहा कि तुम हमारे दोस्त हो। और क्या कहती?”

मुझे लगा कि पूछनेवाली औरत गोपाल की माँ ही रही होगी। मुझे फिर हँसी आने को हुई, क्योंकि जिन दिनों मुझे बुखार चढ़ा था और मैं दिन-भर कोठरी में अकेला पड़ा रहता था, उन दिनों गोपाल की माँ कभी-कभी अचानक ही मेरे सिर पर आ खड़ी होती थी और आँखों से मेरे शरीर को निगलती हुई-सी कहा करती थी, “लालाजी, दिल्ली में तुम्हारी कोई दोस्त भी नहीं है जो बीमारी के दिनों में आकर तुम्हारा सिर दबा दिया करे?” और फिर कहती थी, “मैं दबा दूँ?” और मैं बड़ी खुशामद से उसे सिर दबाने से रोकता था।

“ये जितनी औरतें और लड़कियाँ ड्योढ़ी में खड़ी थीं, वे सबकी सब इसी घर में रहती हैं?” नीलिमा ने पूछा।

“यही क्यों, इनके बाप-भाई और दूसरे बच्चे भी हैं।”

“इतने लोग एक साथ एक घर में रहते हैं?”

मुझे उसका इस तरह पूछना अच्छा नहीं लगा। क्या सचमुच वह इस ज़िन्दगी से इतनी दूर थी कि उसे इसका पता ही नहीं था, या वह सिर्फ़ बनने की चेष्टा कर रही थी?

“मेरे लिए तो यहाँ दस मिनट रुकना भी मुश्किल हो गया था।” उसने कहा और एक बार फिर सिहर गयी।

हम लोग खोमचों की भीड़ से निकलकर गली के नुक्कड़ पर आ गये थे। जब हम बस्ती हरफूल की तरफ़ मुड़े, तो नुक्कड़ पर बैठा हुआ समूद पानवाला पान पर कत्था लगाता हुआ फ़जल पहलवान से (जो हड्डियों की एक मूठ होता हुआ भी इसलिए पहलवान कहलाता था कि वह पहलवानों के खानदान से था) कहने लगा, “पहलवान, औरतें हैं, तो बस नई दिल्ली की! अपने मुहल्लों की औरतें तो बस गाय-भैंसें हैं। जैसे गाय दुह ली, वैसे...।”

बस्ती हरफूल की अपेक्षाकृत चौड़ी गली में आकर नीलिमा ने कुछ आराम की साँस ली और कन्धे सिकोडक़र इस तरह जैसे वह अँधेरे कुएँ से बाहर निकली हो, कहा, “उफ़्!”

जब हम सडक़ पर आ गये, तो भी काफ़ी देर उसका ध्यान अपने सैंडलों पर लगे हुए कीचड़ से नहीं हटा।

घर पहुँचकर नीलिमा ने पहले चाय बनायी और एक प्याली पी चुकने के बाद क़स्साबपुरा की गली को जैसे अपने दिमाग़ से बुहारती हुई बोली, “मैं आज तुम्हारे पास इसलिए गयी थी कि मैं एक उलझन में हूँ और फ़ैसला नहीं कर पा रही कि मुझे क्या करना चाहिए। तुमसे मैंने कहा था कि कभी यहाँ आना मगर तुम आये ही नहीं।”

“आजकल दफ़्तर में काम बहुत बढ़ गया है।” मैंने कहा, “इसलिए शाम को मैं कई बार बहुत देर से वहाँ से उठता हूँ।” और यह बात ग़लत भी नहीं थी। अभी पिछले दिन ही मैं शनिवार होने के बावजूद साढ़े छ: बजे दफ़्तर से निकला था और तब भी अभी डेढ़ $फॉर्म के प्रूफ़ अगले दिन पढऩे के लिए छोड़ आया था।

“हरबंस ने मुझे लिखा है कि मैं भी वहाँ चली आऊँ, मगर मैं तय नहीं कर पा रही कि मुझे जाना चाहिए या नहीं।” वह बोली।

“उसने तुम्हें वहाँ आने के लिए लिखा है?” मुझे हैरानी हुई कि हरबंस ने मुझे जो अपना इरादा

बताया था, वह इतनी जल्दी कैसे बदल गया।

“इधर मैंने मैसूर जाने का सारा इन्तज़ाम कर लिया है। अगर मैं अब न जा सकी, तो फिर कभी नहीं जा सकूँगी। मैं जानती थी कि हरबंस वहाँ जाकर बहुत अकेला महसूस करेगा। मगर तुम जानते ही हो कि मैंने जान-बूझकर उसे जाने से नहीं रोका था। मैं यही सोचती थी कि अलग रहकर उसका दिमाग़ कुछ शान्त हो जाएगा और मैं भी इस बीच अपनी भरत-नाट्यम की ट्रेनिंग पूरी कर लूँगी। मुझे मैसूर में बहुत अच्छे गुरु के पास सीखने का मौक़ा मिल रहा है और मैं इस मौक़े को खोना नहीं चाहती।”

“तुम्हें मैसूर में कितने दिन लगेंगे?”

“छ: महीने तो कम से कम लगेंगे ही। मेरे लिए यह मौक़ा बहुत कीमती है। फिर मुझे जीवन में सचमुच ऐसा मौक़ा नहीं मिलेगा। मगर मैं यह सब छोडक़र उसके पास जा भी सकती हूँ, अगर मुझे विश्वास हो कि मेरे वहाँ जाने से उसे ख़ुशी मिलेगी। यही बात है जो मैं तय नहीं कर पा रही हूँ।”

“मगर तुमने कुछ तो सोचा होगा!”

“मैं बहुत सोचकर भी कुछ फ़ैसला नहीं कर सकी। हरबंस के जाने के बाद मुझे यहाँ कोई भी ऐसा व्यक्ति नज़र नहीं आता जो मुझे ठीक सलाह दे सके। जब हरबंस यहाँ था, तो लगता था कि यहाँ बहुत से लोग हैं जो अपने हैं। उसके जाने के बाद सभी लोग बहुत पराये से हो गये हैं। शिवमोहन बम्बई चला गया है और तुम हो, जो कभी दिखायी ही नहीं देते।”

“मेरे पास तो आजकल काम बहुत है, वरना...”

“वजह कुछ भी सही। मगर मैंने नहीं सोचा था कि हरबंस के जाने के बाद मैं इतनी अकेली रह जाऊँगी। ले-देकर एक ही आदमी है और वह है सुरजीत...”

सुरजीत के नाम से मैं सहसा खामोश हो गया। मुझे डर लगा कि मेरी आँखों के सामने फिर धुन्ध के गोले न तैरने लगें।

“तुमने सुरजीत से सलाह की थी?” मैंने अपने गले में उगते हुए काँटों को निगलकर पूछा।

“उससे मैं क्या सलाह कर सकती हूँ? वह तो आदमी ही ऐसा है कि...।”

“क्यों?” सहसा मेरे दिल की धडक़न कुछ तेज़ हो गयी और मैं कुरसी पर थोड़ा आगे को सरक आया।

“मैं उस आदमी को ज़्यादा पसन्द नहीं करती।”

“मगर वह तो...।”

“वह जैसा भी है, मैं उस आदमी को ज़्यादा पसन्द कर ही नहीं सकती। मगर हरबंस उससे कह गया कि वह उसके पीछे हम लोगों की देखभाल करता रहे।”

“अच्छा? मगर जहाँ तक मैं उस आदमी को जानता हूँ...” और मैंने अपनी ज़बान को रोक लिया। मुझे लगा कि मुझे उस विषय में टिप्पणी नहीं करनी चाहिए।

“मुझे वह आदमी ज़्यादा अच्छा नहीं लगता।” नीलिमा बोली, “मगर शुक्ला की वजह से मैं उसे बरदाश्त कर लेती हूँ। शुक्ला के लिए तो हरबंस की बात से बड़ी कोई बात नहीं है न! क्योंकि हरबंस कह गया है, इसलिए वह समझती है कि दुनिया में कोई अच्छा आदमी है, तो वह सुरजीत

ही है।"

"मगर तुम्हें वह अच्छा क्यों नहीं लगता?"

"मुझे?" वह कठिनाई से अपनी उसाँस को दबाकर बोली, "ऐसी खास वजह कुछ भी नहीं है। मुझे वह आदमी वैसे ही अच्छा नहीं लगता। अगर मुझे शुक्ला के विरोध का ख़याल न होता, तो मैं उसे ज़्यादा घर में आने-जाने न देती। मगर वह शुक्ला के कहने पर उसके लिए अपना रिकॉर्ड प्लेयर यहाँ रख गया है और उसके लिए और भी छोटी-छोटी चीज़ें खरीदता रहता है, इसलिए वह समझती है कि हरबंस के बाद दुनिया में कोई अच्छा आदमी है, तो वही है।"

"मगर हरबंस तो रिकार्ड प्लेयर के लिए कहता था कि..."

"तुम हरबंस की बातों को जाने दो! वह सबसे यही कहता था कि सुरजीत यह रिकॉर्ड प्लेयर ज़बरदस्ती यहाँ रख गया है। मगर बात सच यही है कि शुक्ला ने उससे कहा था, इसलिए वह रिकॉर्ड प्लेयर यहाँ छोड़ गया है। शुक्ला देखने में बड़ी लगती है, मगर उसका दिमाग़ उसकी उम्र के लिहाज़ से भी बहुत छोटा है। जैसे बच्चे खिलौनों को ही सब कुछ समझते हैं, उसी तरह वह भी छोटी-छोटी चीज़ों को ही सब कुछ समझती है। कोई उसे लॉलीपाप्स का पैकेट ले दे, तो वह अब भी बहुत खुश होती है।"

अचानक वह बात करते-करते रुक गयी और पल-भर मेरे चेहरे की तरफ़ देखकर बोली, "अरे, तुम्हें क्या हुआ है? तुम्हारा चेहरा इस तरह ज़र्द क्यों हो रहा है? तुम्हारी तबीयत तो ठीक है न?"

"मैं चाय की एक प्याली और लूँगा।" मैंने किसी तरह अपने को सँभालते हुए कहा।

"मैं तुम्हारे लिए गरम चाय लाती हूँ और साथ ही तुम्हें हरबंस की चिट्ठियाँ भी पढ़ने के लिए देती हूँ।" वह उठती हुई बोली, "तुम सलाह दो कि मुझे क्या करना चाहिए!"

थोड़ी देर में चाय की दूसरी प्याली उसने बनाकर मेरे सामने रख दी और हरबंस की चिट्ठियों का पुलिन्दा मेरे हाथ में दे दिया, (वे चिट्ठियाँ आज भी नीलिमा के पास सुरक्षित हैं और उसकी अनुमति से मैं उन्हें यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ।)। पहले उसने चिट्ठियों के कुछ अंश मोड़ देने चाहे, मगर बाद में यह ख़याल छोड़ दिया।

"तुम पढ़ रहे हो, तो सभी कुछ पढ़ लो।" उसने कहा, "इसमें छिपाने को ऐसा क्या है! वही बातें हैं जो एक पति अपनी पत्नी को लिख सकता है...।"

मैं एक-एक करके उन चिट्ठियों को पढ़ने लगा। पढ़ते समय और बातों का ध्यान मुझे बिल्कुल भूल गया, यहाँ तक कि मेरे सामने रखी हुई चाय भी ज्यों की त्यों पड़ी हुई ठंडी हो गयी।

जितनी देर मैं पढ़ता रहा था, उतनी देर नीलिमा आँखें फैलाये मेरे चेहरे की तरफ़ देख रही थी जैसे कि वह उस बीच मेरे चेहरे के मज़मून को पढ़ती रही हो। उसकी आँखों में उत्सुकता के साथ एक आशंका नज़र आ रही थी और उस आशंका में मिली-जुली एक उदासीनता...।

"तो?" उसने कहा।

मैं पत्र पढ़ते हुए साथ ही बहुत कुछ सोचता भी रहा था जिससे मेरा सिर भारी हो रहा था। मुझे समझ नहीं आ रहा था कि उससे क्या कहूँ। मैं कुछ क्षण खिडक़ी की तरफ़ देखता रहा, वहाँ जहाँ से एक दिन नन्हे-नन्हे सफ़ेद पंख हवा में तैरते हुए नीचे आ रहे थे। मगर उस समय वहाँ पंख नहीं उतर रहे थे, केवल धूप में चमकते हुए ज़र्रे ही नज़र आ रहे थे।

“तुम्हारा ख़याल है मुझे चली जाना चाहिए?” उसने इस तरह पूछा जैसे मेरे हाँ या न कहने पर ही सब कुछ निर्भर करता हो।

“मेरा तो ख़याल है कि चली जाना चाहिए।” मैंने कहा, “अगर रुपये का प्रबन्ध हो सकता है, तो और कोई बाधा तुम्हें नहीं होनी चाहिए।”

“रुपये का प्रबन्ध तो हो जाएगा।” वह बोली, “बीजी मुझे मैसूर जाने के लिए जो पैसे दे रही हैं, उनसे लन्दन तक तो पहुँचा ही जा सकता है। मगर सवाल तो उसके बाद का है।”

“मतलब उतने पैसे से तुम दोनों लन्दन पहुँच जाओगी, सवाल लन्दन के खर्च का है?” मैं अपने मन की अनिश्चितता को दूर कर लेना चाहता था। वह लन्दन जाएगी, तो क्या अकेली ही जाएगी, या...?

“दोनों से तुम्हारा मतलब मुझसे और शुक्ला से है?” वह बोली, “शुक्ला वहाँ कैसे जा सकती है? वह तो हर हालत में बीजी के पास ही रहेगी। मैं अगर वहाँ गयी, तो हरबंस की वजह से जाऊँगी, शुक्ला को बीजी क्यों जाने देंगी? वह अभी पढ़ रही है और कल को उसका ब्याह भी करना है। लन्दन में हमसे अपना खर्च ही नहीं उठाया जाएगा, उसकी पढ़ाई का खर्च हम कैसे उठाएँगे? पढ़ाई छोडक़र वह वहाँ चली जाए, इसलिए कि हमारे साथ रह सके, इसमें क्या तुक है? हरबंस तो पागल है जो ऐसी बात सोचता है।”

मैंने फिर चिट्ठियों के पुलिन्दे की तरफ़ देखा, जैसे कि उस पुलिन्दे की जगह स्वयं हरबंस मेरे सामने हो और मुझे उससे अनुरोध करना हो कि जैसे भी हो सके, वह नीलिमा के साथ शुक्ला को भी ज़रूर लन्दन बुला ले जिससे वह चार-पाँच साल वहाँ काट ले, ताकि इस बीच...।

“तुम्हारी चाय ठंडी हो गयी है।” नीलिमा बोली, “तुम मुझे सोचकर ठीक राय दो। मैं तब तक तुम्हारे लिए और चाय बना लाती हूँ।”

कह नहीं सकता कि वह मेरी वजह से उठकर चली गयी या अपनी वजह से ही। मैंने चिट्ठियों के पुलिन्दे को फिर उठा लिया और इस तरह एक-एक पन्ने को पलटने लगा जैसे परीक्षा से पहले एक परीक्षार्थी जल्दी-जल्दी अपनी पाठ्य-पुस्तक को देखता है। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि क्या वे सब पत्र हरबंस के ही लिखे हुए हैं, उस व्यक्ति के जिसकी फ़ाइलों में आधी हिन्दी और आधी अँग्रेज़ी में लिखे हुए कितने ही उलझे हुए पन्ने मैंने देखे थे! उन पन्नों के अटपटे और उलझे हुए वाक्यों का लेखक यह सब कैसे लिख सकता था? उसकी फ़ाइलों में तो हर वाक्य के ऊपर लाल पेंसिल से एक प्रश्नचिह्न बना हुआ था, और इन पत्रों में...? क्या वे पत्र उसके अन्दर के किसी और व्यक्ति ने लिखे थे? या कि उसके अन्दर की छटपटाहट ने स्वयं ही अपने लिए मार्ग बना लिया था और वह बिना जाने ही वह सब लिख गया था? क्योंकि वह ढंग से सँवारकर लिखने का प्रयत्न करता, तो ज़रूर उन्हें भी अपनी फ़ाइलों के पन्नों की तरह अटपटा बना देता। यदि वे पत्र इतने व्यक्तिगत न होते, तो शायद मैं यह भी सोचता कि वे उसने किसी और की फ़ाइल से ही न उड़ाये हों। ‘तुम्हारे साथ, और तुम्हारे बिना, दोनों ही तरह ज़िन्दगी मुझे असम्भव प्रतीत होती है।’ ‘यहाँ तो बर्फ़ है, कोहरा है और धुआँ है। लगता है, जैसे यह शहर ठोस धुएँ का ही बना हो।’ ‘मेरे अन्दर कहीं एक खालीपन है जो धीरे-धीरे इतना बढ़ता जा रहा है कि मेरे व्यक्तित्व के सब कोमल रेशे झड़ते जा रहे हैं।’ ‘मैं केवल छानबीन और छीछालेदर ही कर सकता हूँ, कुछ निर्माण नहीं कर सकता।’ ‘यदि तुम्हें नृत्य में सचमुच इतनी रुचि है, और तुम समझती हो कि तुम अपने में इस कला को इतना विकसित कर सकती हो कि वह सच्चे सौन्दर्य की प्रतीक बन जाए, तो वह भी मेरे लिए एक मार्ग हो सकता है, उस उपलब्धि तक जाने का जिसे मैं स्वयं नहीं समझता।’ क्या यह उसी हरबंस की भाषा थी?

नीलिमा चाय ले आयी, तो मैंने पुलिन्दा फिर रख दिया और दोनों हाथों की उँगलियाँ उलझाकर कुछ सोचता हुआ सा बैठा रहा। नीलिमा अपने ढंग से शरीर को एक लचक देकर बैठती हुई बोली, "मैं आज ही उसे उत्तर देना चाहती हूँ, क्योंकि मुझे मैसूर जाना हो, तो दो-एक दिनों में ही मुझे चली जाना चाहिए, जिससे मैं सर्दियों में यहाँ आकर एकाध प्रदर्शन भी कर सकूँ।"

"तुम बताओ, तुम्हारा अपना मन क्या कहता है?"

"मैं अपने आप सोचकर तय कर सकती, तो तुम्हें बुलाने के लिए इतनी दूर क्यों जाती?" वह प्यालियों में चाय डालकर चीनी हिलाने लगी, "मैं तो तुमसे जानना चाहती हूँ कि तुम्हारे ख़याल में क्या करना ठीक है। मुझे अपने अलावा शुक्ला की बात भी सोचनी है जो मेरे पीछे यहाँ बहुत अकेली पड़ जाएगी। इसलिए सोचती हूँ कि मेरा अपना मन जो राय देता है, वह शायद ठीक नहीं है।"

"मगर यह तो बताओ कि तुम्हारा मन राय देता क्या है?" मैं उससे कैसे कहता कि मेरी दिलचस्पी उसकी समस्या से ज़्यादा एक और ही समस्या से है और मैं उसकी बात न सोचकर अपनी ही बात सोच रहा हूँ।

"चाय ले लो।" उसने कहा।

मैं चाय की बात भी भूल गया था। मैंने चौंककर प्याली उठा ली।

"मेरा मन क्या राय देता है?" वह कुछ समय लेकर बोली, "मेरा मन यही कहता है कि मुझे वहाँ चली जाना चाहिए। हो सकता है वह वहाँ सचमुच ही बहुत दुखी हो।"

"मेरी भी यही राय थी।" मैंने कहा। सोचा कि शायद इतने से अब वह प्रकरण समाप्त हो जाएगा और मैं दूसरी बात सोचता रह सकूँगा।

"तुम सचमुच यही समझते हो कि मुझे वहाँ चली जाना चाहिए?" नीलिमा के लिए मगर बात अब भी वहीं थी जहाँ पत्र मुझे पढ़ने के लिए देने से पहले थी।

"क्यों, क्या यही ठीक नहीं है? तुम भी तो यही कह रही थीं।"

"मैं हरबंस के अकेलेपन की बात सोचकर कह रही थी। मगर तुम यह भी तो सोचो कि मेरे लिए मैसूर जाकर सीखने का यही एक चांस है।"

“हाँ, यह भी बात है।” मैं बार-बार अपने मन को धकेलकर उस विषय पर लाता था और वह बार-बार भटककर अपने दर्द की पगडंडी पर चला जाता था।

“हरबंस ने अपने पहली अप्रैल के पत्र में लिखा भी है कि मैं अपनी कला का ठीक से विकास कर सकूँ, तो उसे बहुत खुशी होगी। मैं छ: महीने मैसूर में रहकर फिर उसके पास जाऊँ, तो यह ज़्यादा अच्छा नहीं होगा?”

“मगर वह इतने दिन वहाँ अकेला रह लेगा? उसके आख़िरी पत्र से तो लगता है कि वह वहाँ बहुत ही बेचैन है।”

“उस पत्र की बात तुम जाने दो! वह तो उसने कुछ घबराहट में लिखा है। मैंने उसे वैसे ही सुरजीत की एक बात लिख दी थी जिसका अपने मन में पता नहीं उसने क्या मतलब लगा लिया है। मैं इस बार उसे लिख दूँगी कि वैसी कोई बात नहीं है, तो उसका दिमाग़ फिर ठीक हो जाएगा।” और हाथ की प्याली छलक न जाए, इसलिए उसे नीचे रखती हुई वह एक रूखी-सी हँसी हँसकर बोली, “मुझे डर है कि मैं अभी वहाँ चली गयी, तो उसका मन फिर वही खुराफ़ात सोचने लगेगा कि उसका विज़न एक गोल अँधेरी दीवार से टकराकर टूट रहा है। इसलिए मैं अभी कुछ दिन उससे दूर ही रहूँ, तो अच्छा है।” और पल-भर रुककर उसने फिर कहा, “मैं सच कहती हूँ कि अगर मुझे यह विश्वास हो कि मेरे तुरन्त वहाँ पहुँच जाने से उसे सचमुच सुख मिलेगा, तो मैं आज ही चली जाऊँ। मगर मैं जानती हूँ कि ऐसा नहीं होगा।”

“तो इसका मतलब तो यही है कि तुम्हारे ख़याल में तुम्हारा मैसूर जाना ही ठीक है।”

“मैं कहती हूँ कि वह गया है, तो अब उसे कुछ दिन अकेले रहना ही चाहिए। वह बहुत दिनों से इस तरह की ज़िन्दगी के लिए बेचैन था। मैं चाहती हूँ कि इस ज़िन्दगी से उसका मन पूरी तरह भर जाए, तभी मैं यहाँ से जाऊँ। इतने में मेरी ट्रेनिंग भी पूरी हो जाएगी।”

“और हो सकता है कि उतनी देर में वह ऊबकर वहाँ से वापस ही चला आये।”

“नहीं, वापस वह नहीं आएगा। अपनी ज़िद का वह बहुत पक्का है। और अगर आ जाए, तो और भी अच्छा।”

मैं उससे बात कर रहा था, मगर मेरा दिमाग़ उसके उस एक वाक्य पर ही अटका हुआ था, “मैंने उसे वैसे ही सुरजीत की एक बात लिख दी थी,” और मैं यही सोच रहा था कि उसने हरबंस को सुरजीत की ऐसी क्या बात लिखी थी जिससे वह एकदम बेचैन हो उठा था! अपने दर्द की पगडंडी पर भटका हुआ मेरा मन इस वाक्य को सुनने के बाद सहसा एक जगह ठिठक गया था, जैसे उसे लगा हो कि उसके सामने के झाड़-झंखाड़ के उस तरफ़ शायद कहीं एक सुरम्य वादी भी है और वह पथरीली पगडंडी एक विल्लौरी झील के तट पर जाकर भी समाप्त हो सकती है...।

“सुरजीत के बारे में तुमने उसे क्या बात लिखी थी?” मैंने कुछ रुकते-रुकते पूछा। चाहा कि मेरे स्वर से यह बिल्कुल प्रकट न हो कि उस सवाल में मेरी ज़रा भी दिलचस्पी है।

“ऐसी कोई ख़ास बात नहीं थी।” वह बोली, “उसने मुझसे एक दिन कोई अटपटी बात कह दी थी और बाद में उसके लिए माफ़ी माँग ली थी।”

“तुम इसीलिए कह रही थीं कि वह आदमी तुम्हें पसन्द नहीं है?”

“हाँ-हाँ। वह हर समय बहुत हल्के ढंग से बातें करता है और मुझे यह अच्छा नहीं लगता। बहुत

हल्के ढंग से कही हुई बात दूसरे को कभी लग भी जाती है। मगर उसकी जो आदत मुझे पसन्द नहीं, शुक्ला को उसकी वही आदत सबसे अच्छी लगती है। वह उसकी हल्की-फुल्की बातें सुनकर लोट-पोट होती रहती है। आज सुरजीत सिनेमा के टिकट लेकर आया था। मैंने मना भी किया, मगर वह हठ करके बीजी, सरोज और सरिता को लेकर उसके साथ चली गयी है।"

मैं कुरसी पर थोड़ा पीछे को सरक गया। झाड़ियों के उस पार से झील सहसा अदृश्य हो गयी थी और पगडंडी इतनी बीहड़ हो गयी थी कि मेरे लिए अपने को झेलना कठिन हो गया था।

"क्या बात है? तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं है?" नीलिमा ने पूछा।

"नहीं, तबीयत ठीक है।" मैंने कहा, "रात को ठीक से सोया नहीं, इसलिए आँखें कुछ भारी हो रही हैं।"

"तुम्हें कोई टिकिया दूँ? आजकल फ़्लू से अपने को बचाते रहना चाहिए...।"

मुझे इससे अरविन्द की और अपनी कोठरी की याद हो आयी और मेरी आँखों का भारीपन अपने आप कम होने लगा।

"नहीं, दवाई की ज़रूरत नहीं।" मैंने कहा, "यह सिर्फ़ उनींदेपन की वजह से है। रात को सोकर ठीक हो जाऊँगा।"

"फिर भी एक टिकिया मैं तुम्हें दे देती हूँ।" कहती हुई वह उसी लचक के साथ उठी और अन्दर चली गयी। मैं कुछ देर आँखें बन्द किये बैठा रहा। फिर बाहर अहाते में पैरों की आहट सुनकर मैंने आँखें खोल लीं। शुक्ला और सब लोग सिनेमा से लौट आये थे। सरिता सबसे आगे थी और सुरजीत सबसे पीछे। मैं उस मन:स्थिति में सुरजीत से तो बिल्कुल ही नहीं मिलना चाहता था, मगर उस समय वहाँ बैठे रहने के सिवा और कर भी क्या सकता था? सुरजीत भी मुझे देखकर दरवाज़े के परदे के पास ही ठिठक गया।

"हलो!" उसने कहा, "तुम यहाँ हो?" और फिर मुझे बिल्कुल भूलकर बीजी से बोला, "अच्छा बीजी, मैं अब चल रहा हूँ। एक ऑस्ट्रेलियन संवाददाता आया हुआ है। उसके साथ मेरा चेम्सफोर्ड क्लब में खाना है। अगर हो सका, तो मैं शाम को आकर आपकी दाँतों की दवाई दे जाऊँगा। न आ सका, तो कल दिन में दे जाऊँगा।" और बिना उनके उत्तर की आशा किये, वह एक बार सबकी तरफ़ हाथ हिलाकर दहलीज़ से ही वापस चला गया।

"कहिए जी!" शुक्ला ने पास से गुज़रते हुए मुझसे कहा और बड़ी मेज़ से अख़बार उठाकर अन्दर चली गयी। सरोज और सरिता पहले ही चली गयी थीं। "आप कब से आये हुए हैं?" बीजी ने चलते-चलते पूछ लिया, "नीलिमा ने आपको चाय-वाय पिलायी कि नहीं?" और मेरे सिर हिला देने पर वे भी कर्तव्य से मुक्त होकर अन्दर चली गयीं। मैं जब अकेला रह गया तो मेरा मन हुआ कि मैं चुपचाप उठकर वहाँ से चला जाऊँ, मगर तभी नीलिमा अन्दर से आ गयी।

"यह रही तुम्हारे लिए दवाई की टिकिया।" उसने कहा, "बीजी की रखी हुई चीज़ें मुझे कभी मिलती ही नहीं। अब सरोज ने आकर निकालकर दी है।"

चाय की प्याली में जो दो घूँट बचे थे, उनके साथ मैंने टिकिया जल्दी से निगल ली और तुरन्त ही वहाँ से चलने के लिए उठ खड़ा हुआ।

"तुम जा रहे हो?" नीलिमा कुछ आश्चर्य के साथ बोली।

"हाँ, मुझे एक काम याद आ गया है।" मैंने कहा, "एक बजे मुझे किसी के यहाँ पहुँचना है।"

"तो अब किस समय मिलोगे? मुझे तो अभी तुमसे और भी बात करनी थी।"

"मैं कल या परसों किसी समय फिर आ जाऊँगा।"

"तुम शाम को ही क्यों नहीं आते? मैं तुमसे बात करने के बाद ही हरबंस को चिट्ठी लिखूँगी।"

"देखो, कोशिश करूँगा, अगर आ सका तो।"

"नहीं, कोशिश की बात नहीं, तुम्हें ज़रूर आना है। मुझे एक और भी ज़रूरी बात करनी है।...वैसे तुम्हारा यही ख़याल है न कि मुझे छः महीने मैसूर में रहकर ही हरबंस के पास जाना चाहिए?"

"हाँ, यही ठीक है।"

"मगर शाम को तुम्हें आना ज़रूर है। उसे चिट्ठी मैं उसके बाद ही लिखूँगी।"

"अच्छा!"

"देखो, भूल नहीं जाना!"

मैं तब तक दरवाज़े के पास पहुँच गया था। उसने मेरे बाहर निकलने के लिए परदा उठा दिया।

"नहीं, भूलूँगा नहीं।"

"शाम को मैं तुमसे कॉफ़ी पियूँगी। ठीक है?"

"हाँ, ठीक है।"

"तो किस समय तक आओगे? छः बजे तक?"

"हाँ, छः बजे तक आ जाऊँगा।"

"अच्छा...!"

मैं बाहर निकल आया, तो उसने परदा गिरा दिया।

मगर मैं छः बजे उससे मिलने नहीं गया। उस शाम मैं कहीं भी नहीं गया, हालाँकि रात होने तक मैंने लगभग सारी दिल्ली की ख़ाक छान ली। मैं कहाँ-कहाँ गया, मुझे ठीक याद नहीं। जो बस जहाँ तक ले गयी, उसमें वहाँ तक चला गया और लौटने के लिए जो बस मिली, उसमें बैठकर उसके टर्मिनस पर जा उतरा। खाने को जहाँ जो मिला, वह मैंने कई बार बिना भूख के भी खा लिया। उस दिन की मुझे इतनी ही याद है कि कुछ देर मैं राजघाट जाकर बैठा रहा था, कुछ देर जमुना ब्रिज पर खड़ा रेत के फैलाव में से गुजरती हुई पतली-पतली पानी की धारों को देखता रहा था और बाद में उधर से मुँह फेरकर एक अक्खड़ गति से पुल को हिलाकर जाते हुए ट्रैफिक को देखता रहा था। कुछ देर मैं इंडिया गेट के पास घास पर भी लेटा रहा था। मैं घर जाने से पहले अपने मन में एक निश्चय कर लेना चाहता था, मगर उस निश्चय के रास्ते में कई एक रुकावटें थीं जिनकी वजह से मेरा मन डावाँडोल हो रहा था। जब मैं इंडिया गेट से उठकर आया, तो मैं अपनी एक मुट्ठी में घास की तिगलियाँ दबाये था। रास्ते में मैंने जब अपनी मुट्ठी में वे तिगलियाँ देखीं, तो मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मुझे पता नहीं था कि मैंने वे तिगलियाँ कब तोड़ी थीं और कब उन्हें मुट्ठी में भींच लिया था।

मैं अपने मन में निश्चय करने से पहले लौटकर घर नहीं जाना चाहता था। मुझे खाने से अरुचि हो

रही थी, फिर भी मैं कुछ-कुछ खाना चाहता था। मैं उस समय कुछ न कुछ करते रहना चाहता था। मुझे मालूम था कि मैं बिना चाहे, और बहुत हद तक बिना जाने, एक शिखर पर पहुँच गया हूँ जहाँ मैं ठिठककर नहीं रह सकता, और न ही नीचे खाई की तरफ़ झाँककर देखने का साहस कर सकता हूँ। इसलिए मैं घूमता रहा, घूमता रहा, और जब घूम-घूमकर बहुत थक गया, तो मैं उसी बार में जा बैठा जहाँ हरबंस के साथ उसके जाने के दिन बैठा था। मगर दो पेग ह्विस्की पीकर मेरा दिल वहाँ से भी उखड़ गया और मैं वहाँ से बाहर निकल आया।

तो? इस 'तो' का कोई उत्तर, कोई हल, मेरे पास नहीं था। मेरा मन जिस पगडंडी पर भटक गया था, वह मुझे एक गहरे दलदल में ले आयी थी। वहाँ बस, व्याकुलता के सिवा कुछ नहीं था। क्या वह व्याकुलता मैं एक छूत के रोग की तरह हरबंस के पत्रों से ले आया था? परन्तु उन पत्रों ने शायद उस व्याकुलता का मुँह खोल दिया था; वैसे वह व्याकुलता वहीं थी, बहुत दिनों से थी।

हरबंस एक ऐसा व्यक्ति था जिससे मुझे उस समय सबसे अधिक सहानुभूति हो रही थी और जिस पर मुझे सबसे अधिक गुस्सा आ रहा था। वह व्यक्ति उस समय दिल्ली में होता, और मैं एक बार उसे बाँह से पकडक़र अच्छी तरह झिंझोड़ सकता, तो शायद मेरा मन कुछ शान्त हो जाता। वह व्यक्ति बम्बई में मुझसे मिलने के लिए क्यों आया था? मेरा उससे परिचय न हुआ होता, तो क्या मुझे उस समय इतनी असमर्थता और इतनी हताशा की अनुभूति में से गुज़रना पड़ता? मैंने जेब में हाथ डाला, तो मुझे पता चला, कि मैंने घास की तिगलियाँ फेंकने की बजाय जेब में भर ली हैं। मैंने उन्हें निकालकर फुटपाथ पर बिखेर दिया। एक बार मेरे क़दम हनुमान रोड की तरफ़ मुडऩे को हुए, मगर मैं उधर न जाकर ऊपर से होता हुआ चेम्सफ़ोर्ड रोड की तरफ़ आ गया। उस समय मुझे ताँगा मिल सकता था। मगर न जाने क्यों मुझे पैदल चलना ही ठीक लगा। मुझे लग रहा था जैसे वह रात सरदी की वही रात हो जिस रात मैं गुमराह होने के बाद चेम्सफ़ोर्ड रोड से होकर पैदल घर गया था; जैसे वह रात भविष्य का एक सपना ही थी जिसे यथार्थ में मुझे उस समय अनुभव करना था; जैसे मेरा रास्ता काठ बाज़ार में से होकर ही था और मुझे वहाँ से गुज़रते हुए अभी पहलवान का सामना करना था, उसकी बाई को सिगरेट ख़रीदकर देना था, फिर उसकी गाली सुननी थी और कुढ़ते हुए घर जाना था। ताँगेवाले दो-दो आने की सवारी की आवाज़ देते हुए सदर की तरफ़ जा रहे थे, मगर मैं अपने पैदल चलने के हठ से नहीं हटा। मुझे इस बात से कुछ उलझन हो रही थी कि वह रात पहले की रात की तरह ठंडी और अँधेरी क्यों नहीं है, वह रास्ता उतना ही वीरान क्यों नहीं है, और मैं भी उसी तरह पैर पटकता हुआ क्यों नहीं चल रहा।

मैं जब काठ बाज़ार के मोड़ पर आया, तो ह्विस्की की गरमी मेरे सारे शरीर में भर रही थी; मन में एक निश्चय हो चुका था। मुझे क़स्साबपुरा के घर में जाने से पहले किसी और के घर की पनाह लेनी थी जहाँ मैं अपने मन की कटुता और हताशा से कुछ हद तक मुक्ति पा सकूँ, जहाँ मेरा दिल और दिमाग़ कुछ देर के लिए सुन्न हो जाएँ और मैं अपने अन्दर की चुभन और अपने अन्दर उबलते हुए लावे की गरमी को कुछ देर के लिए भूल जाऊँ। मुझे लग रहा था कि ज्यों ही नकली सोने के बटनोंवाला पहलवान मुझे सामने नज़र आएगा, त्यों ही मैं हाथ बढ़ाकर एक पुराने दोस्त की तरह उससे मिलूँगा और कहूँगा कि आज मैं कनॉट प्लेस से नहीं आया, क़स्साबपुरा से आया हूँ और मेरी जेब में चवन्नी नहीं, पाँच-पाँच रुपये के दो नोट हैं जिन्हें मैं तुम्हारे देखते-देखते टुकड़े-टुकड़े करके फेंक सकता हूँ।

मगर काठ बाज़ार में मुड़ते ही वह पहलवान नज़र नहीं आया, इससे मुझे निराशा हुई। बाज़ार में उस दिन की सी चमक-दमक भी नहीं थी जिससे मुझे और भी निराशा हुई। सट्टा बाज़ार की तरह सौदा करनेवाले ग्राहक भी उस समय वहाँ नहीं थे। वे रँगी-पुती औरतें भी अपनी पिंजरानुमा कोठरियों के बाहर नहीं खड़ी थीं। कुछ घरों की ड्योढिय़ों में बहुत हल्का-हल्का उजाला नज़र आ रहा था। मगर वह उजाला नहीं था जिसे देखकर आदमी उन घरों की दहलीज़ लाँघकर अन्दर जा सकता है। मेरे माथे पर पसीना आ गया। आख़िर उस बाज़ार को उस समय हुआ क्या था?

मैं कुछ क्षण जकड़ा-सा उस चौड़े अहाते में खड़ा रहा। ज़्यादातर सींखचोंवाले दरवाज़े अन्दर से बन्द थे।

अचानक अँधेरे में मेरे पास ही एक बीड़ी सुलग उठी, तो मेरा ध्यान उसकी तरफ़ चला गया। मैं बीड़ी पीनेवाले व्यक्ति के पास चला गया। "आज यह बाज़ार बन्द है?" मैंने उससे पूछा।

उसने धीरे से सिर हिला दिया। "आज यह बाज़ार मातम की वजह से बन्द है। आज यहाँ एक मौत हो गयी है। एक लडक़ी कुछ दिनों से बीमार थी, वह आज गुज़र गयी है।"

मेरे घुटनों के जोड़ ढीले होने लगे। उस बाज़ार का मौत के साथ भी कुछ नाता-रिश्ता है, यह बात कभी ज़हन में नहीं आयी थी। मैं चुपचाप उस व्यक्ति के पास से चल दिया। जब मैं गली से निकलकर सडक़ पर आया, तो मेरा गला फिर इतना ख़ुश्क हो रहा था कि उसमें काँटे से चुभ रहे थे। मुझे अपने दर्द और बेचैनी की बात कुछ भूली-सी लग रही थी और उस अहाते की तसवीर ही मेरे ज़हन में घूम रही थी। उन घरों में लालटेनों से आती हुई हल्की-हल्की रोशनी—जैसे मौत से उन घरों का कायाकल्प करके उन्हें आम घरों जैसा बना दिया हो—और उस अहाते में ठिठकी हुई एक अकेली छाया...! मैं बार-बार अपने से कहना चाहता था कि वह छाया मैं नहीं हूँ, मैं वह छाया बिल्कुल नहीं हूँ। मैं अपने को विश्वास दिलाना चाहता था कि मैं तो उस दिन उस अहाते में से गुज़रा ही नहीं हूँ। मैं तो वहाँ जीवन में एक बार, सिर्फ़ एक ही बार गया था, जब मेरा वहाँ पहलवान से सामना हुआ था और मैं मन में एक गहरी कटुता लिये हुए उस गली से बाहर निकल आया था। उसके बाद मैं वहाँ से नहीं गुज़रा, कभी नहीं गुज़रा—अगर कोई गुज़रा था, तो वह मैं नहीं था, मैंने तो उसे वहाँ से गुज़तरे देखा-भर था...।

मैंने इकन्नी की गँडेरियाँ ले लीं और उनसे अपने खुश्क गले को तर करता हुआ क़स्साबपुरा में अपनी गली में आ गया।

हमारे घर से भी लालटेन की मद्धिम रोशनी नज़र आ रही थी। दरवाज़ा खटखटाया, तो ठकुराइन ने लालटेन लिये हुए दरवाज़ा खोल दिया। उसने दरवाज़ा खोलते हुए कहा कि आज फिर मैंने बहुत देर कर दी है और कि अरविन्द की उस दिन डबल ड्यूटी है, वह सुबह पाँच बजे आएगा। ठाकुर साहब खाना खाकर शायद बाहर दालान में चारपाई निकलवकर सो गये थे, और ठकुराइन सिर्फ़ मेरी वजह से ही जाग रही थी। उसकी आँखें नींद से भारी हो रही थीं।

"कहाँ-कहाँ हो आये?" उसने चेष्टा करके अपनी आँखें पूरी खोल लीं, "आज तो मुझे मालूम था कि तुम देर से आओगे।"

मैंने कुछ न कहकर हाथ की गँडेरियाँ उसकी तरफ़ बढ़ा दीं।

"ये गँडेरियाँ कहाँ से ले आये?" ठकुराइन हँसकर बोली, "आज के दिन भी तुम्हें गँडेरियाँ ही चूसने को मिलीं?"

मुझे यह ख़याल था कि मेरे मुँह से बू न आ रही हो, इसलिए मैं बहुत कम बात करना चाहता था। बात करते समय भी मुझे ध्यान रहता था कि होंठ कम से कम खुलें। इसलिए मैंने सिर्फ़ इतना ही कहा, "ये यहीं से ले ली थीं।"

"अच्छा, यह बताओ, तुम्हारी उसने तुम्हें आज क्या खिलाया-पिलाया है?" ठकुराइन गँडेरी चूसती हुई बोली।

"किसने?" मैंने एक बार होंठों पर हाथ भी रख लिया कि ठकुराइन पिलाने की बात क्यों कर रही है।

“अब बनो नहीं।” ठकुराइन रसिकता के साथ बोली, “तुम्हारी उसी ने, जो सवेरे तुम्हें लेने आयी थी। लाला, हम तो तुम्हें ऐसे ही समझी थीं, पर तुम तो पूरे वह निकले! दिल्ली में कितनी हैं तुम्हारी ऐसी-ऐसी?”

मैं भूल गया था कि सुबह नीलिमा वहाँ आयी थी और मैं उसके साथ ही घर से गया था। इस बीच मैं एक पूरी ज़िन्दगी की मंज़िलें तय कर आया था और मुझे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि सुबह से अब तक एक ही दिन बीता है।

“वह मेरे एक दोस्त की पत्नी थी, भाभी।” मैंने कहा, “उसे कुछ काम था, इसलिए मुझे बुलाने आयी थी।” और बिल्कुल भूख न होते हुए भी मैंने कहा, “मेरा खाना रखा हो, तो दे दो।”

“वह तो कह रही थी कि तुम उसके दोस्त हो!” ठकुराइन ने मुँह का फोक गली में फेंककर किवाड़ बन्द कर दिया, “अब हमसे छिपाओगे, तो हम तुमसे कभी बात नहीं करेंगे।”

“भाभी, वह मेरे दोस्त की पत्नी थी और मैं...” सहसा मेरे दिमाग़ में फिर कोई चीज़ लहरा गयी और मैं ठकुराइन की तरफ़ देखता रह गया। ठकुराइन उस समय इतनी उजली कैसे लग रही थी?

“तुम मेरा खाना दे दो।” मैंने कहा।

“मैंने तो तुम्हारे लिए खाना आज बनाया ही नहीं।” ठकुराइन बोली, “मैंने सोचा कि अपनी दोस्त के साथ गये हो, तो वहाँ से खा-पीकर ही आओगे। मैं तो इसलिए बैठी थी कि कहीं तुम्हारी दोस्त तुम्हें छोडऩे आ जाए, तो घर में बिल्कुल अँधेरा ही दिखायी न दे। तुम मुझे पहले बता देते, तो मैं सवेरे उठते ही तुम्हारे कमरे को ठीक कर छोड़ती। मैं भी उस वक़्त गन्दे कपड़े पहने बैठी थी। मुझे क्या पता था? सचमुच मुझे बहुत ही शरम आयी। अब मैंने इसीलिए तुम्हारे वाली यह साड़ी निकालकर पहन ली थी कि क्या पता वह फिर तुम्हारे साथ चली आये।”

मेरा ध्यान इस तरफ़ नहीं गया कि ठकुराइन नई साड़ी बाँधे हुए है। पहली तनख़ाह मिलने के दिन ही मैं उसके लिए छ: रुपये में वह साड़ी ख़रीद लाया था और तब से शायद वह उसके ट्रंक में बन्द ही पड़ी थी। ठकुराइन की बात से मेरे दिमाग़ में दिन-भर की घटनाएँ फिर ताज़ा होने लगी थीं और मेरे दिमाग़ में एक भँवर-सा घूम रहा था। मेरे अन्दर का लावा, मेरी भूख, मेरा दर्द फिर मेरे अन्दर तड़पने लगे। मैं कई क्षण जड़-सा चुपचाप ठकुराइन की तरफ़ देखता रहा। लालटेन की रोशनी में उसका खिला हुआ चेहरा बहुत ही मासूम लग रहा था और उसके चेहरे की झाइयाँ उस समय न जाने कहाँ गायब हो गयी थीं। वह अपनी उम्र से बहुत छोटी लग रही थी। मुझे अपना गला फिर बहुत ख़ुश्क लगने लगा और मेरे माथे की नसें फडक़ने लगीं।

“तो खाना सचमुच नहीं है?” मैंने कहा।

“तुम क्या सचमुच भूखे आये हो?” ठकुराइन जैसे मेरी भूख का अनुमान लगाने के लिए एक क़दम पास आ गयी और उसके चेहरे पर अपराध की छाया घिर आयी। “मैंने तो सच, नहीं सोचा था कि तुम खाकर नहीं आओगे।”

“अगर नहीं बना तो रहने दो।” मैंने कहा, “मुझे ऐसी भूख नहीं।”

“अगर भूख हो, तो मैं अभी बना देती हूँ।”

ठकुराइन मेरे बहुत पास आकर खड़ी थी। मेरी कनपटियाँ फडक़ रही थीं और आँखों से चिनगारियाँ-सी निकल रही थीं। मेरे मन में कोई चीज़ कुलाँचें भर रही थीं। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि ठकुराइन इतनी छोटी, इतनी मासूम और इतनी सुन्दर होती हुई भी पहले ऐसी क्यों नहीं लगती थी। सहसा मेरा एक पैर थोड़ा लडख़ड़ा गया और मैंने अपना हाथ ठकुराइन के कन्धे पर रख दिया। “अब रहने दो न।” मैंने कहा, “गरम बनाने का तरद्दुद क्या करोगी?”

मगर मेरा हाथ कन्धे पर कसते न कसते ठकुराइन ने अपना कन्धा छुड़ा लिया और एकदम छिटककर कई क़दम दूर जा खड़ी हुई। उसकी आँखें गुस्से से लाल हो गयीं। “तो तुम आज सचमुच पीकर आये हो!” उसने कुछ सख़्त स्वर में कहा, “मुझे पहले ही पता था।”

मैं हतप्रभ-सा खड़ा उसकी तरफ़ देखता रहा, तो उसने कहा, “अब सो जाओ, रात बहुत हो गयी है।” और उसने अपनी कोठरी में जाकर उसी क्षण अन्दर का किवाड़ बन्द कर लिया। मैं जहाँ खड़ा

था, कई क्षण पत्थर के बुत की तरह वहीं खड़ा रहा। शायद बहुत देर खड़ा रहा, क्योंकि समय का ज्ञान उस समय मुझे बिल्कुल नहीं रहा था। मुझे इतना ही याद है कि कुछ देर बाद बाहर से ठाकुर साहब की आवाज़ सुनायी दी थी, 'सरस्वती एक गिलास पानी दे जा।' और ठकुराइन ने कोठरी में से कहा था, "ला रही हूँ!" फिर कुछ देर की गहरी ख़ामोशी के बाद कोठरी का किवाड़ खुला था और ठकुराइन की लडक़ी निम्मा आँखें मलती हुई आकर मेरे पास से लालटेन उठाकर ले गयी थी।

उससे अगले ही दिन मैंने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। दिल्ली छोडऩे से पहले मैं फिर हनुमान रोड पर नहीं गया। जिस दिन मैं दिल्ली से चला, उस दिन बत्रा मेरी जगह एक सौ साठ वाली कुरसी पर आ गया था। चार साल बाद जब मैं एक दिन के लिए दिल्ली आया, और पत्रिका के कार्यालय में लोगों से मिलने के लिए गया, तो बत्रा एक सौ पहचत्तर वाली कुरसी पर बैठा था, क्योंकि लक्ष्मीनारायण भी इस बीच प्रधान सम्पादक बनने का मोह छोडक़र वहाँ से चला गया था।

मगर उस बार आने पर ठकुराइन के घर मिलने जाने का मेरा हौसला नहीं हुआ।

भाग-2

नौ साल के बाद मैं और हरबंस आमने-सामने बैठे थे और कॉफ़ी की प्यालियों से उठता हुआ धुआँ हमारी आँखों के बीच एक परदे का काम कर रहा था।

इन नौ सालों में मैंने बहुत कुछ बदलते देखा था, अपने से बाहर भी और अपने अन्दर भी। मैं दिल्ली से जाकर छ: महीने गाँव में रहा था और फिर मुझे लखनऊ के एक प्रकाशक के यहाँ प्रेस का काम देखने की नौकरी मिल गयी थी। मुझे याद है कि लखनऊ जाते समय मेरे मन में एक बात यह भी थी कि मॉरिस कॉलेज लखनऊ में है और हो सकता है कि...। चार साल प्रकाशक के पास काम करने के बाद मैं वहीं एक अँग्रेज़ी दैनिक में सहायक सम्पादक के रूप में काम करने लगा था और सवा चार साल उस नौकरी में काटकर एक साथ दो सौ रुपये की तरक्की का अवसर मिलने से फिर दिल्ली चला आया था।

एक दैनिक पत्र में काम करने से आदमी जो कुछ सीखता है, शायद अन्यत्र कहीं नहीं सीख सकता। उसे हर समय तेज़ी से बदलती हुई ज़िन्दगी पर आँख रखनी होती है, उसकी हर धडक़न का विश्लेषण करते हुए उसके अर्थ को समझना होता है और कई बार उस अर्थ के बीच एक आशय ढूँढऩा पड़ता है, इसलिए उसके लिए कल्पना की दुनिया फीकी और बेगानी होने लगती है। वह जीवन के यथार्थ को यथार्थ रूप में देखने लगता है, इसलिए उससे कम या अधिक को मान्यता नहीं दे पाता। दैनिक पत्र के कार्यालय में बिताये हुए चार वर्षों में मेरा कविता लिखने का मोह लगभग छूट गया था और अब मैं 'स्टोरी' की बात करने लगा था। हालाँकि हमारी भाषा में 'स्टोरी' का अर्थ कुछ दूसरा ही था। परन्तु मुझे यही अर्थ अधिक संगत और अधिक ठोस प्रतीत होता था। 'स्टोरी'—अर्थात् जीवन की एक निश्चित संगति, एक निश्चित घटना-क्रम; वह घटना-क्रम जो तथ्य पर आश्रित हो, और तथ्य के अतिरिक्त, या उससे बड़ी और वास्तविकता थी ही क्या...?

और मेरा मन उन छायाओं से भी बहुत हद तक मुक्ति पा चुका था जो कभी उस पर मँडराया करती थीं। मुझे भावुकता की बात से ही चिढ़ होने लगी थी। भावुकता क्या मन की एक अस्वस्थ वृत्ति ही नहीं थी? जिस मन:स्थिति में मैं दिल्ली छोडक़र गया था, वही मन:स्थिति अब मुझे किसी दूसरे में नज़र आती, तो मेरा हँस देने को मन होता था। उसके लिए मुझे एक ही शब्द सूझता था, और वह था 'एडोलेसेंट!' मैं सोचता था पुरुष और स्त्री का पारस्परिक आकर्षण क्या है, केवल

एक घटना ही तो! और ऐसी घटना अब मेरे लिए कोई अर्थ नहीं रखती थी, क्योंकि उसमें कोई 'विशेषता' नहीं थी। घटना में यदि कुछ 'विशेष' न हो, तो उसका महत्त्व ही क्या है? बिना किसी 'विशेषता' के घटना 'स्टोरी' नहीं बनती। साधारण प्रेम की सार्थकता में मुझे कोई आस्था नहीं रही थी। वह तो केवल एक जीव-धर्म मात्र था, मात्र शारीरिक और मानसिक तृप्ति की एक प्राकृतिक आवश्यकता। उसमें 'विशेषता' तभी मानी जा सकती थी जब वह अन्तर्राष्ट्रीय, या कम से कम राष्ट्रीय मंच पर कुछ हलचल उत्पन्न करे, कई और महत्त्वपूर्ण घटनाओं का सूत्रपात करे जिससे वास्तविक अर्थ में एक 'स्टोरी' बन सके, जैसे प्रिंसेस मार्गरेट या जापान के शाहज़ादे का प्रेम। वरना तो वह एक निरर्थक पुनरावृत्ति ही थी। उस पुनरावृत्ति में 'स्कैंडल वैल्यू' हो, तो भी कोई बात है। बिना 'स्कैंडल वैल्यू' के उसमें क्या सार्थकता थी...?

और यह तजरबा प्राप्त करने में मैंने अपनी कनपटियों के थोड़े से बाल सफ़ेद कर लिये थे, चश्मे का नम्बर बढ़ा लिया था और मेरी उँगलियाँ चार-मीनार पी-पीकर ज़र्द से काली होने लगी थीं। लखनऊ में मेरी गणना वयस्क पत्रकारों में होती थी।

"तो?" हरबंस ने धुएँ के उस तरफ़ से मुझे देखते हुए कहा।

"तो?" मैंने धुएँ के इस तरफ़ से उसे देखते हुए कहा।

"तुम्हें जिससे मिलना था, वह तो अभी तक आया नहीं।"

"हाँ, अभी तो नहीं आया।"

"तो चलें?"

"नहीं, थोड़ी देर और इन्तज़ार कर लेते हैं।"

और हम कुछ देर चुपचाप बैठे रहे। वर्षों के बाद मिलने पर दो व्यक्तियों को धुएँ के परदे को बीच से हटाने में थोड़ा समय लगता है। इकत्तीस जनवरी सन् इक्यावन की रात को जिस व्यक्ति को मैंने देहरादून एक्सप्रेस में बिठाया था, तेरह अक्तूबर सन् उनसठ के दिन उसके सामने बैठे हुए मुझे उस लम्बे अन्तराल को पार करके उस तक पहुँचना था। इस बीच उसके और उससे सम्बन्धित अन्य लोगों के जीवन में क्या-क्या हुआ, इसका मुझे कुछ पता नहीं था। पाँच साल पहले एक बार जब मैं एक दिन के लिए दिल्ली आया था, तो, मैंने शुक्ला को सुरजीत के साथ कनॉट प्लेस में से जाते देखा था। उस दिन पहली बार मैंने उस लडक़ी को मेकअप किये और साड़ी बाँधे देखा था और मुझे लगा था कि उसके चेहरे का रंग पहले से कुछ साँवला पड़ गया है। उसके चेहरे का आकर्षण तब भी वैसा ही था, हालाँकि वह ताज़गी उसके चेहरे पर नहीं रही थी और वह पहले की तरह लडक़ी सी न लगकर उस समय एक महिला सी लग रही थी। उस दिन शायद भद्रसेन ने ही कॉफ़ी-हाउस में बिना किसी प्रसंग के उसकी बात चलायी थी, "सुरजीत आजकल तुम्हारी उसको हर वक़्त साथ लिये घूमता है। कभी 'मेट्रो' में उसे साथ लिये बैठा होता है और कभी 'पैलेस हाइट्स' में। लगता है आजकल वह उसे ज़िन्दगी का असली सबक दे रहा है।"

मैंने माथे पर हल्की-सी त्योरी डाले भद्रसेन की बात सुन ली थी और चुप रहा था। मुझे अच्छा नहीं लगा था कि वह व्यक्ति ख़ामख़ाह मुझसे उन लोगों के बारे में बात क्यों कर रहा है। मेरी उन लोगों में क्या दिलचस्पी थी? मेरी तरफ़ से सुरजीत उसे कोई भी सबक दे, मुझे उससे क्या लेना-देना था? मैं अपनी अलग दुनिया में रहता था जहाँ मुझे उन लोगों के इतिहास से कोई मतलब नहीं था। तब तक क्योंकि मैं एक पत्रकार के रूप में वयस्क नहीं हुआ था, इसलिए 'स्कैंडल वैल्यू' में भी मेरी बहुत कम दिलचस्पी थी। मैं एक दिन के लिए दिल्ली घूमने के लिए आया था, मुझे इन सब बातों से क्या लेना था कि सुरजीत क्या कर रहा है, शुक्ला कैसे जी रही है और नीलिमा और हरबंस उन दिनों कहाँ हैं! मगर भद्रसेन को जैसे उन लोगों की बात करने का ही मेनिया था और मेरे

साथ बैठकर बात करने का और कोई विषय उसे सूझता नहीं था। मैं जितनी देर उसके पास बैठा रहा, वह उन्हीं की बात करता रहा, "तुम्हें पता है कि नीलिमा भी लन्दन चली गयी है?" उसने पूछा।

"नहीं, मुझे उन लोगों के बारे में कुछ पता नहीं है।"

"उसे गये भी मेरा ख़याल है दो-ढाई साल हो गये हैं। जाने से पहले वह एक बार मिली थी, तो कह रही थी कि वे लोग अब वहीं रहेंगे क्योंकि हरबंस वहाँ से लौटकर नहीं आना चाहता।"

"उन्हें अपने लिए जैसे ठीक लगता है, वैसे ही करना चाहिए।" मैं चाह रहा था कि किसी तरह वह यह समझ जाए कि उन लोगों के मामले में मैं बिल्कुल उदासीन हूँ और वह जो भी सूचनाएँ दे रहा है, वे मेरे लिए बिल्कुल व्यर्थ हैं।

"मेरे ख़याल में हरबंस ने गलती की है।" वह फिर भी उस विषय से नहीं हटा।

"अच्छा?"

"सुरजीत जैसे आदमी के भरोसे वह नीलिमा और शुक्ला को छोडक़र चला गया, यह उसने अच्छा नहीं किया।"

"उसे अपने घर के लोगों की अच्छाई-बुराई का हमसे ज़्यादा ख़याल होना चाहिए।"

"हरबंस बहुत सीधा आदमी है और यही उसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी है। वह झट से जिस किसी पर भी विश्वास कर लेता है। एक तरह से यह एक गुण भी है, मगर आज की दुनिया में..."

"आज की दुनिया को क्या हुआ है? वह भी तो आज की दुनिया का ही आदमी है।"

"मगर यह उसने अच्छा नहीं किया। तुम्हें शायद पता नहीं कि सुरजीत अब तक दो बार ब्याह कर चुका है और अपनी दूसरी पत्नी को उसने जालन्धर में अपने बाप के घर में छोड़ा हुआ है।"

"होगा," मैंने कहा, "हमें उससे क्या लेना है!" मगर यह कहते हुए मेरी उदासीनता में एक बेचैनी की लहर दौड़ गयी। तो क्या...? मगर मैंने जल्दी से अपने को सँभाल लिया। मैं नहीं चाहता था कि फिर वही छायाएँ मेरे मन पर मँडराने लगें जिनसे मैंने इतने सालों में बड़ी मुश्किल से छुटकारा पाया था।

"मेरा ख़याल है कि हरबंस को शायद इस बात का पता नहीं था," भद्रसेन बोला।

"उसे पता था या नहीं, यह सोचकर हमें परेशान होने की क्या ज़रूरत है!" मैंने थोड़ा झुँझलाकर कहा, "मेरा ख़याल है कि अब यहाँ से चला जाए। मुझे नौ बजे लखनऊ एक्सप्रेस पकडऩी है।"

समय और स्थान के अन्तर का जितना अनुभव इधर की सीमा पर होता है, उतना शायद उधर की सीमा पर पहुँचकर नहीं रहता। कम से कम मुझे वे बीते हुए नौ वर्ष बहुत ही छोटे प्रतीत हो रहे थे, शायद इसलिए कि मेरे जीवन में उस अरसे में बहुत एकतारता रही थी और प्रतिदिन के बदलते हुए घटना-चक्र के बीच भी मैं धुरी से निकले हुए कील की तरह पड़ा रहा था। मैं पहले से बड़ा हो गया था, अपने को पहले से अनुभवी समझने लगा था, मगर मेरे जीवन में और क्या हुआ था? और जो कुछ हुआ, उसमें भी प्राप्ति की जगह अप्राप्ति ही क्या अधिक नहीं थी?

"तुम अब भी वैसे ही लगते हो," हरबंस ने मुझसे कहा तो समय का अन्तराल और भी कम हो गया।

"मेरा तो ख़याल है मैं पहले से काफ़ी बदल गया हूँ।"

"बिल्कुल नहीं। मुझे तो लगता ही नहीं कि तुम्हें नौ साल के बाद देख रहा हूँ।"

"मेरा तो ख़याल है कि मैं भी पहले से बदल गया हूँ, और तुम भी।"

शायद यही बात थी जो वह मुझसे नहीं सुनना चाहता था। इससे उसका चेहरा कुछ लटक गया, तो मैंने कहा, "अब पहले से काफ़ी स्वस्थ लगते हो। लगता है लन्दन की आबोहवा तुम्हें बहुत मुआफ़िक आयी है।" इसकी उस पर तुरन्त प्रतिक्रिया हुई। उसके चेहरे का लटका हुआ भाव ठीक हो गया।

"ठंडा मुल्क है।" उसने कहा, "यहाँ की और वहाँ की आबोहवा में फ़र्क तो है ही।"

मुझे इससे ठंडे गोश्त की बात याद हो आयी।

"तुम कितना अरसा वहाँ रहे?"

"लगभग छ: साल।"

"मैंने सुना था कि बाद में नीलिमा भी वहाँ तुम्हारे पास चली गयी थी।"

"हाँ, साल-भर बाद वह भी वहाँ आ गयी थी।"

"तुमने इस बीच अपना डॉक्टरेट का थीसिस तो पूरा कर ही लिया होगा।"

हरबंस सहसा मेरी तरफ़ से आँखें हटाकर बैरे की तरफ़ देखने लगा जो हमारी मेज़ की तरफ़ आ रहा था। "यहाँ का बिल ले आना," उसने बैरे से कहा, "और ज़रा जल्दी!"

"नहीं, अभी बिल रहने दो।" मैंने बैरे से कहा, "और एक-एक गरम कॉफ़ी और ले आओ और साथ ही पानी के गिलास। जल्दी!" और हरबंस से मैंने फिर पूछा, "तुम्हारे थीसिस का विषय क्या था?"

"गदर के बाद का भारत।"

"और तुम छ: साल इस पर काम करते रहे?"

"नहीं, मैं वहाँ...कुछ दूसरा काम भी करता रहा हूँ।"

"दूसरा काम—मतलब?"

"मतलब नौकरी करता रहा हूँ।"

"थीसिस लिखने के साथ-साथ, या उसके बाद?"

"नहीं, साथ-साथ ही करता रहा हूँ। थीसिस मैं पूरा नहीं कर सका। तुम्हें पता ही है मैं वहाँ इस इरादे से नहीं गया था। मैं यूनिवर्सिटी में जाता था, कुछ काम किया भी था, मगर...पूरा नहीं कर सका।"

"तो अब यहाँ से पूरा करोगे?"

"हाँ, देखो। वैसे अब नौकरी का काम ही इतना रहता है कि और किसी भी चीज़ के लिए बहुत कम वक़्त मिल पाता है। वैसे ख़याल तो है...।"

उसकी आँखों से लग रहा था कि मेरा उस विषय में पूछताछ करना उसे अच्छा नहीं लग रहा, इसलिए मैंने विषय बदल दिया, "नीलिमा ने वहाँ जाने से पहले अपनी भरतनाट्यम की ट्रेनिंग पूरी कर ली थी?"

"हाँ, वह ट्रेनिंग लेकर ही वहाँ आयी थी। उसने वहाँ कई जगह नृत्य का प्रदर्शन भी किया—लन्दन के अलावा मेड्रिड, पैरिस, बर्न और बॉन वगैरह में भी। वह काफ़ी दिन वहाँ उमादत्त के ट्रुप के साथ रही है। उमादत्त की मुख्य पार्टनर उर्वशी उसे छोडक़र चली आयी थी। उसके बाद उसकी जगह यही उमादत्त के साथ सारे यूरोप का चक्कर लगाती रही है।"

"अच्छा?" मेरे मन में इससे कुछ ईर्ष्या जाग आयी कि मेरे परिचित लोग तो इस बीच जाने क्या से क्या हो गये और मैं अभी तक उन कलम-घसीट नौकरियों के चक्कर में ही हूँ। "यह तो बहुत ही ख़ुशी की बात है," मैंने कहा।

हरबंस कुछ क्षण सिगरेट के लम्बे-लम्बे कश खींचता रहा।

"इस तरह तुम भी उसके साथ सारा यूरोप घूम आये होगे।" मैंने उसी ईर्ष्या के साथ कहा।

"पहली बार मैं उसके साथ नहीं जा सकता था।" वह बोला, "मगर दूसरी बार गया था। पहली बार मुझे अपने काम में लन्दन में रुके रहना पड़ा था। उन दिनों मैं काफ़ी ज़ोर-शोर से अपने थीसिस में लगा हुआ था और मुझे रोज अपने सुपरवाइज़र के पास जाना होता था।"

"वैसे तुम्हारे ख्याल से नीलिमा के प्रदर्शन कैसे रहे? खूब सफल?"

"हाँ, काफ़ी सफल रहे।"

"यहाँ आने के बाद भी उसने कोई शो दिया है?"

"नहीं, अभी नहीं..." वह थोड़ा अटककर बोला, "मगर अब सोच रही है। मैं ही बोझ उठाने से डरता हूँ। तुम जानते हो इसमें कितनी परेशानी उठानी पड़ती है, नहीं तो वह तो कब से कह रही है!"

"मगर जहाँ तक मैं समझता हूँ, उसे यूरोप से आने के बाद ही यहाँ दो-एक प्रदर्शन कर देने चाहिए थे।"

हरबंस फिर कुछ न कहकर लम्बे कश खींचता रहा। तब तक वह जल्दी-जल्दी तीन-चार सिगरेट बुझा चुका था।

"तुम सिगरेट बहुत पीने लगे हो।" मैंने कहा।

“हाँ,” वह बोला, “पहले से कुछ ज़्यादा ही पीने लगा हूँ। अब यहाँ से चलोगे नहीं?”

मुझे अब उसे और लटकाये रखना ठीक नहीं लगा, इसलिए मैंने बिल अदा किया और उसके साथ चलने के लिए उठ खड़ा हुआ। “मुझे अब तक घर पहुँच जाना चाहिए था,” उसने उठते हुए कहा।

हम लोग बाहर आ गये, तो बैरे से पीछे से जल्दी-जल्दी आकर कहा, “साहब, आपके पैकेट!” हरबंस ने कुछ घबराहट के साथ अपने दोनों पैकेट बैरे के हाथ से ले लिये।

“पहले से एब्सेंट-माइंडिड भी हो गये हो।” मैंने कहा।

हरबंस ने इस पर कुछ नहीं कहा और दोनों पैकेट सँभाले हुए चुपचाप फुटपाथ पर चलता रहा। थोड़ी दूर चलकर उसने जैसे मन ही मन कुछ सोचते हुए कहा, “तुमसे इन दिनों किसी ने मेरे बारे में कुछ बात तो नहीं की?”

“कैसी बात?” मैंने पूछा।

“ऐसी ही कोई बात, जैसे कि लोगों की आदत होती है।”

“मैंने तुम्हारा मतलब नहीं समझा।” मैंने कहा।

“मतलब यही कि...लोग हरएक के बारे में कुछ न कुछ फिज़ूल की बातें करते रहते हैं। यहाँ एक मिस श्रीवास्तव हैं, सुषमा श्रीवास्तव। आजकल कुछ लोग उसके साथ मेरा नाम जोडक़र कुछ बे-सिर-पैर की बातें किया करते हैं। मुझे कुछ दिन हुए न जाने कौन बता रहा था!”

“यह मिस श्रीवास्तव कौन है?”

“एक जर्नलिस्ट लडक़ी है। पिछले एक-डेढ़ साल से उसकी काफ़ी गुड्डी चढ़ी हुई है। यहाँ ‘नेशनल स्टार’ में काम करती है। तुम्हारा अभी उससे परिचय नहीं हुआ?”

“नहीं, मेरा उससे परिचय नहीं हुआ और न ही मैंने तुम्हारे और उसके बारे में कोई बात सुनी है। मेरी अभी लोगों से भेंट ही बहुत कम हुई है।”

“लोग ऐसे ही बकवास करते रहते हैं। तुम आजकल की दुनिया को जानते ही हो...।”

“मगर लोगों की बकवास से हमें क्या लेना-देना है?”

“कुछ नहीं, मगर सुनकर तकलीफ़ तो होती ही है।”

“तकलीफ़ तो होती है मगर ऐसी बातों की तरफ़ ज़्यादा ध्यान न देना ही अच्छा है।”

“हाँ, मगर...एक बात यह है कि मुझे खुद उस लडक़ी के तौर-तरीके पसन्द नहीं हैं। उसकी रेप्यूटेशन भी कुछ अच्छी नहीं है।”

“मतलब चरित्र के मामले में?”

“नहीं, चरित्र के मामले में भी और वैसे भी उसकी रेप्यूटेशन कुछ और तरह की है।”

“कुछ और तरह की, यानी...?”

“लोग उसके बारे में कई तरह की बातें करते हैं।”

“ख़ैर होगा, छोड़ो। हमें क्या लेना-देना है?”

"तुमने सचमुच उसके बारे में कोई बात नहीं सुनी?"

"नहीं, अब तक तो नहीं सुनी। अब तुमसे सुन रहा हूँ।"

"वैसे कई लोग हैं जो उसकी बहुत तारीफ़ भी करते हैं। पिछले दिनों सुरजीत के यहाँ उसका काफी आना-जाना रहा है। तुम्हें पता है शुक्ला ने सुरजीत के साथ शादी कर ली थी?"

"अच्छा? मुझे नहीं पता था...।" और न जाने किस चीज़ से ठोकर खाकर मेरा पैर लडख़ड़ा गया। ठोकर इस बुरी तरह लगी थी कि काफ़ी देर तक मेरी साँस ठिकाने पर नहीं आयी और मैं कुछ बात भी नहीं कर सका। स्कूटर स्टैंड पर पहुँचने तक हरबंस ही बात करता रहा, "मेरे लौटकर आने से पहले ही उन लोगों की शादी हो गयी थी। वह लडक़ी अपनी ज़िन्दगी में अगर कोई सबसे बुरी गलती कर सकती थी, तो वह यही थी। अगर तुम मुझसे पूछो, तो गलती उससे ज़्यादा उसकी बहन की थी जो उसे यहाँ इस आदमी के भरोसे अकेली छोड़ गयी थी, हालाँकि वह जानती भी थी कि यह आदमी कैसा है।"

वह कुछ देर चुप रहा, इस आशा से कि शायद मैं कोई बात करूँ। मगर मैंने कोई बात नहीं की, तो वह फिर कहने लगा, "मैंने नीलिमा को लन्दन में ही बता दिया था कि हमारे पीछे यह घटना होगी। वह वहाँ से लम्बी-लम्बी चिट्ठियाँ लिखकर शुक्ला को समझाने का प्रयत्न किया करती थी। मगर तुम इनकी बात देखो कि इनमें से किसी ने वहाँ हमें इसकी सूचना तक नहीं दी। सब कुछ चुपचाप ऐसे हो गया जैसे कि यह एक षड्यन्त्र हो। बीजी ने या सरोज ने किसी ने भी हमें नहीं लिखा। अब वे कहती हैं कि शुक्ला ने ही हमें क़सम देकर मना कर दिया था और कहती थी कि मैं हरबंस भापाजी के आने पर उनकी इजाज़त लेकर उनके सामने नये सिरे से ब्याह करूँगी; यह ब्याह तो ऐसे ही है, असली ब्याह तो तब होगा...।"

मैंने फिर भी कुछ नहीं कहा, तो उसने पूछा, "तुम कोई और बात सोच रहे हो?"

"हाँ...नहीं...," मैंने कहा, "मैं तुम्हारी बात सुन रहा हूँ।"

"नहीं, तुम कुछ और सोच रहे हो।"

"नहीं, मैं तुम्हारी बात सुन रहा हूँ।"

वह पल-भर गम्भीर होकर मुझे देखता रहा, मगर इससे पहले कि वह कुछ और कहता, एक स्कूटर स्टैंड आ गया और मैं उसका हाथ पकड़े हुए उसे स्कूटर में ले गया।

शिमला की बरफ़ानी हवा राजधानी में उतर आयी थी।

वे दिन आ गये जब कभी-कभी पहाड़ी अबाबीलों के बोल राजधानी में भी सुनायी दे जाते हैं, मगर राजधानी में किसी को उन्हें सुनने की फुरसत नहीं होती। राजधानी में जीवन की गति इन दिनों इतनी तेज़ हो जाती है कि एक दिन का समय दिन-भर के कार्यों के लिए बहुत कम प्रतीत होता है। एक पत्रकार की डायरी के पन्ने ऊपर से नीचे तक घिचपिच हुए रहते हैं। सुबह इम्पीरियल होटल में न्यूज़ीलैंड से आये हुए घुमक्कड़ दम्पती के साथ नाश्ता। दस बजे रूस के कठपुतली-चालकों से भेंट। साढ़े ग्यारह से एक बजे तक दफ़्तर में जाकर रिपोर्ट। डेढ़ बजे सुब्बास्वामी एम. पी. के साथ खाना और तमिलनाडु के भाषा-सम्बन्धी आन्दोलन पर बातचीत। तीन से साढ़े चार बजे तक दफ़्तर। अपने दिये हुए प्रेस मैटर पर एक नज़र। पाँच बजे यूनिवर्सिटी कन्वोकेशन। सात बजे रूमानी दूतावास में रिसेप्शन। नौ बजे उपमन्त्री...से उनके घर पर भेंट। ग्यारह बजे दिल्ली देखने के लिए आये हुए मेहमान के साथ खाना। फिर सुबह...

ज़िन्दगी इतनी तेज़ रफ़्तार से चलती जाती थी कि अबाबीलों की आवाज़ सुनने या घास पर चमकती हुई धूप में सुस्ताने या बिना बरसे सिर पर से गुज़र जानेवाले बादलों को देखने की बात मन में उठती ही नहीं थी। जीवन का हर क्षण आगे आनेवाले किसी और क्षण की तरफ़ दौड़ा जाता था और वहाँ पहुँचते न पहुँचते आगे के किसी और क्षण की ओर दौड़ आरम्भ हो जाती थी। समय एक ऐसी गति से दौड़ता चलता था कि अपने आपका भी कुछ पता नहीं चलता था कि हम उस दौड़ में कहाँ हैं। हर क्षण यह आशंका बनी रहती थी कि हम समय से पीछे तो नहीं छूट गये। इस गति में कभी विराम आ जाता था तो वह विराम बहुत अस्वाभाविक लगता था। अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर बहुत तेज़ी से घटनाएँ घटित हो रही थीं, उनमें से हर घटना की हल्की गहरी प्रतिक्रियाएँ अपने आसपास दिखायी देती थीं और हर समय एक प्रश्नचिह्न मन में बना रहता था कि आनेवाले कल को उस मंच पर कहाँ क्या होगा! बीच-बीच में मंच के सूत्रधार मंच पर भाषण दे जाते थे जिससे हर घटना की संगति और अर्थ को नये सिरे से पकडऩा और समझना होता था। यह उसी तरह था जैसे आदमी बहुत तेज़ी से आकाश में उड़ता जाए, उड़ता जाए और आख़िर फिर वहीं पहुँच जाए जहाँ से उसने उडऩा आरम्भ किया था, मगर उस अनुभव के प्रकाश में वह फिर आगे उडऩे लगे और उड़ता जाए, उड़ता जाए जब तक कि फिर घूमकर पहली जगह पर न आ जाए।

ऐसे में आदमी कैसे सोच सकता है कि पहाड़ से अबीबीलें कब आती हैं और कब वापस जाने की तैयारी करती हैं; कब बाँसों में फूल आते हैं और कब झड़ जाते हैं?

और ऐसे में आदमी अपने मित्रों के यहाँ आने-जाने का फ़र्ज भी कैसे पूरा कर सकता है?

हरबंस को इस बात की बहुत शिकायत थी कि मैं एक बार उसके यहाँ जाने के बाद—और यह भी जब वह मुझे ज़बरदस्ती ले गया था—फिर दूसरी बार उसके यहाँ नहीं आया। दो-एक बार दफ़्तर में उसके फ़ोन आये थे, एक बार नीलिमा का भी फ़ोन आया था। मगर मैं उनके यहाँ नहीं जा सका। एक बार खाना खाने आने के लिए कहकर भी नहीं पहुँच सका, दूसरी बार कनॉट प्लेस में मिलने के लिए कहकर भी नहीं मिल पाया। उस दिन हरबंस ने फिर फ़ोन किया, तो वह बहुत नाराज़ था। उसने कहा कि मैं उस रात भी उनके यहाँ नहीं आया, तो वह आइन्दा कभी मुझे फ़ोन नहीं करेगा, कभी मुझसे बात नहीं करेगा, कभी मेरी सूरत नहीं देखेगा। मेरी डायरी में रात के नौ बजे के लिए लिखा था—पत्रकार क्लब में स्थानीय पत्रकारों का सहभोज। मैंने वहाँ काटकर लिख दिया था—हरबंस के यहाँ जाकर उसके साथ सुख-दुख चर्चा। हरबंस ने फ़ोन पर कहा था, "तुम जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी आ जाना। मैं छ: बजे के बाद घर पर ही रहूँगा। देखना आज जैसे भी हो, तुम्हें हर हालत में पहुँचना ही है। वर्षा हो, तूफ़ान हो, तुम छ: बजे यहाँ ज़रूर पहुँच जाओ, बस!"

मैं अपने नोट्स तैयार करता हुआ मन ही मन अनुमान लगाता रहा कि रात को उसकी और मेरी क्या-क्या बातें होंगी। वह पहली बार जब मुझे अपने साथ ले गया था, तभी मुझे उसके मन में झाँकने का एक अवसर मिल चुका था। उसके बाद मैं जो इतने दिन उसके यहाँ नहीं गया, उसका कारण व्यस्तता के अतिरिक्त शायद यह भी था कि मैं अपने अन्दर कहीं उसके यहाँ जाने से बचना चाहता था। उस दिन रात के ग्यारह बजे तक उसने मुझे अपने यहाँ रोके रखा था। मैं एक मौका पाकर उठ न आता, तो शायद वह और दो घंटे बात करता रहता। उसकी बातचीत लन्दन और डोवर से लेकर नयी दिल्ली तक के विस्तार को छूती रही थी, मगर मुझे लग रहा था कि उसकी सारी बातचीत का केन्द्र एक ही है और वह है सुरजीत। बातचीत में वह किसी न किसी तरह उसका ज़िक्र ले आता था और जैसे राह चलता आदमी एक काँटे पर पैर पडऩे से रुक जाता है, उसी तरह वह सुरजीत का ज़िक्र आने पर वहीं रुक जाता था।

"मैं इस आदमी से सख़्त नफ़रत करता हूँ।" वह कहता रहता था, "मेरा बस हो तो मैं ज़िन्दगी में कभी इसकी सूरत तक न देखूँ। मैं कितनी बार इस औरत से (मतलब नीलिमा से) कह चुका हूँ कि

हम लोग यहाँ से घर बदल लें, मगर यह मेरी बात सुनती ही नहीं। इसे ज़िन्दगी में सिर्फ़ अपनी ख़ुशी से मलतब है, मेरी ख़ुशी-नाख़ुशी से कोई मतलब नहीं!"

यह मुझे डिफेंस कॉलोनी में उनके घर जाकर ही पता चला था कि सुरजीत का घर उनके घर के बिल्कुल बराबर है। इनका नम्बर था डी एन 31 और सुरजीत का नम्बर था डी एन 32 । साथ-साथ घर होने से नीलिमा और शुक्ला का एक-दूसरी के घर में काफ़ी आना-जाना रहता था जो हरबंस कहता था उसे बिल्कुल पसन्द नहीं है। यह बात मेरी समझ में नहीं आयी कि ऐसी स्थिति में उसने वहाँ घर लिया ही क्यों था। सुरजीत और शुक्ला तो चार महीने से पहले से ही डिफ़ेन्स कॉलोनी में घर लेकर रह रहे थे।

"मैं उस लडक़ी को (यहाँ उसका मतलब शुक्ला से था) रात-दिन अपने घर में आते-जाते नहीं देखना चाहता। मुझे जो लोग अच्छे नहीं लगते, उनकी मैं सूरत भी देखना पसन्द नहीं करता। यह छोटी-सी बात जाने इस औरत की समझ में क्यों नहीं आती!"

"मगर तुम्हें सुरजीत से अब इतनी चिढ़ क्यों है?" मैंने जैसे एक प्रतिशोध लेने के लिए कहा, "सुरजीत को मैं तुम्हारे जितना तो नहीं जानता, मगर वह काफ़ी हँसमुख और मिलनसार आदमी है और...और मैं समझता हूँ काफ़ी इंटेलिजेंट भी है। एक पत्रकार के रूप में वह कैसा है, यह मैं नहीं कह सकता। लेकिन मैं समझता हूँ कि उस रूप में भी उसे काफ़ी सफल होना चाहिए।" हरबंस सुरजीत के विषय में कोई अच्छी बात कहता, तो शायद मैं उसका विरोध करके अपने मन की भड़ास निकाल लेता। मगर उसे विषय में जो बातें मेरे मन में आती थीं, उन्हें हरबंस कहे जा रहा था। मुझे बात करते हुए स्वयं आश्चर्य हो रहा था कि जिस व्यक्ति के कारण मैंने कई साल एक घुटन में काटे थे और जिसके कारण मैं नौ साल पहले दिल्ली छोडक़र चला गया था, अब उसी के पक्ष की बात मैं अपने मुँह से कैसे कर रहा हूँ।

"इंटेलिजेंट! आह!" हरबंस ने अपनी अस्थिरता को छिपाने के लिए ह्विस्की के गिलास की तरफ़ हाथ बढ़ा दिया और बोला, "वह कीचड़ का एक कीड़ा है, मैं बस इतना ही उसके बारे में कह सकता हूँ। अगर दुनिया में मैं किसी से सबसे ज़्यादा नफ़रत करता हूँ, तो वह यही आदमी है।"

"मगर विलायत जाने से पहले तो तुम्हारी उसके बारे में ऐसी राय नहीं थी।"

"तब मैं उसे जानता ही कहाँ था! मैं उसे बिल्कुल और तरह का आदमी समझता था।"

"यह तुम कैसे कह सकते हो कि तुम उसे जानते नहीं थे? तुम उसके ऊपर एक बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी छोड़ गये थे।" और यह कहते हुए मुझे नीलिमा की नौ साल पहले कही हुई बात याद हो आयी कि जाने क्यों हरबंस इस आदमी से हम लोगों की देखभाल करने के लिए कह गया है। उसने सुरजीत के बारे में अपनी भी राय व्यक्त की थी और मैंने जब उससे कुरेदकर पूछना चाहा था, तो उसने बात को टाल दिया था।

"मुझे पता होता कि वह मेरे पीछे इस तरह की हरकत करेगा, तो मैं कभी ऐसा करता?" कहते हुए उसने अपने गिलास का आख़िरी घूँट पी डाला। दो पेग ह्विस्की पी लेने के बाद उसकी आँखों का भाव बहुत विषादपूर्ण हो गया था। वह इस तरह एकटक मेरी तरफ़ देखने लगा था जैसे मुझी से उसके प्रति कोई अपराध बन पड़ा हो।

"ख़ैर जो होना था, हो चुका।" मैंने कहा, "अब तुम्हारे इस तरह शिकायत करने का अर्थ ही क्या है? जो भी स्थिति है, अब तुम्हें उसे स्वीकार करके ही चलना चाहिए।"

"मैं इस स्थिति को स्वीकार कैसे कर सकता हूँ?" वह कुछ आवेश के साथ बोला, "मेरे पीछे इस

आदमी ने इस लडक़ी की ज़िन्दगी तबाह कर दी है। मैं उसे माफ़ कैसे कर सकता हूँ?"

"लडक़ी उसे चाहती थी और उसने अपनी इच्छा से उससे ब्याह कर लिया है। इसमें मुझे तो तबाह करने या तबाह होने की कोई बात नज़र नहीं आती।"

"तुम कुछ नहीं जानते।" हरबंस अपने दोनों हाथों को हवा में झुलाकर बोला, "बिल्कुल कुछ नहीं जानते। तुम्हें पता है कि उस लडक़ी को मजबूरन उससे ब्याह करना पड़ा है, क्योंकि...क्योंकि..."

"क्योकि...?"

"क्योंकि उसके लिए और कोई चारा नहीं रहा था। तुम इन हिन्दू लड़कियों को तो जानते ही हो। वह यह समझती थी कि वह अब...अब और किसी से ब्याह करने के लायक नहीं रही। वह उसे इस हद तक ले जा चुका था कि उसके लिए, मेरा मतलब है वह समझती थी कि उसके लिए और कोई रास्ता नहीं है। उसे इस आदमी ने फुसलाकर अपने जाल में फँसाया है और अब यह दूसरों के सामने मेरा मज़ाक उड़ाता है। मैं इसे कभी माफ़ नहीं कर सकता। मैं यहाँ होता, तो कभी यह शादी न होने देता। मैं उसे समझा देता कि इन झूठे संस्कारों में कुछ नहीं रखा है। वह चाहे ज़िन्दगी-भर क्वाँरी रहती, मगर मैं उसे इस शख्स से, कम से कम इस शख्स से, कभी, कभी शादी न करने देता।"

वह नशे की वजह से और अपनी उत्तेजना के कारण इतना असंयत होता जा रहा था कि मुझे डर लग रहा था कि वह अभी गालियाँ ही न बकने लगे।

मेरा अपना मन बहक रहा था, मगर मैंने किसी तरह अपने पर वश किये हुए कहा, "देखो, तुम इस बात को लेकर ज़्यादा बहको नहीं। तुम्हें यह पता नहीं कि तुम इन बातों से उस लडक़ी की ज़िन्दगी खराब ही कर सकते हो। तुम्हें समझना चाहिए कि उस लडक़ी की भलाई अब इसी में है कि तुम इस स्थिति को खुले दिल से स्वीकार कर लो। तुम उसे माफ़ नहीं कर सकते, तो भी तुम्हारा फ़र्ज है कि उस लडक़ी की ख़ातिर उसे माफ़ कर दो और उसके साथ पहले की तरह ही दोस्ती का व्यवहार रखो।"

"दोस्ती का व्यवहार? उसके साथ?" वह गिलास में और ह्विस्की डालता हुआ बोला, "कभी नहीं। वह गुंडा है। मैं उससे नफ़रत करता हूँ। वह नरक का कुत्ता है। वह नाली में रेंगनेवाला कीड़ा है। क्या तुम समझते हो कि मैं ज़िन्दगी में कभी उसके साथ उठना-बैठना स्वीकार कर सकता हूँ? कभी नहीं।"

बोलते-बोलते उसके मुँह में झाग-सा आने लगा था। उसने रूमाल निकालकर अपना मुँह पोंछते हुए कहा, "मैं उस आदमी को और उसके साथ इस लडक़ी को ज़िन्दगी में ऐसी सज़ा दूँगा, ऐसी सज़ा दूँगा कि ये लोग याद रखेंगे। तुम समझते हो कि में इन्हें ऐसे ही माफ़ कर दूँगा?"

मेरे दिमाग़ पर भी नशे का असर चढ़ रहा था और मुझे अपने सामने की दीवारें लचककर गोल होती नज़र आ रही थीं। हरबंस उस वक़्त जो भी बात कहता था, मेरा मन होता था कि मैं उसका विरोध करूँ, वह जितना बुरा-भला सुरजीत को कह रहा था, मैं उतना ही बुरा-भला उसे कहना चाहता था। मेरे मन में एक दबी हुई प्रतिशोध की भावना थी जो उस समय उभरकर ऊपर आ रही थी। "तुम सुरजीत को सज़ा दो, मगर शुक्ला को तुम किस बात की सज़ा दोगे?" मैंने कहा, "उसने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?"

"उसने कुछ नहीं बिगाड़ा?" उसने अपने हाथ का गिलास पटककर मेज़ पर रख दिया, "उसने नहीं, तो किसने बिगाड़ा है? यह शख्स आज अपने को मेरा सम्बन्धी कह सकता है, तो किसकी वजह से? मैं इस लडक़ी से भी आज उतनी ही नफ़रत करता हूँ।"

दीवारें गोल होकर मेरे ऊपर को झुकी आ रही थीं और मेरे दिमाग़ में तेज़-तेज लहरें दौड़ रही थीं जैसे कि वहाँ एक गरम लावा उमड़ आया हो। जिस तरह हरबंस ने अपना गिलास पटककर मेज़ पर रखा था, उसी तरह मैंने भी अपना गिलास पटककर मेज़ पर रख दिया।

“मैं उस लडक़ी को बिल्कुल बेकसूर समझता हूँ।” मैंने कहा, “वह उस शख्स को तुम्हारी ज़िन्दगी में नहीं लायी, तुम उस शख्स को उसकी ज़िन्दगी में लाये हो। वह आज उसका पति है, मगर पहले वह तुम्हारा दोस्त था। तुम्हीं पहली बार उसे उनके घर में लेकर गये थे। तुम्हीं उसके ऊपर शुक्ला और नीलिमा की देखरेख की ज़िम्मेदारी छोडक़र गये थे। तुम्हें उन दिनों वही एक अपना मित्र और हितचिन्तक नज़र आता था। जब तुम उसे सब मित्रों से बढक़र मानते थे, तो उस लडक़ी को अब उससे ब्याह करने के लिए कसूरवार क्यों ठहराते हो? तुम्हें ही जब इन्सान की पहचान नहीं थी, तो उस लडक़ी को कैसे हो सकती थी? तुम पुरुष थे और तब तीस बरस के थे। वह एक लडक़ी थी और उस समय कुल सत्रह बरस की थी। तुम्हारे ही कहने से उसने जीवन भार्गव के साथ अपना सम्बन्ध तोड़ लिया था। तुम्हें खुद आदमी की पहचान कितनी थी? तुम्हें जीवन भार्गव छोटा और ओछा लगता था, क्योंकि वह सीधा और ख़ामोश आदमी था। यह आदमी तुम्हें बहुत अच्छा लगता था जो रोज़ रंडियों के कोठों पर जाता था और जिसने अपनी एक पत्नी लाहौर में छोड़ दी थी और दूसरी जालन्धर में छोड़ रखी है।” मैं उस लावे के जोश में शायद और भी बहुत कुछ कह जाता, मगर सहसा दाँतों में ज़बान के कट जाने से मैं बोलते-बोलते रुक गया। मुझे बोलते समय अपने को लग रहा था कि जीवन भार्गव का नाम केवल एक ओट है और वास्तव में मेरा अभिप्राय जीवन भार्गव से न होकर अपने से ही है।

“मैं नहीं जानता था कि उसका रंडियों के यहाँ आना-जाना है।” वह मर्माहत-सा बोला, “मुझे तब किसी ने यह नहीं बताया था।”

“और यह भी तुम्हें किसी ने नहीं बताया था कि उसने अपनी एक पत्नी को लाहौर में छोड़ दिया था, और उसकी दूसरी पत्नी जालन्धर में है?”

“मैं इतना ही जानता था कि वह शादीशुदा है।” उसने इस तरह उत्तर दिया जैसे एक अभियुक्त वकील को जिरह का उत्तर देता है।

“तुम यह बात जानते थे, फिर भी तुमने...?” मुझे लगा जैसे दीवारें टूटकर मेरे ऊपर गिरने जा रही हों। मैं नहीं जानता था कि मैंने जो सबसे पैना अस्त्र प्रयोग किया था, वह इतना कुन्द साबित होगा। मैं फटी-फटी आँखों से भौंचक्का-सा उसकी तरफ़ देखता रहा। मेरी उत्तेजना के सामने उसकी उत्तेजना फीकी पड़ गयी थी और वह एकदम मुरझा-सा गया था।

“मैंने सोचा था कि वह ज़िम्मेदार आदमी है, इसलिए...।” और वह हाथों और आँखों से कुछ टटोलता हुआ-सा चुप कर गया। वह जाने उस समय क्या ढूँढऩा चाहता था—सिगरेट की डिब्बी या ह्विस्की का गिलास! मगर वे दोनों चीज़ें तो बिल्कुल उसके सामने ही रखी थीं।

“इसलिए...?” और सारी परिस्थिति का एक बिल्कुल नया ही अर्थ मेरे मस्तिष्क में कौंध गया। मेरा मन हुआ कि मैं अपनेवाला गिलास उठाकर ज़मीन पर पटक दूँ या उसके मुँह पर दे मारूँ।

“मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि वह मेरी अनुपस्थिति का इस तरह लाभ उठाएगा।” वह बोला, “मगर फिर भी मुझे सबसे ज़्यादा शिकायत इस लडक़ी से है कि इसने मेरे लौटकर आने का इन्तज़ार क्यों नहीं किया। कम से कम इसे एक बार चिट्ठी लिखकर मुझसे पूछ तो लेना ही चाहिए था। अगर इसके मन में मेरे लिए ज़रा भी कद्र होती, तो क्या यह मुझसे पूछे बिना इस तरह का क़दम उठाती? इसने मेरी राय न पूछकर एक ऐसा अपराध किया है जिसके लिए मैं इसे कभी क्षमा नहीं कर सकता।”

“तुम्हें यही नज़र आता है कि उसने एक अपराध किया है, यह नज़र नहीं आता कि तुमने उसके प्रति उससे कहीं भारी, कहीं बड़ा, अपराध किया है?”

उसका सिर झूलकर गरदन पर आ गया। वह कुछ देर मेरी तरफ़ इस तरह देखता रहा जैसे कि सीज़र ने ब्रूटस का खंजर खाने के बाद उसकी तरफ़ देखा होगा। उसे मुझसे इस तरह की सख़्त बात सुनने की आशा नहीं थी।

“कम से कम तुम इस बात से तो सहमत हो कि जो कुछ हुआ है वह नहीं होना चाहिए था,” आख़िर उसने कहा।

“मैं तो समझता हूँ कि जो हुआ है ठीक हुआ है, और ऐसे ही होना चाहिए था।”

उसका सिर ज़रा-सा उठा और फिर उसी तरह झूल गया, “तुम मेरे साथ अन्याय कर रहे हो।” उसने कहा, “मैंने नहीं सोचा था कि तुम भी मुझसे इस तरह की बातें कहोगे।”

मेरे दिमाग़ का लावा धीरे-धीरे शान्त हो रहा था और मुझे कुछ अफ़सोस भी हो रहा था कि मैंने अपने को उन बहाव में क्यों बह जाने दिया। आख़िर वह उन लोगों का व्यक्तिगत मामला था और मैं उसमें एक बाहर का व्यक्ति ही था। मुझे उससे यह सब कहने का क्या अधिकार था? यह सोचकर मन कुछ बेचैन होने लगा, तो मैं सोचने लगा कि मैं तुरन्त वहाँ से उठकर चल दूँ। उसके लिए बहाना मुझे नीलिमा के आने से मिल गया। वह सहसा साथ के कमरे से आँखें मलती हुई उस कमरे में आ गयी और हाथ से अपनी जम्हाई को रोकती हुई बोली, “तुम लोग क्या सारी रात बातें ही करते रहोगे? मैंने तो इस बीच थोड़ी देर सो भी लिया है।”

“तुम जाकर सो रहो,” हरबंस अपना गुस्सा उस पर उतारने लगा, “हम लोग आज नौ बरस के बाद मिले हैं। हो सकता है हम सुबह तक बातें करते रहें।”

मगर मैं उस अवसर का लाभ उठाकर उठ खड़ा हुआ। हरबंस ने उसके बाद बहुत कहा कि मैं और रुक जाऊँ। उसके मन में शायद कहने को अभी बहुत कुछ बाकी था। मगर मैं एक बार उठ खड़ा हुआ, तो फिर नहीं बैठा। आखिर हरबंस ने अपना ड्रेसिंग गाउन पहना और बस स्टॉप तक मुझे छोडऩे चला आया। मेरे बस में चढऩे तक वह अनुरोध करता रहा कि मैं फिर जल्दी ही किसी दिन वहाँ आऊँ। जब मेरी बस इंडिया गेट के पास पहुँची, तो मुझे सहसा वह बात याद हो आयी जो उसने अपने और किसी मिस श्रीवास्तव के सम्बन्ध में कही थी। मुझे अफ़सोस हुआ कि उस विषय में तो मैंने उससे कुछ पूछा ही नहीं। उससे बात करते समय मैं इस तरह अपने व्यक्तिगत संस्कार के वश में पड़ गया था कि अपनी पत्रकार की रुचि को भूल ही गया था। परन्तु जब उस दिन पत्रकार क्लब का सहभोज छोडक़र मैंने उसके यहाँ जाने की बात तय की, तो उस विषय में मेरी रुचि एक और कारण से पहले से कहीं बढ़ गयी थी। वह मिस श्रीवास्तव के सम्बन्ध में कहना क्या चाहता था? इस बीच पत्रकार क्लब में मेरा मिस श्रीवास्तव के साथ परिचय हो चुका था और दो-एक बार मैं उससे बात भी कर चुका था। अपने हल्के साँवले रंग के बावजूद वह लडक़ी देखने में काफ़ी आकर्षक थी। उसकी सधी हुई बात में जितना आत्मविश्वास था, उतना ही उसके बात करने के ढंग में भी था। वह अपने कोट की जेब में हाथ डाले हुए पीछे को थोड़ा झुककर जब हँसती थी, तो उसमें एक ऐसी सहजता होती थी कि जान पड़ता था उसके मन में कहीं कोई कुंठा या रुकावट नहीं है। वह जिन लोगों के बीच खड़ी होती थी, उनमें इस तरह घुल-मिल जाती थी जैसे उनसे अलग उसकी और कोई दुनिया है ही नहीं। अपने दो बार के परिचय में ही उसने मुझे कुछ ऐसा आभास दिया था जैसे हम एक अरसे से एक-दूसरे को जानते हों, और मैं जितना ही उसे देखता था, उतना ही मुझे हरबंस की उसके बारे में कही हुई बात असंगत लगती थी।

शाम को जब मैं दफ़्तर की वैन में हरबंस के घर की तरफ़ चला, तो यह बात बार-बार मेरे मन में

आ रही थी कि हरबंस ने जो बात कही थी, आखिर उसका आधार क्या था!

गेट के अन्दर क़दम रखते हुए मैं हवा के झोंके से जूते के अन्दर पैर के तलवों तक काँप गया। बाहर के कमरे की बत्ती जल रही थी, मगर सारे घर में इस तरह ख़ामोशी छायी थी जैसे वहाँ कोई रहता ही न हो। मैंने बरामदे में जाकर दरवाज़ा खटखटाया। एक मिनट में ही उनके नौकर बाँके ने दरवाज़ा खोल दिया। अन्दर दीवान पर नीलिमा बैठी थी, एक पत्रिका में आँखें गड़ाये हुए। हरबंस पैर फैलाये पास की कुरसी पर बैठा था और एक किताब के पन्ने पलट रहा था। उनका लडक़ा अरुण नीचे दरी पर बैठा ड्राइंग पेपर पर सुरमे की सलाई से लकीरें खींच रहा था। उन तीनों की ख़ामोशी में एक ऐसी व्यवस्था थी कि वह कमरा कमरा न लगकर एक पिक्चर का सेट लगता था, जहाँ मेरा आना एक फ़ालतू आदमी के सेट पर चले आने की तरह था। मैं सेट पर दाख़िल होने से पहले क्षण-भर दरवाज़े के पास रुका रहा। नीलिमा ने इस बीच मेरी तरफ़ देखकर आँखें फिर पत्रिका की ओर कर लीं और हरबंस ने हाथ की पुस्तक नीचे रख दी। अरुण बिना मेरी ओर ज़रा भी ध्यान दिये अपनी लकीरें खींचता रहा।

“तुम लोगों में क्या ख़ामोश रहने की प्रतियोगिता चल रही थी?” मैंने नीलिमा के पास दीवान पर बैठते हुए कहा।

“तुमने बहुत देर कर दी।” हरबंस ने कहा। फिर कुछ देर हम चारों ही ख़ामोश रहे। मुझे नीलिमा और अरुण के कपड़ों से लगा जैसे वे कहीं जाने के लिए तैयार बैठे हों। मुझे वह ख़ामोशी बहुत विचित्र लग रही थी, इसलिए मैंने कहा, “तुम लोग कहीं जा रहे थे क्या? मुझे लगता है जैसे मैं ग़लत वक़्त पर यहाँ आया हूँ।”

“ग़लत वक़्त पर क्यों?” हरबंस बोला, “मैंने तुम्हें बुलाया था।”

“वह तो ठीक है, मगर तुम लोग इस तरह ख़ामोश बैठे हो कि...”

“नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। हम लोग तुम्हारा इन्तज़ार ही कर रहे थे।”

“मुझे तो लगता है तुम लोग कहीं जा रहे थे।”

“मैं कहीं नहीं जा रहा। यह शायद जा रही है।” हरबंस ने ‘शायद’ पर इस तरह ज़ोर दिया कि नीलिमा ने सहसा तमककर पत्रिका परे हटा दी और अपनी स्वाभाविक लचक के साथ उठ खड़ी हुई।

“हाँ, में जा रही हूँ।” वह बोली, “और अरुण भी मेरे साथ जा रहा है। तुम्हारा दोस्त आ गया है, इसलिए तुम बैठकर इसके साथ बातें करो।”

जब मैं पहली बार उनके यहाँ आया था, तो भी मुझे नीलिमा के अपने प्रति व्यवहार में कुछ खिंचाव-सा महसूस हुआ था। उसकी शिष्टता और बातचीत की कोमलता में मुझे एक बनावटीपन-सा लगा था, जैसे वह शिष्टता विदेश में सीखी हुई एक कला ही हो। उसकी आँखों में कहीं एक रूखापन था जिसे वह अपनी अतिरिक्त कोमलता से छिपाना चाहती थी। मैं तब सोचता रहा था कि क्या यह इसलिए है कि वह अब तक भी नौ साल पहले की उस बात को नहीं भूली कि मैं उससे कहकर भी उस शाम उसके यहाँ नहीं गया था। मगर उतनी पुरानी बात तब तक तो उसे भूल जानी चाहिए थी।

“तुम लोगों को कहीं जाना है, तो जाओ।” मैंने कहा, “मैं भी पत्रकार क्लब के सहभोज में चला जाता हूँ। मेरी वजह से तुम लोगों को अपना कार्यक्रम बिगाडऩे की ज़रूरत नहीं।”

“हमारा कोई कार्यक्रम नहीं है।” हरबंस अपने हाथ की किताब रखता हुआ बोला, “इसे साथ के घर में एक पार्टी में जाना है, यह चली जाएगी।”

मुझे ध्यान हो आया कि वैन में आते हुए मैंने सुरजीत के घर के बाहर कुछ सजावट देखी थी और दो-तीन गाडिय़ाँ भी उसके घर के बाहर खड़ी थीं।

“क्या सुरजीत के घर में कोई पार्टी है?”

“शुक्ला की बच्ची की पहली वर्षगाँठ है।” नीलिमा बोली, “मैं कितनी देर से कह रही थी कि हम लोग थोड़ी देर के लिए वहाँ चले चलते हैं, तुम्हारे आने तक लौट आएँगे। शुक्ला ने कितनी बार कहा है कि भापाजी, कम से कम आज के दिन तो उसके यहाँ ज़रूर आ जाएँ। मैं घंटे-भर से तैयार बैठी हूँ, मगर ये साहब हैं कि यहाँ से हिल ही नहीं सकते। कह रहे थे, मैंने अपने दोस्त को वक़्त दे रखा है, इसलिए घर से बाहर नहीं जा सकता। अरुण भी कब से तैयार बैठा है। उसके लिए भी इनका कहना है कि उसे सात बजे सो जाना चाहिए, इसलिए वह भी नहीं जाएगा।”

“मेरा तो ख़याल है कि तुम लोगों को पार्टी में ज़रूर जाना चाहिए।” मैंने कहा, “मैं उतनी देर यहाँ बैठकर कोई किताब देखता हूँ। तुम लोग आध घंटे में उधर से होकर आ जाओ।”

“हा-हा! मैं, और उनके घर जाऊँगा?” हरबंस बोला।

“तुम न जाओ, मगर लडक़े को तो मेरे साथ जाने दो!” नीलिमा जैसे चीखकर बोली।

“तुम इस तरह चिल्लाओ नहीं।” हरबंस ने उसे डाँट दिया।

“तो तुम लडक़े को मेरे साथ क्यों नहीं जाने देते?”

हरबंस ने एक बार मेरी तरफ़ देखा और फिर एक बहुत बड़ा उपकार करने की तरह बोली, “उठ अरुण, चल मौसी के घर चलें। तेरी बीनू तेरा इन्तज़ार कर रही होगी।”

“बॉबी, मैं तला दाऊँ?” इतने छोटे लडक़े में परिस्थिति का इतना ज्ञान मुझे आश्चर्यजनक लगा।

“जाओ बेटे।” हरबंस ने कहा, “और जब नींद आये, तो वापस आ जाना।”

अरुण ने अपने ड्राइंग के कागज़ साथ सँभाल लिये। नीलिमा ने मुझसे कहा, “अच्छा, मैं अभी आ जाऊँगी, तुम चले नहीं जाना।” और अरुण को साथ लिये हुए वहाँ से चली गयी।

“तो?” उनके चले जाने के बाद हरबंस ने कहा।

“तुम बताओ। मैंने तो सोचा था कि आज तुम कम्बल ओढक़र पड़े हुए मिलोगे।”

“क्यों?”

“टेलीफ़ोन पर तुम्हारी आवाज़ से लग रहा था जैसे तुम बीमार हो।”

“हर बीमारी कम्बल ओढक़र पड़े रहनेवाली बीमारी नहीं होती।”

“तो कम से कम मेरा अनुमान तो ठीक ही था।”

उसके चेहरे का भाव कुछ व्यथापूर्ण हो गया। “सूदन, मैं आज तुमसे बहुत ही गम्भीर बात करना चाहता हूँ,” उसने कहा।

“मैं भी आज सुनने के लिए ही आया हूँ। आज तुम चाहे मुझे सुबह तक बिठा रखो। सुबह दस बजे मुझे दफ़्तर ज़रूर पहुँचना है।”

“तुम आज खाना यहीं खाना।”

“यह तो मैं सोचकर ही आया था।”

“और देर हो गयी, तो सो भी यहीं रहना।”

“ज़रूरत हुई, तो देखूँगा।”

“हरबंस ने एक बार अपने सिर पर हाथ फेरा और कुरसी पर सीधे होते हुए बाँके को आवाज़ दी। बाँके अपना दुबला-सहमा हुआ चेहरा लिये सामने आ खड़ा हुआ।

“देखो, ये खाना यहीं खाएँगे और इनका बिस्तर भी मेरे पढऩे के कमरे में लगा देना।”

बाँके ने ज़िम्मेवारी सँभालने के ढंग से आँखें हिलायीं और चला गया।

“तो?” बात फिर पहली जगह पर लौट आयी।

“आज तो तुम्हीं को बात करनी है। मैं तो केवल सुनने के लिए आया हूँ।”

“तुम जानते हो, तुम अकेले ही आदमी हो जिससे मैं बात कर सकता हूँ?”

मैंने सिर हिला दिया।

“मैं इस समय अपनी ज़िन्दगी के सबसे बड़े संकट में से गुज़र रहा हूँ।”

खिडक़ी का परदा हवा से हिला और मेरे शरीर में एक और ठंडी सिहरन दौड़ गयी।

“बाइ द वे, मैं इस बीच तुम्हारी मिस श्रीवास्तव से दो-एक बार मिल चुका हूँ।” मैंने कहा।

“अच्छा!” वह थोड़ा अव्यवस्थित हो गया।

“पत्रकार क्लब में किसी ने उससे परिचय कराया था।”

“तुम्हें वह कैसी लगी?”

“मुझे अच्छी लगी। देखने में भी अच्छी है और बातचीत भी बहुत समझदारी के ढंग से करती है!”

“हा-हा!” उसने कन्धे हिला दिये।

“क्यों?”

“वह बेवकूफ़ लडक़ी है। यह तुमने खूब कहा कि वह बातें समझदारी के ढंग से करती है!”

मैं चुप रहकर उसकी आँखों में उतरने का प्रयत्न करने लगा। आख़िर यह आदमी चाहता क्या है? क्या दुनिया में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है जिसकी वह खुले दिल से प्रशंसा कर सके? हरबंस के माथे पर हल्की-सी त्यौरी पड़ गयी थी और वह अपने निचले होंठ को ज़रा-ज़रा काट रहा था।

"मेरी उससे दो बार भेंट हुई है।" मैंने कहा, "हो सकता है तुम उसे ज़्यादा जानते हो।"

"वह बेवकूफ़ भी है और बदतमीज़ भी है।" वह बोला।

"तुम कहते हो, तो मैं मान लेता हूँ, मैं उसे इतना नहीं जानता।"

"मुझे सिर्फ़ उसकी आँखें पसन्द हैं, या उसका होंठ हिलाकर 'हलो' कहने का ढंग।"

"मुझे ये दोनों ही चीज़ें ज़्यादा पसन्द नहीं हैं।"

"हा, हा!" वह बोला, "वह अपने आपको समझती बहुत है।"

"यह मैं भी मानता हूँ, मगर तुम उस दिन उसके बारे में क्या बात कर रहे थे...?"

"कुछ नहीं, ऐसे ही।

"फिर भी कुछ बात तो होगी ही...?"

उसने सिर्फ़ कन्धे सिकोडक़र हाथ हिला दिये।

"मुझे तो वह बहुत सीधी लडक़ी लगी। हाँ, मिलनसार ज़रूर है।"

"ठीक है। मैंने तुमसे कहा था कि और भी कई लोग हैं जो उसकी तारीफ़ करते हैं।"

"मैंने और किसी के मुँह से उसके बारे में ऐसी-वैसी बात नहीं सुनी।"

"ख़ैर, तुम इस बात को अब जाने दो।" उसने अपने अन्दर से उठती हुई झुँझलाहट को दबाकर कहा।

उसकी आँखें खिडक़ी के परदे के उस तरफ़ किसी चीज़ को देखने का प्रयत्न कर रही थीं। "मैं तुमसे आज कुछ और ही बात करना चाहता था।" उसने कहा और इस तरह चुप कर गया जैसे कोई चीज़ उसके गले में अटक गयी हो।

मैंने अपना जूता उतार दिया और पैर समेटकर बैठ गया। मैं बहुत हल्के मूड में दफ़्तर से उठकर आया था, मगर हरबंस के भाव को देखते हुए मेरा भी मूड बदलने लगा। उसके चेहरे से लग रहा था जैसे वह अपने अन्दर ही अन्दर कहीं भटक रहा हो।

वह कुछ देर परदे की लकीरों को देखता रहा, फिर मेरी तरफ़ देखकर उसने कहा, "मैं बहुत दिनों से तुम्हारे साथ बैठकर बात करना चाहता था। तुम नहीं जानते कि मैं कैसे वर्षों से अपने अन्दर तिल-तिल करके गल रहा हूँ। मुझे कई बार लगता है कि मेरे लिए एक ही उपाय है और वह यह कि मैं अपने जीवन का अन्त कर दूँ।"

"अब ये फ़िजूल की बातें न करो।" मैंने कहा, "मैं तो तुम्हारा मूड ठीक रखने के लिए ही इधर-उधर की बातें कर रहा था। तुम्हारे मन में जो भी बात हो, तुम खुलकर मुझसे कहो। मैं यह तो नहीं कहता कि मैं तुम्हें कुछ राय दे सकूँगा, या तुम्हारी कुछ सहायता कर सकूँगा, मगर फिर भी...।"

"देखो सूदन।" वह अपनी तर हुई आँखों को झपकता हुआ बोला, "मुझे लगता है कि मेरे ऊपर एक तरह का अभिशाप है। मैं वर्षों से एक भी नया मित्र नहीं बना सका। लन्दन में इतने साल रहा हूँ और यहाँ आये भी इतने दिन हो गये हैं, मगर एक भी नये व्यक्ति को मैं अपना मित्र तो क्या, अच्छा परिचित भी नहीं बना सका। मुझे लगता है जैसे मैं दुनिया से बिल्कुल कट गया हूँ और अपने में बिल्कुल अकेला हूँ। हर नया आदमी मुझे बिल्कुल अपरिचित दुनिया का आदमी

लगता है और मैं उससे अपने अन्दर की कोई चीज़ नहीं बाँट सकता। पुराने लोगों में तुम्हीं एक हो, और इसीलिए मैं तुमसे मिलने की इतनी उत्सुकता से प्रतीक्षा करता हूँ। तुम अकेले आदमी हो जिससे मिलने पर उन दिनों मुझे यह नहीं लगा था कि तुम मुझे मेरी वजह से न मिलकर किसी और की वजह से मिलते हो। इसीलिए शायद उन दिनों भी मैं तुमसे जितना तुम दे सकते थे, उससे ज़्यादा की आशा किया करता था। मैं अपना मन तब भी तुम्हारे सामने पूरी तरह खोलकर रखना चाहता था, मगर अपने स्वभाव के सन्देह और शंका के कारण ऐसा नहीं कर सका। हो सकता है तुम तब मुझे बाहर जाने से रोक देते और मेरे लिए परिस्थिति उतनी ख़राब न होती, जितनी कि अब हो गयी है।"

"मेरे साथ खुद भी यही बात थी।" मैंने कहा, "मैं भी उन दिनों अपने दिल की बात पूरी खोलकर तुम्हारे सामने नहीं रख सका। अगर ऐसा होता, तो शायद...।"

"आदमी एक ख़ास उम्र तक ही किसी नये आदमी को अपना मित्र बना सकता है।" वह मेरी बात की तरफ़ ध्यान न देकर अपनी ही धुन में बोला, "और मेरे लिए वह उम्र यहाँ से जाने से पहले ही बीत चुकी थी। मैं नहीं जानता था कि मैं उस उम्र में पहुँच चुका हूँ जहाँ आदमी चाहकर भी नये सिरे से ज़िन्दगी शुरू नहीं कर सकता। अगर तब मैं यह जानता, तो कभी बाहर न जाता। विदेश में बिताये हुए छ: साल मेरे लिए कितने दुख के और कितने कष्ट के रहे हैं, यह शायद मैं तुम्हें ठीक से नहीं बता सकता। अगर समय को लौटाया जा सकता, तो मैं फिर उन्हीं दिनों में लौट जाना पसन्द करता, जब मैंने सब कुछ छोड़-छाडक़र यहाँ से भाग जाने का निश्चय नहीं किया था।"

मैंने एक बार अपनी हथेलियों को मल लिया, दीवान पर रखा हुआ एक गद्दा पीछे से उठाकर अपनी गोद में रख लिया और उस पर कुहनियाँ टिकाकर अपना चेहरा हथेलियों पर रख लिया। मुझे फिर उसके नीलिमा के नाम लिखे हुए पत्रों की याद आ रही थी, मगर मैंने उनका ज़िक्र करना उचित नहीं समझा। जब-जब मुझे उन पत्रों की याद आती थी, तब-तब मेरे लिए उसके व्यक्तित्व का रूप बिल्कुल बदल जाता था। तब वह मेरे लिए उपहास और व्यंग्य का पात्र न रहकर सहानुभूति और सम्मान का पात्र बन जाता था। तब मेरा मन उसके चेहरे के साथ एक अस्थिर आकांक्षा और एक अप्राप्त विज़न का सम्बन्ध जोड़ देता था और उसके उस लटके हुए चेहरे में भी मुझे कुछ असाधारणता नज़र आने लगती थी। उसकी फ़ाइल के अधूरे और उलझे हुए पन्नों में भी तब एक सार्थकता आ जाती थी और मैं सोचने लगता था कि उन पन्नों के रिक्त कोष्ठ क्या किसी भी तरह भरे नहीं जा सकते!

"ख़ैर, गुज़रे हुए दिनों की बात करना तो बेकार है।" मैंने कहा, "मगर तुम आज जिस मन:स्थिति में हो, उसे मैं ज़रूर समझना चाहता हूँ। तुम इन दिनों इस तरह थके और निढाल से लगते हो जैसे आदमी ज़िन्दगी पर अपनी पकड़ ही छोड़ बैठा हो।"

उसने अपने सूखते हुए होंठों को ज़बान से गीला किया और अपने दोनों हाथों की उँगलियाँ उलझाकर कुछ देर उन्हें देखता रहा। वह शायद मन ही मन कुछ निश्चित करना चाह रहा था। आख़िर उसके उलझे हुए हाथ अलग-अलग हो गये।

"मैं तुम्हें पूरी बात शुरू से बताना चाहता हूँ।" उसने कहा, "हो सकता है तुम मुझे कोई ऐसा सुझाव दे सको, जिससे मैं इस दलदल से बाहर निकल सकूँ। नहीं, मुझे तो लगता है कि मैं हमेशा के लिए गुम हो गया हूँ और मेरा अतीत, वर्तमान और भविष्य सब कुछ इस दलदल में खो गया है। मैं इससे बाहर निकलने की जितनी चेष्टा करता हूँ, उतना ही इसमें और धँसता जाता हूँ।"

उसने उठकर कमरे की बीच की बत्ती बन्द कर दी और कोने का टेबललैम्प जला दिया। इससे कमरे का वातावरण कुछ उदास और कुछ रहस्यमय-सा हो गया। परदे के पीछे से खिडक़ी का जितना भाग नंगा था, उसे भी उसने अच्छी तरह ढक दिया। फिर आकर उसने तिपाई पर टाँग

फैला लीं और सिगरेट सुलगाने के लिए दियासलाई जलाकर क्षण-भर उसे देखता रहा।

“तुम जानते हो कि मैं इकत्तीस जनवरी को यहाँ से गया था...।” उसने सिगरेट सुलगा ली और दियासलाई बुझा दी, “मैं उन्नीस फ़रवरी को लन्दन पहुँचा था।”

“यह मैं जानता हूँ, नीलिमा ने मुझे बताया था।”

“वैसे तो लन्दन पहुँचने के साथ ही मेरे मन में एक संघर्ष आरम्भ हो गया था, मगर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, वह संघर्ष धीरे-धीरे बढ़ता गया। मगर नीलिमा के वहाँ आने तक मैं फिर भी किसी तरह अपने को सँभाले रहा। मगर उसके आने के बाद...।” और वह रुक गया। लैम्प की रोशनी उसके चेहरे पर नहीं पड़ रही थी। उसने चुप रहकर दो-तीन लम्बे-लम्बे कश खींचे और कहा, “उसके बाद जो कुछ हुआ, उसने मेरे जीवन में उजाले की कोई किरण नहीं रहने दी। मैं तब से अब तक निरन्तर अँधेरे में भटक रहा हूँ जहाँ मुझे किसी भी तरफ़ उजाले का कोई मार्ग नज़र नहीं आता। मुझे लगता है जैसे मैं एक काल-कोठरी में बन्द हूँ और जीवन-भर मुझे उस काल-कोठरी में बन्द रहकर हाथ-पैर पटकते जाना है।”

मैंने पीछे से एक और गद्दा उठाकर पहले के गद्दे पर रख लिया और अच्छी तरह अपनी कुहनियों पर झुक गया। वह आहत दृष्टि से सामने की तरफ़ देखता हुआ बात करता रहा। टेबल-लैम्प के धूपछाँही उजाले में मेरे सामने एक अपरिचित देश के धुआँरे-से चित्र बनने लगे—सपने के चित्रों की तरह, जिनके अमूर्त यथार्थ में मन अपने-आप रंग और आकार भरने लगता है—वास्तविक यथार्थ से भिन्न, परन्तु मन की संगति में उतने ही यथार्थ। वह उस घर की बात करने लगा जिस घर में वे लोग लन्दन में रहते थे। मेरे मन में एक ऊँची पहाड़ी का चित्र बनने लगा जिसकी घुमावदार पगडंडियाँ शिखर पर जाकर एक छोटे-से घर में समाप्त होती थीं। जब कोहरा बहुत घना होता था, तो नीचे बस की सडक़ से वह घर दिखायी नहीं देता था। घर की मालकिन नीचे के दो कमरों में रहती थी और ऊपर के दो कमरे उसने इन लोगों को दे रखे थे। ये लोग अपना खाना अपने कमरे में ही बनाते थे। जब तडक़ते हुए प्याज़ की गन्ध ऊपर के कमरे से नीचे जाती थी, तो मकान-मालकिन अपने भारी कूल्हों को किसी तरह समेटती हुई ऊपर आकर इनका दरवाज़ा एक उँगली से खटखटाती थी। हर रोज़ वह इस गन्ध पर एतराज़ करती थी, हर रोज़ ये उसे वचन देते थे कि अब वहाँ प्याज़ नहीं तडक़ेंगे, मगर तीसरा दिन गुज़रते-ग़ज़रते वे फिर उबले हुए अँग्रेज़ी खाने से उकता जाते थे और सोचते थे कि चलो एक बार और मकान-मालकिन की बात सुन लें, फिर आइन्दा तडक़े हुए प्याज़वाला हिन्दुस्तानी खाना नहीं बनाएँगे। उनकी आर्थिक स्थिति काफ़ी ख़राब थी, क्योंकि हरबंस ने तब तक हाई कमीशन की नौकरी छोड़ दी थी और वे उस थोड़ी-सी आय पर ही अपना गुज़ारा करते थे जो उन्हें बी.बी.सी. के कार्यक्रमों से नीलिमा की बेबी-सिटिंग से होती थी। एक बार हाई कमीशन के किसी उत्सव में नृत्य का प्रदर्शन करने के बाद नीलिमा को बी.बी.सी. पर इक्का-दुक्का प्रोग्राम मिलने लगे थे। हरबंस को भी कभी-कभी भारतीय कार्यक्रम में वार्ताओं के लिए बुला लिया जाता था। नीलिमा बेबी-सिटिंग से बहुत कुढ़ती थी, मगर उसके सिवा कोई चारा भी नहीं था। हरबंस उन दिनों बहुत गम्भीर होकर अपने थीसिस के काम में जुटा था। नीलिमा जिस समय काम पर जाती थी, वह यूनिवर्सिटी चला जाता था। शाम को दोनों ही काम से थके हुए लौटते थे और रोज़ किसी न किसी वजह से उनकी लड़ाई हो जाती थी। लड़ाई की वजह से अक्सर तीन वक़्त में उनका एक वक़्त का खाना गोल हो जाता था। कोई-कोई दिन तो डबलरोटी के गिने हुए टुकड़ों और गिने हुए सिगरेटों पर ही निकलता था। स्याह कॉफ़ी भूख मारकर रहने में सहायता करती थी। बचत के ख़याल से वे यहाँ अपने मित्रों के ज़्यादा आने-जाने से बचते थे, मगर उनके कई मित्र अक्सर उनके यहाँ हिन्दुस्तानी खाने की माँग करते हुए आ जाते

थे। मित्रों की आवभगत वे ठीक से करते, मगर उनके जाते ही फिर लड़ाई हो जाती। हरबंस गीले कपड़ों की गाँठ पीठ पर लादे हुए उन्हें लांड्री में सुखवाने ले जाता था। वहाँ दो-दो घंटे क्यू में खड़े रहने के बाद उसकी बारी आती, तो कपड़े सुखवाकर फिर गाँठ कन्धे पर लादे आधा मील चलकर वह पहाड़ी के नीचे पहुँचता। वहाँ रुककर एक सिगरेट पीता और फिर चढ़ाई आरम्भ करता। घर पहुँचकर पता चलता कि नीलिमा ने गुस्से में कॉफ़ी भी नहीं बनायी। वह गठरी रख देता और खिडक़ी के शीशों पर जमे हुए कोहरे को देखता हुआ बैठा रहता। कभी गैस सुलगाकर खुद ही कॉफ़ी बनाने लगता।

"देखो, मैं कहती हूँ मैं यहाँ से वापस जा रही हूँ।" नीलिमा ताव में उससे कहती, "मुझसे इस तरह की ज़िन्दगी नहीं जी जाती। क्या यही ज़िन्दगी जीने के लिए तुमने मुझे यहाँ बुलाया था? यही तुम्हारा वह 'विज़न' है जिसकी तुम लम्बी-चौड़ी बातें लिखा करते थे?" हरबंस के अन्दर से अवसाद और कटुता की न जाने कितनी-कितनी तहें उसकी आँखों में उफन आतीं।

"मैं भी तो तुम्हारे साथ यही ज़िन्दगी जी रहा हूँ।" वह कहता।

"मगर मेरी वजह से तो नहीं जी रहे। मैं यह ज़िन्दगी तुम्हारी वजह से जी रही हूँ। मैं इसीलिए पहले साल-भर वहाँ से नहीं आयी थी। मैं जानती थी कि यहाँ हम लोगों की क्या दुर्गति होगी। मगर पहले तो तुमने झूठे विश्वास देकर मुझे यहाँ बुला लिया और अब मुझसे बेबी-सिटिंग कराते हो और ख़ुद खिडक़ी के पास बैठे आसमान को घूरते रहते हो! मैं ऐसी ज़िन्दगी बरदाश्त नहीं कर सकती।"

"नहीं कर सकती, तो जैसा तुम्हारे मन में आये वैसा कर लो।" वह कहता।

"अगर मुझसे नहीं बरदाश्त होगा तो मैं ज़रूर जो मेरे मन में आएगा, वह करूँगी। तब बैठकर रोना नहीं, और न ही मुझे दोष देना।"

"मैं कौन होता हूँ तुम्हें दोष देनेवाला! मैं तुम्हारा कुछ लगता थोड़े ही हूँ!"

"मगर मैं यह जानना चाहती हूँ कि तुमने मुझे वह सब लिख-लिखकर बुलाया क्यों था? क्या तुम यह पहले ही नहीं जानते थे कि यहाँ यह हालत होगी?"

"मैं समझता था कि तुम इस बीच काफ़ी सँभल गयी होगी, और यहाँ आकर मेरे लिए वही सिर-दर्द पैदा नहीं करोगी।"

"हाँ, मैं ही तो तुम्हारे लिए सिर-दर्द पैदा कर रही हूँ। एक तो तुम्हारे लिए कमाकर लाती हूँ, दूसरे घर में नौकरानी का सारा काम करती हूँ; उस पर भी तुम्हें यह कहने का हौसला पड़ता है कि मैं ही तुम्हारे लिए सिर-दर्द पैदा कर रही हूँ।"

"तुम्हें घर का काम करने में शरम आती है? यहाँ सब घरों मं औरतें अपने हाथ से अपना काम करती हैं।"

"और उनके ख़ाविन्द बैठकर सिगरेट पीते हैं और थीसिस लिखते हैं और वे जाकर उनके लिए बेबी-सिटिंग करती हैं!"

"हा-हा! तुम मेरे लिए कमाई करती हो? मैं जो सूखी डबलरोटी खाता हूँ, उसके पैसे मैं बी.बी.सी. से ले आता हूँ।"

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं? तुम्हीं तो सब लाते हो? कोई दूसरा होता, तो उसे यह कहते शरम आती।"

"मैं कहता हूँ अपनी ज़बान ज़्यादा मत खोलो, नहीं तो मुझसे थप्पड़ खा बैठोगी।"

“क्या?” नीलिमा अपने हाथ की चीज़ पटककर खड़ी हो जाती, “तुम मुझे हाथ लगाकर तो देखो। मैं फिर कभी तुम्हारी सूरत भी देख जाऊँ तो...!”

“मैं कह रहा हूँ कि अब तुम मेरे पास से चली जाओ और मुझे चुपचाप बैठा रहने दो।”

“तुम चुपचाप बैठे रहने के सिवा और कर भी क्या सकते हो?”

“अगर चाहो, तो मैं वह भी तुम्हें बता सकता हूँ।”

“हाँ-हाँ, बताओ, क्या बता सकते हो?”

“मैं कहता हूँ इस वक़्त अपनी ज़बान बन्द रखो और यहाँ से चली जाओ।”

“ज़बान बन्द रखो! मुझे यहाँ परदेश में बुलाकर मेरी यह दुर्दशा कर रहे हो!”

“दुनिया में अगर सबसे मूर्ख कोई स्त्री है, तो वह तुम हो।”

“और तुम क्या हो? दुनिया के सबसे समझदार आदमी न?”

“मैं भी दुनिया का सबसे मूर्ख आदमी हूँ। न होता, तो कभी तुमसे ब्याह न करता।”

“तो अब मुझे क्यों नहीं छोड़ देते? मैं आज ही तुमसे अलग होने को तैयार हूँ।”

“मैं कह रहा हूँ इस वक़्त यहाँ से चली जाओ।”

“हाँ, मैं चली जाऊँगी। और इस तरह जाऊँगी कि तुम बस देखते रहोगे...।”

“हाँ, हाँ, मैं देखता रहूँगा। अब तुम यहाँ से साथ के कमरे में चली जाओ।”

वह गुस्से में कोई न कोई चीज़ पटककर तोड़ देती और पैर पटकती हुई साथ के कमरे में चली जाती। वह बैठा देखता रहता कि शीशों पर लगा हुआ कोहरा कैसे जमकर बरफ होता और नीचे झड़ जाता है। उसे अफ़सोस होता कि जब वह एक बार उस जीवन से हताश होकर घर से चला आया था, तो उसने फिर उस स्त्री को वहाँ क्यों बुला लिया! क्या वह पहले ही नहीं जानता था कि उसके यहाँ आने पर वही कुछ होगा? मगर फिर भी उसने कितना ज़ोर देकर उसे बुलाया था और कितनी व्याकुलता के साथ उसके आने की प्रतीक्षा की थी! नीलिमा ने अपने दो-एक पत्रों में संकेत-भर किया था कि उसे सुरजीत के व्यवहार से कुछ शिकायत है और उसे लगता है जैसे वह उसे बातों में लाकर उसके अकेलेपन का अनुचित लाभ उठाना चाहता हो। “मुझे मैसूर जाने से पहले भी ऐसा आभास था, और अब तो वह आभास और भी स्पष्ट हो गया है।” उसने लिखा था, “तुमने और शुक्ला ने उस आदमी को जितना सिर पर उठा रखा था, मुझे वह उतना ही ओछा और छोटा प्रतीत होता है। वह समझता है कि कुछ उपहार देकर और कुछ चिकनी-चुपड़ी बातें करके वह किसी भी लडक़ी को फुसला सकता है।” तब नीमिला के पत्रों को पढ़ते हुए उसका शरीर गुस्से के मारे ऐंठने लगता था और उसका मन होता था कि या तो वह स्वयं उडक़र दिल्ली पहुँच जाए, या जैसे भी हो शुक्ला और नीलिमा को अपने पास बुला ले। मगर क्योंकि शुक्ला का आना असम्भव था, इसलिए उसने नीलिमा को लिखा था कि वह आते हुए कोई न कोई ऐसी व्यवस्था कर आये, जिससे उसके पीछे सुरजीत का घर में आना-जाना बन्द हो जाये। नीलिमा ने आकर बताया था कि वह बीजी से कह आयी है कि वे शुक्ला को अकेली सुरजीत के साथ घूमने-फिरने के लिए न जाने दिया करें। इससे उसे कुछ हद तक सन्तोष हो गया था, मगर...।

वह बैठा रहता और दिन में कोहरे को हल्का उजला और रात को गहरा काला होते देखता रहता। उसके मन में भी कोहरे की ही तरह कभी हल्का-सा उजाला फैलता, मगर उसके फैलते-फैलते ही

कोहरा फिर घना और अँधेरा हो जाता।

मेरी आँखों के सामने लन्दन की खिडक़ी का वह शीशा और उसके सामने बैठा हुआ वह सिगरेट फूँकता हुआ व्यक्ति—यह चित्र इतना स्पष्ट बन रहा था कि मैं डिफेंस कॉलोनी के उस कमरे के वातावरण को लगभग भूल ही गया था और यह भी भूल गया था कि वे घटनाएँ कुछ बरस पहले की हैं। मैं देख रहा था कि वह आदमी उसी तरह उदास बैठा है और उसी तरह कोहरा खिड़कियों से झड़ रहा है। नीलिमा बाहर से रेनकोट में भीगती हुई आती है, आकर अपना रेनकोट उतार देती है और उससे कहती है कि हाई कमीशन के कार्यालय में उसकी प्रसिद्ध नर्तक उमादत्त से भेंट हुई है। "उमादत्त की पार्टनर उर्वशी उसे छोडक़र भारत चली गयी है और वह चाहता है कि मैं उसके साथ उर्वशी की जगह यूरोप के दौरे पर चलूँ।"

"मगर तुम नहीं जा रही हो। तुम कैसे जा सकती हो?" हरबंस उसकी तरफ़ गम्भीर दृष्टि से देखता हुआ कहता है।

"मैं क्यों नहीं जा सकती?" नीलिमा अपनी बाँहें उलझाये हुए तनी हुई-सी खड़ी रहती है। "कुल ढाई-तीन सप्ताह की तो बात है। इतने दिन मैं लन्दन की ऊब से भी छुटकारा पा लूँगी और मुझे पैसे भी इतने मिल जाएँगे जितने लन्दन में दो महीने की बेबी-सिटिंग से नहीं मिलेंगे। वैसे भी मेरे लिए यह बहुत अच्छा आरम्भ है। मैं यह अवसर हाथ से नहीं जाने देना चाहती।"

हरबंस कुछ देर सूनी आँखों से उसकी तरफ़ देखता रहता है और फिर कहता है, "मगर मैं उतने दिन यहाँ बिल्कुल अकेला नहीं रह जाऊँगा...?"

"कुछ दिन अकेले रहना तुम्हारे लिए भी अच्छा नहीं होगा? तुम बहुत दिनों से हर रोज़ कहते भी हो कि कुछ दिनों के लिए मैं तुम्हारे पास से चली जाऊँ, तो तुम अकेले रहकर अपने थीसिस का काम ज़्यादा अच्छी तरह कर सकते हो।"

"मगर मैं नहीं चाहता कि तुम उमादत्त के या किसी और के ट्रुप के साथ इस तरह बाहर जाओ। मुझे यह अच्छा नहीं लगेगा।"

"हाँ, तुम्हें क्यों अच्छा लगेगा!" नीलिमा की आवाज़ सहसा तीखी हो जाती है, "तुम्हें तो यही अच्छा लगेगा कि मैं यहाँ रहकर दूसरों के बच्चों के मुँह और नाक तौलिये से पोंछती रहूँ। मैं इस ज़िन्दगी से बेज़ार आ चुकी हूँ। मैं एक दिन भी अब यह काम नहीं करूँगी। मैंने उमादत्त से कह दिया है कि मैं उसके साथ चलूँगी, और अब मैं अपनी बात वापस नहीं ले सकती।"

"देखो नीलिमा?" वह अपनी कुरसी से उठ खड़ा होता है, "तुम नहीं जानतीं कि तुम किस ज़िन्दगी में पैर रख रही हो। मैंने तुम्हारे लिए इस तरह की ज़िन्दगी की बात आज तक नहीं सोची।"

"मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि मैं किस तरह की ज़िन्दगी में पैर रख रही हूँ। और तुमने क्या मेरे लिए किसी भी तरह की ज़िन्दगी की बात आज तक सोची है? मैं दो साल कथक और छ: महीने भरतनाट्यम का अभ्यास इसलिए नहीं करती रही कि मैं अँग्रेज़-बच्चों को जाँघिये और निक्कर पहनाया करूँ। अगर तुम मुझे जाने से ज़बरदस्ती रोकोगे, तो मैं तुमसे कहे देती हूँ कि मैं वैसे ही चली जाऊँगी और कभी तुम्हारे पास लौटकर नहीं आऊँगी।"

वह चुपचाप उसकी तरफ़ देखता रहता है और अपना थूक निगलकर बैठ जाता है।

"तब जो तुम्हारे मन में आता हो, वह करो। तुम्हें किसी चीज़ से नहीं रोकूँगा।

"अच्छा भी यही है कि तुम मुझे न रोको, क्योंकि अब तुम्हारे रोकने से मैं रुकूँगी नहीं।"

“तो ठीक है। मैं इस विषय में अब और कुछ कहना-सुनना नहीं चाहता।”

“मैं भी यही चाहती हूँ कि इस विषय में अब और कुछ कहा-सुना न जाए।”

“तुम कब जा रही हो?”

“परसों।”

“और आओगी कब?”

“यह अभी कह नहीं सकती। उमादत्त ने कहा है कि हमें कुल अठारह-बीस दिन ही लगेंगे। मगर दो-चार दिन ज़्यादा भी लग सकते हैं।”

“मुझे यह पता चलता रहेगा कि तुम कब कहाँ हो?”

“मैं तुम्हें हर दूसरे-तीसरे दिन पत्र लिखती रहूँगी।”

“देखो, एक बार फिर सोच लो। तुम्हें इस तरह की ज़िन्दगी अपनाकर बाद में पछतावा भी हो सकता है।”

“मैं कह चुकी हूँ कि इस वक़्त हमें और कुछ कहना-सुनना नहीं चाहिए। मैं उमादत्त से वायदा कर चुकी हूँ।”

“अच्छा, तुम मुझे एक वचन दे सकती हो?”

“बताओ।”

“तुम मुझे यह वचन दे सकती हो कि इस ट्रिप के बाद दूसरे ट्रिप पर तुम उसके साथ जाने के लिए नहीं कहोगी?”

नीलिमा पल-भर सोचती रहती है। फिर आँखें झपककर कहती है, “अच्छा, नहीं कहूँगी।”

“देखो, तुम मुझे वचन दे रही हो!”

“मैंने कह दिया है कि नहीं कहूँगी।”

“यह बात तुम्हें भूल तो नहीं जाएगी?”

“तुम अब सवाल पूछना बन्द नहीं करोगे?”

“तो चलो, मैं खुद तुम्हारे साथ चलकर उमादत्त से बात कर लेता हूँ। उसने तुम्हें क्या देने को कहा है?”

“दो गिनी रोज़।”

“तुम दो गिनी रोज़ के लिए...?”

“देखो, तुम फिर बात शुरू कर रहे हो। मुझसे तो तुम इतने-इतने वचन ले रहे हो, खुद अपनी कही हुई बात पर क़ायम नहीं रह सकते?”

“ख़ैर, इस बार तुम कह आयी हो तो चली जाओ। मगर मैं दूसरी बार तुम्हें नहीं जाने दूँगा।”

वह उसके पास से हट जाती है और जाकर गैस सुलगा देती है।

"देखो नीलिमा," वह पीछे से जाकर उसे बाँहों में ले लेता है, "तुम मुझे ग़लत मत समझो। मैं तुम्हारे नृत्य के प्रदर्शन के ख़िलाफ़ नहीं हूँ। मगर मैं नहीं चाहता कि तुम्हारा इस तरह के लोगों के साथ ज़्यादा आना-जाना हो। मैं चाहता हूँ कि तुम इस कला का अच्छी तरह अभ्यास करके फिर अपना ही प्रदर्शन करो। मगर इस तरह व्यावसायिक ढंग से नहीं। यह ढंग भाँड़ों और बहुरूपियों का है। जहाँ तक मैं सोच सकता हूँ तुम्हें अभी कई बरस और अभ्यास करना चाहिए। मैं चाहता हूँ कि जब भी तुम्हारे नृत्य का प्रदर्शन हो, तो ऐसे हो कि मैं उस पर गर्व कर सकूँ। अभी तुमने जितना सीखा है, वह बहुत थोड़ा है और मैं कह सकता हूँ कि यह तुम्हारा आरम्भ ही है। मैं यहीं बस जाना चाहता था, मगर तुम्हारी वजह से मैं थीसिस पूरा करके लौट भी चलूँगा। मुझसे सम्भव हुआ तो मैं जीवन में कभी तुम्हें इतने साधन जुटा दूँगा कि तुम निश्चिन्त होकर इस कला का अभ्यास कर सको। तुम अपने में जितना कुछ सीखकर सन्तुष्ट हो, मैं उतने से सन्तुष्ट नहीं हूँ। मैं इसके अतिरिक्त कुछ चाहता हूँ—वह कुछ जो दूसरों जैसा न होकर उनसे बहुत भिन्न हो।"

"मैं इतना जानती हूँ कि तुम कभी मेरी किसी चीज़ से सन्तुष्ट नहीं हो सकते।"

"तुम मुझे ग़लत समझती हो, सवि! हो सकता है कोई दिन ऐसा आये जब जो मैं चाहता हूँ, वह सम्भव हो सके। तब तुम मेरी बात मान जाओगी।"

"मैं जानती हूँ वह दिन कभी नहीं आएगा।"

"अगर हम कोशिश करें, तो क्यों नहीं आएगा? हम उसे लाने का प्रयत्न तो कर ही सकते हैं। मगर सबसे पहले मुझे अपना काम पूरा करना है। तुम इस समय जो कुछ भी करती हो, वह यही सोचकर करो कि अभी तुम्हें यहाँ रहकर मेरे काम में मेरी सहायता करनी है।"

"मैं इससे ज़्यादा और क्या सहायता कर सकती हूँ?" नीलिमा का शरीर उसकी बाँहों में शिथिल नहीं होता, कसा रहता है, "मगर तुम कभी मेरे किये को समझोगे नहीं।"

"तुम यह कहकर मेरे साथ ज़्यादती कर रही हो।"

"हो सकता है मैं ज़्यादती कर रही हूँ, मगर मैं कुछ भी करूँ, तुम्हारे साथ हमेशा ज़्यादती ही होती है।"

दो दिन बाद वह बोट ट्रेन से चली जाती है। वह उसे छोडक़र घर लौटता है। ऊपर जाने से पहले उसकी मकान-मालकिन से भेंट हो जाती है।

"तुम्हारी पत्नी आज कहीं बाहर गयी है?" वह पूछती है, "वह कह रही थी कि वह मैड्रिड और पैरिस जा रही है।"

"हाँ," हरबंस अनमना-सा उत्तर देता है, "वह अपने नृत्य के प्रदर्शन के लिए वहाँ गयी है।"

"नृत्य के प्रदर्शन के लिए?" वह कुछ आश्चर्य के साथ कहती है, "यह उसने मुझे नहीं बताया। तुम उसके साथ नहीं गये!"

"मैं अपने काम की वजह से नहीं जा सका।" वह ज़ीने की तरफ़ देखता है और गिनता है कितनी सीढिय़ाँ पार करके उसे अपने कमरे में पहुँचना है।

"वह अच्छी डांसर है?" मकान-मालकिन कुछ अविश्वास के साथ पूछती है।

"वह भारतीय नृत्य की बहुत अच्छी कलाकार है।" वह अपनी झुँझलाहट को गर्व का पुट देकर कहता है।

"वह कितने दिन बाहर रहेगी?"

"लगभग बीस दिन। ज़्यादा से ज़्यादा इक्कीस दिन।"

"तुम इन दिनों बहुत अकेले महसूस करोगे।"

"मैं इन दिनों काम करूँगा।"

"मगर देखो, मैं तुमसे एक बात कहना चाहती हूँ...।"

"हाँ-हाँ, कहो।"

"मुझसे प्याज़ की गन्ध बिल्कुल बरदाश्त नहीं होती। मेरा लडक़ा भी उससे बहुत चिढ़ता है। मैं तुमसे फिर अनुरोध के साथ कहती हूँ कि अब तुम अपने कमरे में प्याज़ न तडक़ा करो।"

"अब तुम्हें शिकायत का मौका नहीं मिलेगा।"

"मैं यह नहीं कहती कि हिन्दुस्तानी खाना बुरा होता है, मगर...।"

"कम से कम बीस दिन तो तुम्हें मौका नहीं ही मिलेगा।"

"बीस दिन ही नहीं, उसके बाद भी नहीं मिलना चाहिए। मैं वह गन्ध बिल्कुल बरदाश्त नहीं कर सकती।"

वह ज़ीना पार करके अपने कमरे में आता है। गीले कपड़ों की गाँठ पड़ी है। वे कपड़े उसे सुखवाने के लिए ले जाने हैं। नीलिमा जाने की तैयारी में कई चीज़ें बिखरी छोड़ गयी है। वह उन्हें समेटने लगता है। उसे भूख लगी है। वह बासी डबलरोटी निकालकर उसे चबाने लगता है। यह निश्चित है कि बीस दिन वह प्याज़ नहीं तडक़ेगा। बस भूरी डबलरोटी खाएगा और स्याह कॉफी पिएगा...।

"बॉबी, मैं बिनी को उछके घल छे छाथ ले आया हूँ," सहसा दरवाज़े का परदा हटाकर अरुण कमरे में आ गया। उसके आते ही धूपछाँही उजाले से अपरिचित देश का वातावरण अदृश्य हो गया। मैंने गद्दे कुहनियों के नीचे से निकालकर पीछे रख लिये। घड़ी में कुल साढ़े सात बजे थे। कुल एक-डेढ़ घंटे हम लोग ज़िन्दगी का कितना लम्बा सफ़र तय कर आये थे! कई बार दिन और महीने भी खाली-खाली से बीतते हैं और कई बार कुछ थोड़े-से क्षण ही बहुत भरपूर हो जाते हैं।

अरुण के पीछे-पीछे शुक्ला की आया उसकी बच्ची को उठाये हुए आ गयी। आया अपने नये कपड़ों में बहुत ख़ुश लग रही थी। बच्ची इस तरह घबरायी हुई थी जैसे उसके साथ कोई अनहोनी घटना घटित हो रही हो।

"बॉबी, आज इछका जमनदिन है," अरुण बोला। मैं इछको तुमछे किछी कलाने के लिए आया दूँ। छुक्का मौछी कैती थी जाकल इछको बॉबी छे किछी कला लाओ।"

हरबंस अपनी कुरसी से उठ खड़ा हुआ। "मैं अभी आ रहा हूँ।" उसने चलते-चलते कहा, "मुझे पेट में कुछ भारीपन महसूस हो रहा है।"

"मगर तुम बच्ची को 'किस' तो करते जाओ।" मैंने कहा।

"हाह!" उसने कहा और बिना बच्ची की तरफ़ देखे कमरे से चला गया।

"बॉबी!" अरुण अपने उद्देश्य में असफल होकर कुछ रुआँसा हो गया।

“मैं अभी आ रहा हूँ, बेटे।” हरबंस दूसरे कमरे से बोला, “तुम जाकर अपनी ममी को बुला लाओ।”

अरुण इस दूसरे उत्तरदायित्व की वजह से पहले उत्तरदायित्व को भूल गया और तुरन्त वापस चल पड़ा। “मैं अबी ममी को लेकल आता हूँ।” उसने कहा और लगभग दौड़ता हुआ अहाते से बाहर निकल गया। आया पल-भर भौंचक्की-सी खड़ी रही। मैंने उठकर बच्ची के गालों को सहला दिया और उसे चूम लिया। आया उसके घबराये हुए चेहरे को अपने कन्धे से सटाये हुए चली गयी।

मैंने उठकर बीच की बत्ती जला दी और कमरे की चीज़ों को देखने लगा। कमरा अच्छा सजा हुआ था, मगर न जाने क्यों यह आभास होता था कि वह जगह ज़रूरत से ज़्यादा भरी हुई है, कि उसे अपनी सामथ्र्य से ज़्यादा भार उठाना पड़ रहा है। दीवान और कुरसियों के अलावा वहाँ किताबों के दो शेल्फ़ भी रखे थे। उनमें रखी हुई किताबों को देखकर मैं सोचने लगा कि उन किताबों का चुनाव ज़्यादा मेहनत के साथ किया गया है, या उन्हें ढंग से रखने में ज़्यादा मेहनत की गयी है। किताबों के बीच-बीच में तरह-तरह के फूलदान और चीनी तथा कपड़े की गुडिय़ाएँ रखी थीं। कुछ ऐसी ही सियामी गुडिय़ाएँ और एक बड़ी-सी सियामी वॉलप्लेट एक दीवार पर लगी थीं। दूसरी दीवार पर एक हरिण की खाल की टेपेस्ट्री लगी थी जिसके ऊपर वानगो के प्रसिद्ध चित्र ‘ड्रॉब्रिज’ की छपी हुई, चित्र के वास्तविक आकार की प्रतिलिपि लगायी गयी थी। दो खुली अलमारियों में न जाने कितनी तरह के क्यूरियो सजाकर रखे हुए थे। हर चीज़ के चुनाव और व्यवस्था में एक सुरुचि का परिचय मिलता था, परन्तु यह छाप मन पर बहुत गहरी पड़ती थी कि उस कमरे में उतना कुछ नहीं होना चाहिए था। उससे मन में एक अव्यक्त रुकावट का-सा अनुभव होता था, एक ऐसे घेरे का जो खुलकर साँस लेने में बाधक हो। मन होता था कि कमरे में थोड़ी खुली जगह और होनी चाहिए—ऐसी जगह जहाँ कुछ भी न हो, जिसे उपयोग में लाने की कोई विधि न सोची गयी हो। कमरे में नज़र दौड़ाते हुए मुझे यूँ लगने लगा जैसे मैं एक घर की बैठक में न होकर किसी विचित्र वस्तुओं के संकलनकर्ता के गोदाम में या किसी आर्ट डीलर के शोरूम में खड़ा हूँ। उस वातावरण में व्यावसायिकता का आभास तो नहीं होता था, मगर वहाँ की हर चीज़ में एक ऐसी अतिरिक्तता अवश्य थी कि किसी भी चीज़ के वहाँ से हटा दिये जाने पर मन को कुछ खुलेपन का ही अनुभव होता।

मैं सब चीज़ों पर अनिश्चित-सी नज़र डालने के बाद पुस्तकों के एक शेल्फ़ के पास चला गया। रेशम की नीली जिल्द की एक चौड़ी और ऊँची पुस्तक मैंने निकाल ली। वह आर्ट पेपर पर छपी आधुनिक चित्रकला-सम्बन्धी पुस्तक थी। जिल्द खोलते ही अन्दर के पहले पन्ने पर मेरी नज़र हरबंस की लिखावट पर पड़ी। लिखा था—‘सावित्री को बहुत-बहुत प्यार के साथ, हरबंस’। नीचे तिथि थी 11 जुलाई, 1947। मैं उसमें कुछ देर पिकासो और दूसरे चित्रकारों के चित्र देखता रहा। फिर मैंने दूसरी पुस्तक निकाली। वह अमृता शेरगिल के जीवन और उसके चित्रों के सम्बन्ध में थी। वह अगस्त सन् सैंतालीस में खरीदी गयी थी और उस पर लिखा था—‘प्रिय सावित्री, अनुभूति से बड़ी कला की कोई सचाई नहीं है और मैं चाहता हूँ कि तुम इस सच्चाई को अपने में आत्मसात् कर सको। तुम्हारा...।’ एक बड़ी-सी पुस्तक में जिसमें बड़ी-बड़ी चित्रों की प्लेट्स थीं, उसने लिख रखा था—‘मैं जानता हूँ मेरे अन्दर वह कुछ नहीं है जिससे एक कलाकार की सुन्दर आत्मा का निर्माण होता है। तुम्हारे अन्दर वह कुछ है और मैं चाहता हूँ कि उसे बाहर लाने में, रूप और आकार देने में मैं कुछ सहायक हो सकूँ, जिससे मुझे इसमें गर्व का अनुभव हो कि मैंने ही अपने हाथों से तुम्हें बनाया है। तुम्हारा...।’ चित्रकला के अतिरिक्त कई-एक नृत्य-कला-सम्बन्धी पुस्तकें थीं जो इसी तरह के समर्पणों के साथ सावित्री को भेंट की गयी थीं। उन पुस्तकों से हटकर मैं दूसरे शेल्फ़ के पास पहुँचा, तो वहाँ कुछ उपन्यास थे, कुछ इतिहास सम्बन्धी पुस्तकें थीं, कुछ-एक पुस्तकें राजनीति और भूगोल जैसे विषयों की थीं। मैं उन्हें देख ही रहा था कि बाहर से कई लोगों की आवाज़ें सुनायी देने लगीं। कुछ देर में नीलिमा अरुण को साथ लिये हुए कमरे में आ गयी। उसका चेहरा उस समय बहुत लाल हो रहा था, जाने उत्साह के कारण, या आवेश के कारण।

“तो तुम यहीं हो!” उसने कहा।

“हाँ, हम लोग बातें कर रहे थे।”

“हरबंस कहाँ है?”

“बाहर गया है। अभी आ जाता है।”

उसी समय हरबंस बाहर से आ गया। उसने आते ही नीलिमा से कहा, “देखो, अब लडक़े के सोने का वक़्त हो गया है। पहले जाकर इसे सुला दो।”

“तुम्हें शरम आनी चाहिए...।” नीलिमा ने कहा।

“अब क्या हुआ है?” हरबंस एकदम झुँझला उठा।

“उस छोटी-सी बच्ची ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? तुम उसके जन्मदिन पर उससे प्यार भी नहीं कर सकते थे?”

“मैंने तुमसे कितनी बार कहा है कि तुम मेरे मामलों में दख़ल मत दिया करो।” वह आकर वापस अपनी उसी कुरसी पर बैठ गया।

“तुम्हे बच्चों से भी ईर्ष्या होती है? छि:!” नीलिमा बोली।

“मैंने तुमसे कहा है कि जाकर लडक़े को सुला दो और अपनी ज़बान बन्द रखो।”

“तुम सिर्फ़ सैडिस्ट हो, और कुछ नहीं।”

“मैंने तुमसे कहा...।”

“तुमने जो कहा है, वह मैंने सुन लिया है। मुझे तुमसे कम से कम यह आशा तो नहीं थी।”

“तुम, मैं जो कह रहा हूँ, वह सुनो और जाकर लडक़े को सुला दो।”

“छि:!” नीलिमा ने कहा और अरुण की बाँह पकड़े हुए दूसरे कमरे की तरफ़ चल दी। अरुण अपने हाथों में गुब्बारे थामे हुए मुडक़र हरबंस की तरफ़ देखता रहा। वह शायद बहुत उत्साह के साथ उसे कोई बात सुनाने आया था जो उन लोगों के झगड़े में उसके मन में ही रह गयी थी।

“मैं इस ज़िन्दगी से तंग आ गया हूँ।” हरबंस ने नीलिमा के जाने के बाद कहा और सिर पर हाथ रख लिया। काफ़ी देर वह उसी तरह बैठा रहा। फिर वह उठकर साथ के कमरे में चला गया। वहाँ से नीलिमा के साथ उसके बात करने की आवाज़ सुनायी देने लगी, “सूदन रात को यहीं रहेगा। हम लोग देर तक बातें करेंगे। तुम खाना खाकर सो जाना।”

“ठीक है।”

“बाँके से कह देना, उसके लिए पाजामा और कुरता निकालकर रख दे।”

“कह दूँगी।”

“खाना हम लोग कब तक खाएँगे?”

“जब मन हो खा लेना। मैं उधर कह आयी हूँ कि मैं उधर खाऊँगी।”

“तुम उधर नहीं खाओगी, यहाँ हमारे साथ ही खाओगी।”

"मैं उधर ही खाऊँगी। मैं उनसे कह आयी हूँ। कई और लोग वहाँ खाने के लिए रुके हुए हैं। मेरी तो वह बहन लगती है।"

"लगती होगी, मगर मैं भी तो तुम्हारा कुछ लगता हूँ।"

"मैं कब कहती हूँ कि नहीं लगते! मगर इसका यह मतलब नहीं है कि दूसरे लोग मेरे कुछ नहीं लगते।"

"तो तुम्हारा यही फ़ैसला है कि तुम ज़रूर जाओगी?"

"इसमें भी कोई कहने की बात है?"

"और अगर मैं कहूँ कि मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगा?"

"तुम जानते हो तुम्हें यह कहने का कोई हक नहीं है। इस बात का फ़ैसला हम लोग लन्दन से करके आये थे।"

"क्या हम लोग यह फ़ैसला करके आये थे कि तुम मेरी कोई बात नहीं मानोगी?"

"जो बातें माननी चाहिए, वे मैं मानती हूँ।"

"तुम जानती हो कि घर में एक मेहमान आया हुआ है। क्या तुम्हें उसके साथ बैठकर खाना नहीं खाना चाहिए?"

"तुम जानते हो कि तुमने आज जान-बूझकर मेहमान को घर में बुलाया है क्योंकि आज मेरी बहन की लडक़ी का जन्मदिन है।"

"मैं नहीं जानता था कि तुम इस तरह मेरी इज़्ज़त ख़राब करोगी।"

"मैं भी नहीं जानती थी कि तुम जान-बूझकर इस तरह मुझे ख्वार करोगे। खाना मैं वहीं खाऊँगी।"

"तो तुम...अच्छा, ठीक है।" कहकर हरबंस उधर से चला आया। मैंने इस तरह अपने हाथ के उपन्यास का पन्ना पलट दिया जैसे उतनी देर में उपन्यास ही पढ़ रहा था।

"थोड़ी देर बाहर घूमने चलोगे?" हरबंस ने आकर पूछा।

"हाँ-हाँ, क्यों नहीं?" मेरा मन हो रहा था कि किसी तरह मैं अपनी बात वापस ले लूँ और खाना खाने के बाद वहाँ से चला जाऊँ। मगर हरबंस के चेहरे को देखकर मेरा उससे यह बात भी कहने का हौसला नहीं हुआ।

जब हम लोग घूमकर वापस आये, तो नीलिमा वहाँ से जा चुकी थी। हम लोगों में बाहर भी कोई बात नहीं हुई थी और खाना खाते समय भी हम लोग ख़ामोश रहे। सडक़ पर टहलते हुए मुझे कुछ सरदी लग गयी थी जिससे मुझे छींकें आ रही थीं। खाना खाकर मैंने कपड़े बदले और कम्बल लपेटकर अपने लिए बिछाये गये पलँग पर बैठ गया। हरबंस ने अपना ड्रेसिंग गाउन पहनकर सिगरेट सुलगा ली और कहा, "मेरा ख़याल है यहीं बैठकर बातें करें।"

"हाँ, ठीक है।" मैं तकिये के सहारे पलँग पर सीधा लेट गया।

"बत्ती बुझा दूँ?" उसने पूछा।

"हाँ, बुझा दो।"

“अँधेरे में आदमी ज़्यादा अच्छी तरह बात कर सकता है।” उसने कहा और बत्ती बुझा दी। वह भी पलँग पर आ बैठा। अँधेरे में हमारे सिगरेटों के नन्हे-नन्हे जलते हुए सिरे ही उजाला देने के लिए रह गये।

“मैंने तुम्हें कहाँ तक बताया था?” उसने पूछा।

“कि तुम नीलिमा को बोट ट्रेन पर चढ़ाकर वापस घर पहुँच गये।”

“हाँ...!” उसने एक उसाँस भरी। कमरे का ठंडा अँधेरा एक बोझ से लदने लगा। मेरा मन फिर एक अपरिचित देश के अपरिचित अतीत की धुँधली-सी कल्पना में लौटने लगा। नीलिमा को लन्दन से गये बीस की जगह चौबीस दिन हो चुके थे, मगर वह अभी लौटकर नहीं आयी थी। इस बीच उसके कुल दो ही पत्र आये थे जबकि वह हाई कमीशन से ट्रुप की स्थिति के विषय में पूछ-पूछकर उसे छः-सात पत्र लिख चुका था। नीलिमा के दूसरे पत्र का स्वर बहुत उखड़ा-उखड़ा और रूखा-सा था। हरबंस बहुत उत्सुकता से उसके आने की, या कम से कम उसके तीसरे पत्र के मिलने की प्रतीक्षा कर रहा था। उसका मन न जाने क्यों हर समय एक अज्ञात आशंका से घिरा रहता था। उसका अपने थीसिस के काम में भी मन नहीं लगता था।

पच्चीसवें दिन उसे हाई कमीशन के कार्यालय से पता चला कि उमादत्त का ट्रुप उस दिन वापस पहुँच रहा है। उसने उस दिन वापस काफ़ी देर घर पर प्रतीक्षा की, फिर हाई कमीशन के कार्यालय में चला गया। ट्रुप लौट आया था। जिन लोगों ने उनके ट्रिप का आयोजन किया था, उनसे उन्हें पैसे नहीं मिले थे इसलिए उमादत्त बहुत परेशान था। हाई कमीशन के कार्यालय में पहुँचकर उसने अपने कलाकारों और साज़िन्दों को कुछ पैसे देने की व्यवस्था की थी। वहाँ हरबंस को पता चला कि नीलिमा उन लोगों के साथ लौटकर नहीं आयी। नीलिमा, एक तबला बजानेवाला सरदार और एक बर्मी कलाकार—ये तीन व्यक्ति पीछे पैरिस में ही रह गये थे। उमादत्त ने अपनी परेशानी में उससे इतना ही कहा कि नीलिमा उनके साथ स्टेशन तक आयी थी, मगर न जाने क्यों वहाँ से लौट गयी। हरबंस सहसा बहुत चिन्तित और परेशान हो उठा। इस बात से उसकी परेशानी और भी बढ़ गयी थी कि नीलिमा को वहाँ पैसे नहीं मिले। यह बहुत टूटा-सा घर लौट आया। मकान-मालकिन से वह कहकर गया था कि नीलिमा उस दिन लौटकर आ रही है। वह वापस पहुँचा, तो मकान-मालकिन अपने बरामदे में खड़ी थी। उसने हरबंस को देखते ही पूछा कि क्या उसकी पत्नी लौटकर नहीं आयी।

“उसे कुछ काम से पैरिस में रुक जाना पड़ा है।” हरबंस ने कहा, “वह वहाँ से कल रात की गाड़ी से आएगी।”

“सच-सच बताओ, वह कहीं तुम्हें छोडक़र तो नहीं चली गयी?” मकान-मालकिन ने हँसकर कहा, “तुम तो उसके बिना बिल्कुल बच्चों की तरह उदास रहते हो।”

“वह कल आ जाएगी।” उसने बात से बचने के लिए कहा और ऊपर चला गया। मगर उसका मन बहुत बेचैन था। उससे न कुछ पढ़ा गया, न बैठा गया, न सोया गया। वह थोड़ी ही देर में फिर घर से निकल पड़ा। बहुत दिनों से वह ममी के यहाँ नहीं गया था। नीलिमा को मिसेज़ चावला और उनकी लडक़ी अच्छी नहीं लगती थीं। इसलिए उसके आने के बाद से उसका भी उनके यहाँ आना-जाना कम हो गया था। हरबंस ने मिसेज़ चावला को फ़ोन किया, तो वे घर पर ही थीं। वह उनके यहाँ चला गया। ए.बी.सी. ने उस दिन नया पुडिंग बनाया था। वह लडक़ी अब पहले से काफ़ी ठीक हो गयी थी और साधारण व्यक्तियों की तरह व्यवहार करने लगी थी। हरबंस देर तक उन लोगों के पास बैठा रहा और उनसे बातें करता रहा। ए.बी.सी. की आँखों का भाव भी पहले से काफ़ी बदल गया था। मिसेज़ चावला ने बताया कि लगातार तीन महीने से उसका चीखना-चिल्लाना बिल्कुल बन्द है। बाला उस दिन उसके साथ बहुत आत्मीयता के साथ बातें करती रही।

उस लडक़ी की बातों में इतनी मासूमियत थी कि उसका मन हुआ कि वह सारी रात वहीं बैठा रहे और उस लडक़ी से बातें करता रहे। बाला उससे नीलिमा के बारे में तरह-तरह के सवाल पूछती रही। जब उसे पता चला कि नीलिमा को उस दिन आना था और वह नहीं आयी, तो उसने सहसा चौंककर कहा, “क्यों? वह आयी क्यों नहीं?”

“यह मैं कैसे बता सकता हूँ?” हरबंस बोला, “वह जब आएगी, तो उसी से पता चलेगा।”

“वह कब आ रही है?”

“कल रात की गाड़ी से।”

“तुम उसे स्टेशन पर लेने जाओगे?”

उसने सिर हिला दिया। बाला कुछ देर चुप रही। फिर बोली, “बड़ी अजीब बात है!”

“क्या?” वह कुछ चौंक गया।

“कि वह अकेली पीछे रह गयी है और उसने तुम्हें पत्र भी नहीं लिखा।”

“कल पता चल जाएगा।” वह अनमने ढंग से बोला। इस बात से उसका मन इतना उखड़ गया कि वह फिर और उनके यहाँ नहीं बैठ सका और बहुत आकस्मिक ढंग से उनसे विदा लेकर चला आया।

“तुम्हें ठंड तो नहीं लग रही है?” हरबंस ने बीच में रुककर मुझसे पूछा। शायद इसलिए कि मुझे फिर बीच में दो-एक बार छींकें आ गयी थीं। मुझे अपने शरीर में कुछ हरारत भी महसूस हो रही थी। सिर में कुछ भारीपन और बाँहों में शिथिलता भर रही थी।

“नहीं, ऐसी ठंड नहीं लग रही।” मैंने कहा, “आते हुए रास्ते में कुछ हवा लग गयी थी, शायद उसी का असर है। मुझे नज़ला-बुख़ार बहुत जल्दी हो जाता है।”

“तुम्हें कुछ एस्परीन व$गैरह दूँ?”

“नहीं, ऐसी ख़ास ज़रूरत नहीं है। तुम बात करते रहो।”

“तुम लेट जाओ और तकिये पर सिर रख लो।”

“मैं ठीक हूँ, तुम बात करते रहो।”

मैंने कम्बल और ठीक से ओढ़ लिया और सिर तकिये पर रख लिया। हरबंस ने अपने पैर समेट लिये और सिगरेट की राख झाड़ दी।

“तो अगले दिन तुम उसे लेने स्टेशन पर गये होगे।” मैंने कहा।

सिगरेट का सिरा अँधेरे में चमका और मन्द पड़ गया। “हाँ, मैं गाड़ी के आने से काफ़ी देर पहले ही वहाँ पहुँच गया था,” उसने कहा।

“तो...” अँधेरे में मेरी आँखों के सामने एक स्टेशन की पटरियाँ बिछ गयीं। मेरी रीढ़ की हड्डी भी दर्द कर रही थी। मैंने एक हाथ पीठ के नीचे रख लिया।

एन.डी. 32 से उठी हुई हँसी की आवाज़ सडक़ पर से होती हुई एन.डी. 31 अहाते में आ गयी। "नहीं, नहीं, यह कभी नहीं हो सकता। तुम्हारा ख़याल है कि मैं इतनी ही बेवकूफ़ हूँ? तुम चाहे मुझसे लिखाकर ले लो।" नीलिमा किसी से कह रही थी, "चाहो तो मुझसे शर्त लगा लो। मैं बड़ी से बड़ी शर्त लगाने को तैयार हूँ।"

"नहीं दीदी, शर्त लगाने की क्या ज़रूरत है! यह शुक्ला की आवाज़ थी। "आपको अपने आप पता चल जाएगा, अच्छा बाई-बाई!"

"बाई-बाई!" और नीलिमा बरामदे से कमरे में आती हुई ठिठक गयी। "अरे, तुम लोग सो गये क्या?" उसने कहा। हरबंस ने उठकर कमरे की बत्ती जला दी। बत्ती के जलते ही दृश्य-पट फिर एकदम बदल गया। पश्चिमी बर्लिन की सीमा पर खड़ा ट्रक और उसके आसपास खड़े लोगों की जगह सामने आ गयीं किताबों से भरी हुई बड़ी-बड़ी अलमारियाँ, खाने की
मेज़, पलँग, तिपाई, उस पर रखी हुई हँसते हुए पिशाच-जैसी एश-ट्रे और दरवाज़े के पास खड़ी नीलिमा, जो इस समय काफ़ी ख़ुश लग रही थी। हरबंस की पीठ मेरी तरफ़ थी और अपने नाइट-गाउन में वह काफ़ी लम्बा लग रहा था। मैं कुछ इस तरह की अनुभूति के साथ जैसे कि अभी आधा ही खाने पर मेरी प्लेट मेरे सामने से उठा ली गयी हो, पलँग पर सीधा बैठ गया। बात वहाँ टूटी थी जहाँ आगे की बात जानने की उत्सुकता मेरे मन में बहुत बढ़ गयी थी। मैं हरबंस की बात सुनते हुए अपनी भारी आँखों और दर्द करती हुई रीढ़ की हड्डी की बात भी भुला रहा था। मैं सोच रहा था कि एक बार बात का सूत्र टूट जाने पर फिर उसे जोडऩे का अवसर क्या आ सकेगा? उस दिन की मन:स्थिति और अँधेरे के वातावरण ने जिस आत्मीयता, निर्भरता और विश्वास को जन्म दिया था, उसे फिर से लाने के लिए वही मन:स्थिति फिर चाहिए थी। वह वातावरण तो बहुत बार प्राप्त हो सकता था—वही अँधेरा, वही एकान्त और वही अन्दर का कमरा—परन्तु वही मन:स्थिति क्या फिर लौटकर आ सकती थी?

"तुम लोग अभी बातें ही कर रहे थे?" नीलिमा अपनी उँगलियों को उलझाकर बाँहों की माला-सी बनाये हम दोनों के बीच आकर खड़ी हो गयी, "मैंने सोचा था कि तुम लोग अब तक सो गये होगे और न जाने कहाँ के सपने देख रहे होगे। मगर जर्नलिस्ट लोग तो शायद सपने नहीं देखते। क्यों जर्नलिस्ट?"

मैं उससे कैसे कहता कि मैं अभी-अभी एक सपना ही देख रहा था जिसमें मैं कई अपरिचित देशों में घूमा हूँ, कई अपरिचित व्यक्तियों से मिला हूँ और कि उसे सामने देखते हुए भी मेरे मन में अब तक यह जिज्ञासा बनी हुई है कि वह पश्चिमी बर्लिन से हरबंस के साथ चली आयी थी या वहीं रह गयी थी।

"हम लोग गुज़रे हुए दिनों की बातें कर रहे थे।" मैंने कहा, "बरसों के बाद इस तरह बैठने और बातें करने का अवसर मिला है, इसलिए सोने और सपने देखने की आवश्यकता ही महसूस नहीं हुई। और वैसे तुम्हारी बात भी ठीक है। जर्नलिस्ट लोग सपने नहीं देखते। कम से कम नींद में तो सपने वे बहुत ही कम देखते हैं, खुली आँखों से चाहे जो सपने देखते रहें।"

"तुममें से कौन गुज़रे हुए दिनों की बातें कर रहा था?" नीलिमा बोली, "यह या तुम?"

"मैं गुज़रे हुए दिनों की बात कर रहा था।" हरबंस ने झुँझलाकर कहा, "तुम्हें इससे कुछ एतराज़ है?"

"तुम मेरे पीछे मेरी निन्दा करो, लोगों से झूठी-सच्ची बातें बनाकर कहो, तो मुझे एतराज़ नहीं होगा?" नीलिमा ने इस तरह कहा जैसे उसे दुनिया में किसी की भी परवाह न हो। फिर ज़रा-सा लडख़ड़ाकर वह मेरे नज़दीक आ गयी और बोली, "तो मेरा पति आज तुम्हें यह बताता रहा है कि मैं

कितनी बुरी हूँ! और इस बेचारे को मेरी वजह से कितना परेशान होना पड़ा है! च् च् च् च्।"

"तुम आज फिर पीकर आयी हो?" हरबंस की आँखें गुस्से से लाल हो गयीं, "तुम्हें शरम तो नहीं आती होगी!"

"मैं पीकर आयी हूँ तो, और नहीं पीकर आयी तो उसमें तुम्हारा क्या आता-जाता है?" नीलिमा लापरवाही से सिर उठाकर बोली, "मेरी बहन की लडक़ी का जन्म-दिन था। मैं उसकी मेहमान थी। उसने जो कुछ खिलाया वह मैंने खा लिया। जो कुछ पीने को दिया, वह मैंने पी लिया। इसमें शरम की कौन-सी बात है? मगर तुम सब कह सकते हो। तुम एक मुंसिफ़ हो और मैं एक मुजरिम हूँ, जिसे तुम हर वक़्त अपने सामने कठघरे में खड़ी रखते हो। मगर देखो, मुझे तुम्हारा यह बात करने का तरीका पसन्द नहीं है? तुम्हें मेरे साथ इस तरह बात करने का कोई हक नहीं है।"

मुझे डर लगा कि कहीं हरबंस उस समय गुस्से में कोई और हरकत न कर बैठे। मगर उसने किसी तरह अपने पर वश किये हुए इतना ही कहा, "देखो, मैं कह रहा हूँ कि तुम इस वक़्त जाकर कपड़े बदल लो और सो जाओ।"

"मुझे नींद आएगी तो मैं जाकर सो जाऊँगी।" नीलिमा कुरसी पर बैठती हुई बोली, "और सोऊँगी, तो कपड़े बदलकर ही सोऊँगी, ऐसे थोड़े ही सो जाऊँगी, मुझे इतनी सभ्यता तो आती है।" और वह कुरसी से टेक लगाकर आँखें मूँदे हुए एक बार हँस दी।

"तुम्हें पता है कि तुम इस समय जो कुछ भी कर रही हो, वह सभ्यता नहीं है।" हरबंस खीझ, बेबसी और हताशा के साथ बोला।

"और तुम इस समय जो कुछ कर रहे हो, वह सभ्यता है!" वह फिर हँसी, "मेरे पीछे जो बातें करते रहे हो, वह सभ्यता है! सभ्यता का व्यवहार हममें से किसे आता है? वह जर्नलिस्ट जो व्यवहार करता है, वह सब सभ्यता का व्यवहार होता है? इससे पूछो, एक बार मैंने इसे शाम को घर पर बुलाया था, तो इसने उसके बाद नौ साल तक शक्ल क्यों नहीं दिखायी?"

"तुम इस वक़्त अपनी ज़बान बन्द रखो और दूसरे कमरे में जाकर सो जाओ।" हरबंस ने उसके पास जाकर उसे कन्धों से पकडक़र कुरसी से उठा दिया।

"मेरी ज़बान बन्द है।" वह ज़बान थोड़ी-सी निकालकर फिर उसे होंठों से काटकर बन्द करती हुई बोली, "और मैं यहाँ से जा रही हूँ।" कहती हुई वह दरवाज़े के पास चली गयी, "तुम यहाँ बैठकर मेरे बारे में चाहे जो बातें लोगों से करो, वह सब सभ्यता है! मगर मैं तुमसे कह रही हूँ कि मुझे ऐसी सभ्यता अच्छी नहीं लगती। ये सभ्य बने फिरते हैं! अच्छा,जर्नलिस्ट..." और मेरी तरफ़ हाथ हिलाकर वह अपने बेड-रूम में चली गयी।

"तुम देख रहे हो?" हरबंस ने बहुत हताश स्वर में कहा और निढाल-सा कुरसी पर बैठ गया। कुछ देर हम दोनों चुप बैठे रहे। फिर अचानक ही वह उठ खड़ा हुआ और बोला, "मेरा ख़याल है कि तुम भी अब सो जाओ। मैं बत्ती बुझा देता हूँ।"

"अच्छी बात है।" मैंने कहा, "मेरा भी ख़याल है कि अब सो ही जाना चाहिए! मुझे आँखों में कुछ भारीपन भी महसूस हो रहा है।"

"तुम्हें किसी चीज़ की ज़रूरत तो नहीं?" उसने बिजली के बटन पर हाथ रखे हुए पूछा।

"नहीं।"

"ज़रूरत हो, तो बता देना। पानी का जग बाहर बरामदे में रखा है और गुसलखाना उस तरफ़

है।" और बत्ती बुझाकर वह चला गया। मैंने सोचा था कि साथ के कमरे में अब फिर नीलिमा से उसकी कुछ झड़प होगी, मगर उसके जाने के बाद वहाँ कोई बात नहीं हुई, खामोशी छायी रही। मेरी रीढ़ की हड्डी बुरी तरह दर्द कर रही थी। मैं कुछ देर करवटें बदलता रहा। फिर सो गया।

सुबह उठने पर जब यह पता चला कि हम अपने घर में नहीं, किसी और घर में हैं, तो मन कुछ उखड़ा-उखड़ा-सा हो जाता है। मन अपने घर की असुविधाओं का भी इतना अभ्यस्त हो जाता है कि सुबह-सुबह वह उन्हीं की माँग करता है। दूसरे के घर की सुविधाएँ भी अस्वाभाविक और बेगानी लगती हैं और उनसे एक तरह की असुविधा ही होती है। सुबह मेरी आँख खुलते ही बाँके आकर चाय की प्याली सागवान की चमकती हुई तिपाई पर रख गया, तो मुझे इस बेगानेपन की अनुभूति ने घेर लिया कि मेरे आसपास का वातावरण मेरा अपना नहीं है। उसमें तो उठते ही यह खीझ मन में जागनी चाहिए थी कि यह कैसी ज़िन्दगी है कि सुबह-सुबह इन्सान को बिस्तर में चाय की एक प्याली तक नहीं मिल सकती। चारपाई, मेज़ और मोढ़ों से लदे हुए अपने कमरे की जगह, जिसके बारे में एक बार मेरे एक मित्र ने कहा था कि वह एक जहाज़ के केबिन की तरह लगता है, मैं अपेक्षाकृत एक काफ़ी खुले कमरे में था जहाँ मेरी बिखरी हुई पुस्तकों की जगह सामने अलमारी में बहुत तरतीब से रखी हुई पुस्तकें नज़र आ रही थीं। मेरे कमरे में सुबह-सुबह नीचे से सोडावाटर कम्पनी के ट्रकों के गुर्राने की आवाज़ें आने लगती थीं। स्टार्ट के बाद गियर बदलने से उनके इंजन घर के नीचे आकर इस तरह आवाज़ करते थे कि मुझे लगता था जैसे वे ट्रक मेरे ऊपर से ही गुज़रकर जा रहे हों। उन आवाज़ों की जगह उस समय साथ के कमरे से तबले के साथ घुँघरुओं के छनकने की आवाज़ आ रही थी। मैंने चाय की प्याली उठाकर मुँह से लगायी, तो मुझे अहसास हुआ कि मैं काफ़ी दिन चढ़े तक सोता रहा हूँ। खिडक़ी के परदे से छनकर आती हुई धूप डाइनिंग-टेबल पर पड़ रही थी। वहाँ रखी जूठी प्लेटों और प्यालियों से लग रहा था कि सुबह का नाश्ता किया जा चुका है।

बाँके ने मेरे जागने की ख़बर साथ के कमरे में दे दी, तो वहाँ घुँघरुओं का छनकना बन्द हो गया। कुछ देर एक अपरिचित व्यक्ति के साथ नीलिमा के बात करने की आवाज़ सुनायी देती रही, फिर वह व्यक्ति भी चला गया। वह शायद उसका तबलची था। उसके जाने के बाद नीलिमा घुँघरू बाँधे हुए मेरेवाले कमरे में आ गयी।

“तो तुम जाग गये!” उसने मेरे पासवाली कुरसी पर बैठते हुए कहा।

“हाँ, जाग गया।”

“रात को नींद ठीक से आ गयी थी?”

“नहीं, ठीक से नहीं आयी। रात-भर मेरी रीढ़ की हड्डी दर्द करती रही है।”

“हरबंस ने तो कहा था कि तुम्हें जगा दिया जाए, मगर मैंने कहा कि रहने दो, जब अपने-आप तुम्हारी नींद खुलेगी, तभी चाय दे देंगे।”

“हरबंस चला गया?” मुझे कुछ शरम आ रही थी कि मैं इतनी देर क्यों सोया रहा कि हरबंस उस बीच तैयार होकर अपने दफ़्तर भी चला गया।

“उसे गये डेढ़ घंटा हो गया है।” नीलिमा अपने घुँघरुओं को खोलकर अलग रखने लगी, “उसे दस बजे दफ़्तर पहुँचना होता है, इसलिए वह नौ बजे ही घर से चला जाता है। अरुण भी अपने नर्सरी स्कूल में चला गया है।”

मुझे ठीक पता नहीं था कि हरबंस किस कार्यालय में काम करता है; इतना ही पता था कि वह जिस कार्यालय में है उसका सम्बन्ध गुप्त रिकाड्र्स से है। उसने बताया था कि वह वहाँ एक अस्थायी पद पर काम कर रहा है और उसे डर है कि थोड़े दिनों तक वह जगह उड़ा न दी जाए। उसका काम शायद ऐतिहासिक दस्तावेज़ों के सम्बन्ध में परामर्श देने का था।

“मुझे जल्दी उठ जाना चाहिए था।” मैंने नीलिमा से कहा, “आज सुबह-सुबह मुझे एक जगह जाकर कुछ सूचना प्राप्त करनी थी। साढ़े दस बजे तक मुझे दफ़्तर में बैठकर रिपोर्ट लिख लेनी चाहिए थी।” और यह कहते-कहते रीढ़ की हड्डी ने फिर मुझे अपनी याद दिला दी।

“साढ़े दस बजे तक?” नीलिमा हँसी, “और इस समय कुल साढ़े दस ही बजे हैं।”

“रीढ़ में दर्द था और थकान की वजह से बुख़ार-सा भी लग रहा था, इसलिए मैं इतनी देर सोया रह गया।” मैंने कहा, “मेरा ख़याल है कि मुझे दफ़्तर से आज छुट्टी ले ही लेनी चाहिए। मेरे सम्पादक को पहले ही मुझसे शिकायत रहती है।”

“तो मैं अभी तुम्हारे दफ़्तर में फोन कर देती हूँ।” नीलिमा बोली, “या कहो, तो मैं बाँके के हाथ अरज़ी भिजवा दूँ। मगर तबीयत ठीक नहीं है तो तुम्हें आराम करने के लिए छुट्टी ले ही लेनी चाहिए, नहीं तो कहोगे कि इनके घर पर एक रात सोया और तभी बीमार पडक़र गया।”

मैंने चुपचाप उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। बिस्तर से उठने और नहा-धोकर तुरन्त तैयार हो जाने की हिम्मत उस समय मुझमें नहीं थी।

“तो मैं फ़ोन कर दूँ?” नीलिमा ने पूछा।

“हाँ, कर दो।” मैंने कहा, “कह देना कि मेरी तबीयत ठीक नहीं है, इसलिए आज मैं दफ़्तर नहीं आ सकूँगा।”

"तो ठीक है।" वह झटके के साथ उठती हुई बोली, "तुम आराम से पड़े रहो। मैं तुम्हें अभी एक टिकिया भी दे देती हूँ। एक छोटी-मोटी डिस्पेंसरी मैं घर में ही रखती हूँ। अगर तुम कुछ ठीक हो जाओगे, तो दोपहर को हम ओखला की तरफ़ घूमने चलेंगे।...तुम कभी ओखला गये हो?"

मैंने सिर हिला दिया, "नहीं, अभी तक नहीं गया। सुना है अच्छी जगह है।"

"हाँ, बहुत अच्छी जगह है।" वह चलती हुई बोली, "मैं तुम्हें अभी टिकिया देती हूँ। तुम्हारे भाग्य में मेरे हाथ से दवाई की टिकिया खाना ही लिखा है।" जाते-जाते वह रुकी और बोली, "मैं हरबंस को फ़ोन कर दूँगी कि तुम आज यहीं हो, इसलिए अगर हो सके, तो वह दोपहर का खाना घर आकर ही खाये।"

इस बार दिल्ली में आकर मेरे लिए ऐसे दिन बहुत कम आये थे जब मैंने पूरा दिन कुछ न किया हो, खाली खाया हो, बातें की हों और घूम लिया हो। वह दिन मेरे लिए एक ऐसा ही दिन था, हालाँकि मैं यह भी कह सकता हूँ कि मेरे जीवन में बहुत कम ऐसे दिन आये हैं जो उस दिन की तरह भरे हुए रहे हों। मैंने दिन-भर कुछ नहीं किया, मगर कुछ न करते हुए भी मैंने उस दिन इतना कुछ देखा, इतना कुछ जाना कि कई बार दिनों, महीनों, बल्कि बरसों में भी उतना नहीं जान पाया। कुछ दिन होते हैं जो घटनाओं और कार्यों से लदे रहते हैं, परन्तु कुल मिलाकर उनका महत्त्व हमारे लिए शून्य के बराबर होता है—विश्व रंगमंच के वही दाँवपेंच, वही अख़बार की सुर्खियाँ, वही मुलाक़ातें और वही पार्टियाँ। कहने को हमें दम मारने की फुरसत नहीं होती, मगर वास्तव में हम पूरे दिन में दम-भर भी जिये नहीं होते, केवल पहले से एक दिन और बीत चुके होते हैं; उसी धुरी के इर्द-गिर्द एक बार और घूम लेते हैं। परन्तु एक अपने में निरर्थक और घटनाहीन दिन भी ऐसा हो सकता है जिसके छोटे से विस्तार में जीवन का इतना कुछ सिमट आये कि मन से उसे समेटते न बने। जीवन के अनेकानेक दिन अपना सारा संचय जैसे उस एक दिन में ला भरते हैं। और सब दिन जैसे प्रयत्न होते हैं, और वह एक दिन परिणाम। इस तरह देखूँ, तो मैं कह सकता हूँ कि उस दिन का आरम्भ पिछली रात उस समय से हो चुका था जब हरबंस टेबल लैम्प बुझाकर मुझे लन्दन के दिनों की बातें सुनाने लगा था। उन बातों के प्रभाव को मैं अभी मन में समेट नहीं पाया था कि और और प्रभाव मन को घेरने लगे। शाम होने तक मैं अनुभव के इतने स्तरों में से गुज़र आया कि मेरे लिए अपने मन को सँभाले रखना कठिन हो गया। पिछली रात जब मैं दफ़्तर की वैन में डिफेंस कॉलोनी की तरफ़ चला था, तो मैंने क्या यह सोचा था कि उन चौबीस घंटों में मुझे पूरे एक जीवन के-से विस्तार की कई-कई विडम्बनाओं में झाँककर देखने का अवसर मिलेगा? और क्या केवल झाँककर देखने का ही?

मैं अभी बिस्तर में ही था और नीलिमा की बनाकर दी हुई कोको की प्याली पी रहा था जब शुक्ला नीलिमा को पुकारती हुई पीछे के दरवाज़े से वहाँ आ गयी। नीलिमा उस समय नहाकर निकली थी और अपने गीले बालों को तौलिये से छटक रही थी। शुक्ला सीधे मेरे कमरे में आ गयी और मुझे देखकर सहसा ठिठक गयी, "अरे आप?" उसने कहा और शिष्टाचार का एकाध प्रश्न पूछकर तुरन्त ही लौटने को हुई, परन्तु तब तक नीलिमा अपने बाल कन्धों पर फैलाये हुए कमरे में आ गयी जिससे उसे रुक जाना पड़ा। "तुम सूदन को पहचानती हो?" नीलिमा ने उससे पूछा।

"पहचानती क्यों नहीं?" शुक्ला कुछ व्यस्त भाव से बोली, "भापाजी के लन्दन जाने से पहले ये बहुत आया करते थे। मगर बाद में तो ये एकदम गायब ही हो गये थे।"

"यह आजकल यहाँ 'न्यू हैरल्ड' में काम कर रहा है।"

"मुझे मालूम है।" शुक्ला ने कहा, "आपने भी बताया था और सुरजीत भी एक दिन कह रहा था।" और फिर मेरी तरफ़ मुडक़र बोली, "उन दिनों तो आपकी कविताएँ बहुत निकला करती थीं। आजकल तो शायद आपने लिखना-लिखाना बिल्कुल छोड़ दिया है।"

“आजकल मैं राजनीतिज्ञों के इंटरव्यू और सम्मेलनों की रिपोर्टें लिखता हूँ।”

“यही हाल हरबंस भापाजी का है।” वह बोली, “उन्हें भी आजकल दफ़्तर के काम के सिवा और किसी काम के लिए समय नहीं मिलता। कई सालों से उनकी फ़ाइलें जैसी की तैसी रखी हैं। अब वे कभी कुछ लिख ही नहीं पाते।”

उसके मुँह से हरबंस की फ़ाइलों की बात सुनकर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। तो उसे यह विश्वास था कि हरबंस कुछ लिख भी सकता है!

“काम-धन्धे में पडक़र ऐसा हो ही जाता है।” मैंने कहा, “आदमी नमक की खान में नमक होकर रह जाता है।”

“मेरा मन होता है कि मुझे लिखना आ जाए, तो मैं भी एक कहानी लिखूँ।” शुक्ला पढऩे की मेज़ पर रखे हुए कागज़ों को हाथ से सहलाती हुई बोली। उसका शरीर पहले से कुछ भर गया था और अब वह अच्छी-खासी गृहस्थिन नज़र आती थी। उसके चेहरे और आँखों का आकर्षण भी अब पहले जैसा न होकर कुछ और तरह का हो गया था। उसमें एक तरह का पिघलाव आ गया था, जिससे चेहरे की रेखाएँ उतनी तीखी नहीं रही थीं। परन्तु उस पिघलाव ने उसके चेहरे को जो नया रूप दे दिया था, उसमें ज़्यादा कोमलता और आत्मीयता प्रतीत होती थी। उस आकर्षण में पहले जो एक विद्युत्-सी थी, वह अब एक उष्णता में बदल गयी थी। “मैंने कहीं पढ़ा था कि हर इन्सान कम से कम एक कहानी तो लिख ही सकता है।” उसने कहा, “नहीं? अपने जीवन की घटनाओं को ही आदमी सिलसिलेवार लिख दे, तो एक कहानी बन सकती है। नहीं?”

“मैं तो अब कविता-कहानियों की दुनिया से बहुत दूर निकल आया हूँ।” मैंने कहा। मेरे लिए उसके साथ इतना खुलकर और इतना नज़दीक से बात करना एक नया अनुभव ही था। पुराने दिनों में उसने कभी मुझसे ‘अच्छा जी’ और ‘कहिए जी’ से ज़्यादा बात नहीं की थी।”

“मैं कौन लिखने जा रही हूँ!” वह बोली, “मैं भी ऐसे बात ही कर रही थी।” और फिर सहसा बात को बदलते हुए उसने कहा, “दीदी, कोई काम हो तो बता दो, नहीं तो मैं जाऊँ। घर में भी बहुत-सा काम पड़ा छोड़ आयी हूँ।”

“काम तुम अपने आप ही देख लो।” नीलिमा बोली, “पहले हर रोज़ मुझसे पूछकर करती थी?” और एक हल्की रूखी-सी हँसी के साथ उसने मुझसे कहा, “इसके हरबंस भापाजी मुझ पर खीझते रहते थे कि मैं उनकी कमीज़ों के बटन वक़्त पर लगाकर नहीं रखती, यह नहीं करती, वह नहीं करती। इसलिए उनके ये सब छोटे-मोटे काम अब इसने अपने ऊपर ले रखे हैं और उनकी $गैरहाज़िरी में आकर चुपचाप सब कर जाती है। इसके हरबंस भापाजी को किसी तरह की तकलीफ़ हो और वे खीझते रहें, यह इसे बरदाश्त नहीं। मैं कहती हूँ कि अगर कमीज़ का बटन टूटा हो, तो आदमी सूई-धागा लेकर खुद भी लगा सकता है।”

“उन्हें जैसे और तो कोई काम ही नहीं है!” शुक्ला के हाथ उसके शाल में सिमट गये, “वे बेचारे दिन-भर दफ़्तर में सिर खपाते रहें और घर आकर अपने बटन भी खुद ही लगायें। आपसे नहीं होता, तो आप इसे बहाना तो न बनाइए। लाइए, अगर कुछ है करने को, तो मैं कर दूँ और फिर जाऊँ।” तभी उसकी नज़र मेरे पलँग के नीचे रखी चप्पल पर पड़ी, तो वह कुछ चौंक गयी। “दीदी, यह चप्पल...?” उसने कहा।

नीलिमा फिर हँस दी, “क्यों, क्या यह चप्पल हरबंस भापाजी के अलावा और कोई नहीं पहन सकता? घर में आया हुआ मेहमान भी नहीं?” और मेरे चेहरे पर खिसियानेपन की रेखाएँ देखकर वह बोली, “बात असल में यह है कि यह चप्पल और एक टाई यह हरबंस के पिछले जन्मदिन पर ख़रीदकर लायी थी, हालाँकि हरबंस को आज तक इस बात का पता नहीं है। वह इसकी तरफ़

इतना रूखा हो गया है कि इससे बात करना भी पसन्द नहीं करता। उसके सामने यह ग़लती से घर में क़दम भी रख जाए तो बोल-बोलकर मेरे लिए जीना मुश्किल कर देता है। और दूसरी तरफ़ यह लडक़ी है जो उसकी छोटी से छोटी तकलीफ़ भी बरदाश्त नहीं कर सकती और उसका काम करने के लिए पागल हुई रहती है। इसने हरबंस की चप्पल टूटी हुई देखी थी, तो यह चप्पल ख़रीद लायी थी। तब से इस चप्पल को झाड़-पोंछकर साफ़ रखने का काम भी यह खुद ही करती है। इसे भला यह कैसे बरदाश्त हो सकता है कि यह चप्पल किसी और के पैरों को छुए?"

"दीदी!" शुक्ला कुछ नाराज़गी के साथ वहाँ से चल दी, "मैं इस वक़्त तो अपने घर जा रही हूँ। फिर किसी वक़्त इधर आऊँगी।"

"लेकिन हरबंस के कुरते तो देख जाती। शाम को कोई ठीक कुरता नहीं मिला, तो वह मेरी जान खाएगा। परसों जो कुरते तुमने ठीक किये थे, उनमें से एक उसने खुद पहन लिया था और दूसरा सूदन ने पहन रखा है।"

"कुरते मैं माई को भेजकर मँगवा लूँगी।" शुक्ला कमरे से निकलकर अहाते में उतरती हुई बोली, "और कोई चीज़ भेजनी हो, तो वह भी उसके हाथ भेज देना। मुझे इस वक़्त घर में बहुत काम है।" और वह चली गयी।

"मुझे इस लडक़ी के दिमाग़ की कुछ समझ नहीं आती।" नीलिमा अपने गीले बालों को हाथों से सहलाती हुई बोली, "कई बार तो सचमुच मैं सोचती हूँ कि हरबंस का ब्याह मुझसे न होकर इस लडक़ी से ही होना चाहिए था।"

मैं काफ़ी देर से कोको की ख़ाली प्याली हाथ में पकड़े था। मैंने उसे रख दिया और उठते हुए कहा, "मेरा ख़याल है कि मैं अब तैयार हो जाऊँ।" टिकिया खाने और कोको पीने के बाद मैं अपने को काफ़ी स्वस्थ महसूस कर रहा था और मुझे अफ़सोस हो रहा था कि मैंने दफ़्तर से छुट्टी क्यों ले ली। शरीर की स्वस्थता ने शायद मन को थोड़ा अस्वस्थ बना दिया था।

"तुम्हारी तबीयत अब कैसी है?" नीलिमा ने पूछा।

"पहले से काफ़ी ठीक है।"

"तो ठीक है। तुम अब तैयार हो जाओ। मैं तब तक सेंडविच बना लेती हूँ। फिर हम ओखला चलेंगे। हरबंस से मैंने फ़ोन पर पूछा था, मगर उसने कहा है कि वह खाने के वक़्त घर नहीं आ सकेगा, शाम को ही आएगा। हम लोग उसके लौटने तक वापस पहुँच जाएँगे।"

ओखला के पुल से पानी में लचकती हुई छोटी-छोटी नावों को देखते हुए नीलिमा ने कहा, "मैं जब भी यहाँ आती हूँ, न जाने क्यों मुझे सेन के तट पर बितायी हुई शामें याद आने लगती हैं। कितना फ़र्क है इस दुनिया में और उस दुनिया में। फिर भी न जाने क्यों यहाँ आते ही वहाँ की याद हो आती है!"

"तुम यहाँ बहुत बार आती हो?" मैंने पूछा।

"नहीं, बहुत बार तो नहीं।" वह बोली, "मगर कभी मेरा मन घर में बैठे-बैठे ऊब जाता है, तो मैं यहाँ चली आती हूँ। यहाँ आकर लडक़े-लड़कियों को साथ-साथ घूमते और बातें करते देखती हूँ, तो मुझे भी अपने में कुछ ताज़गी का अनुभव होता है। घर बैठे-बैठे तो मेरा मन बुढिय़ाने लगता है। यहाँ आकर मुझे लगता है कि मैं अब भी युवा हूँ, ज़िन्दगी अभी बहुत बाक़ी है और मैं अभी न जाने कितना कुछ कर सकती हूँ। जब मेरे मन पर बोझ बहुत बढ़ जाता है, तो खुली हवा में साँस लेने के लिए मुझे इसी जगह की याद आती है।"

हम लोग काफ़ी देर वहाँ टहलते रहे। जनवरी की सफ़ेद धूप पानी की सतह पर चमक रही थी। हवा में एक हल्का-सा स्पर्श वसन्त का भी था। आसपास काफ़ी चहल-पहल थी—घास पर, बेंचों पर, वृक्षों के नीचे। दायीं ओर के पतले झुरमुटों की तरफ़ से भी कई लोग आ-जा रहे थे। बुरके में से आँखें बाहर निकालकर बहुत उत्सुकता से हर चीज़ पर नज़र डालती हुई दो लड़कियों को देखकर नीलिमा पल-भर के लिए ठिठक गयी और हँसकर बोली, "सचमुच, ज़िन्दगी कितनी अच्छी चीज़ है!"

उसकी इस बात ने उन लड़कियों को काफ़ी गुदगुदा दिया और वे कुछ देर मुड़-मुडक़र हम लोगों की तरफ़ देखती रहीं। पुल से नीचे आकर पुल को देखते हुए, पानी के विस्तार और उस पर नन्ही-नन्ही नावों को देखते हुए, और बायीं ओर ऊँचे उठे हुए मिट्टी के ढूहों को देखते हुए लगता था जैसे आकाश में कई-कई गहराइयाँ हों। आकाश में चीलें तैर रही थीं। पानी की सतह से ऊपर वे एक परदे पर तैरती हुई प्रतीत होती थीं। जब भी कोई चील आकाश से ढूहों की तरफ़ उतरती, तो मन की गहराई में कहीं कोई चीज़ सिहर जाती। नीले आकाश से मटियाले ढूहों पर चील का उतरना एक विश्व की सन्धि से उसके दूसरे विश्व में उतर आने की तरह लगता था। कोई-कोई चील ढूहों के ऊपर से बहुत दूर तक उड़ती चली जाती थी, आकाश की सभी गहराइयों को लाँघती हुई ऊपर से घूमकर जो चीलें पानी की सतह के बराबर उड़ती आती थीं, वे शीशे के बरतन में बन्द मछलियों जैसी लगती थीं...।

हमने वहाँ चाय की एक-एक प्याली पी। नीलिमा ने चाय के साथ सैंडविच नहीं निकाले। कहा कि सैंडविच लौटते हुए रास्ते में कहीं खाएँगे। "मैं तुमसे एक बात जानना भी चाहती हूँ।" उसने कहा, "मगर यहाँ लोगों के बीच बैठकर मैं यह बात नहीं करूँगी।"

लौटते हुए जब हम सडक़ पर काफ़ी दूर निकल आये, तो जामिया मिलिया से थोड़ा पहले एक जगह वह रुक गयी। वहाँ से ढूहीं की तरफ़ एक पगडंडी जा रही थी। उसके मोड़ पर दो पतले-पतले बाँस के टुकड़ों पर एक छोटा-सा नीला बोर्ड लगा था जिस पर लिखा था—

ग्राम जोगा बाई को

सही राम मार्ग

"चलो, सही राम मार्ग से चलते हैं।" उसने हँसकर कहा, "देखें, यह मार्ग हमें कहाँ ले जाता है।"

मगर जल्दी ही वह उस मार्ग से भी हटकर एक ऊँचे ढूह पर चढ़ गयी। वहाँ एक तरफ़ चबूतरा-सा था, पुराना, टूटा हुआ, खुदाई में ज़मीन से निकले खँडहर जैसा। एक तरफ़ जामिया मिलिया की भव्य इमारत थी और दूसरी तरफ़ नीचे क़ब्रिस्तान की सलेटी क़ब्रें नज़र आ रही थीं।

"आओ कुछ देर यहीं चबूतरे पर बैठते हैं," उसने कहा। मगर बैठने से पहले ही वह ठिठक गयी। वहाँ बिस्कुट के टुकड़ों और चिलगोज़े के छिलकों के अलावा एक और भी चिपचिपी-सी चीज़ पड़ी थी। मैंने चबूतरे को साफ़ करने के लिए रूमाल निकाला, तो उसने कहा, "नहीं, यहाँ नहीं, चलो उधर कहीं और चलकर बैठते हैं। ओखला की सैरगाह आजकल ऐसे ही लोगों की वजह से बदनाम है।"

हम लोग वहाँ से हट आये, तो भी मेरे शरीर में एक झुरझुरी-सी भर रही थी। एक तरफ़ भुरभुरी मिट्टी के टीले, दूसरी तरफ़ जामिया मिलिया की इमारत और तीसरी तरफ़ क़ब्रिस्तान—प्रेम के उन्माद को जगाने के लिए यह भी एक उपयुक्त पृष्ठभूमि हो सकती थी।

ओखला की उस ऊबड़-खाबड़ सैरगाह में एक ढूह पर बैठकर टमाटर-सैंडविच को दाँतों से काटते हुए नीलिमा ने कहा, "एक बात पूछूँ? ठीक-ठीक बताओगे?" वह बात जैसे बहुत देर से उसके मुँह

पर आ रही थी और वह जैसे-तैसे पूछने के क्षण को टाल रही थी।

"हाँ, हाँ, पूछो।"

"रात को हरबंस की तुमसे क्या-क्या बातें हुई थीं?"

"क्यों?"

"मेरा ख़याल है कि वह मेरी वजह से बहुत दुखी है और अब मुझसे छुटकारा चाहता है।"

"यह तुम कैसे कहती हो?"

"मैं जानती हूँ। वह कई बार मुझसे कह भी चुका है। कल दिन-भर वह मुझसे उलझता रहा था और तभी फ़ोन करके उसने तुम्हें बुलाया था। मैं समझती हूँ कि उसने ज़रूर तुमसे कुछ बातें की हैं। मैं इसलिए जानना चाहती हूँ कि मुझे ठीक से पता चल जाए कि वह अपने दिल में क्या चाहता है। अगर वह सचमुच यह चाहता है कि मैं उससे अलग हो जाऊँ, तो मैं भी उसे अब ज़्यादा परेशान नहीं करूँगी। जितने दिन कट गये हैं, उतने ही बहुत हैं। मैं अकेली रहकर भी किसी तरह ज़िन्दगी काट ही लूँगी। मैं उसके ऊपर बोझ बनकर नहीं रहना चाहती।" और बात करते-करते उसकी आँखें छलछला आयीं। उसने पूरा सैंडविच मुँह में भर लिया और उसे जल्दी-जल्दी निगलने का प्रयत्न करने लगी।

मेरी समझ में नहीं आया कि मैं उससे क्या बात कहूँ। सब कुछ सच-सच बता देने में भी एक बहुत बड़ी उलझन थी। हरबंस को उसका बुरा लग सकता था। मैं पल-भर सूखी घास में चोंच मार-मारकर कुछ ढूँढ़ते हुए कौए को देखता रहा। रह-रहकर उसके पंख फडफ़ड़ा उठते थे। वह मिट्टी के अन्दर किसी चीज़ से गहरा संघर्ष करता जान पड़ता था।

"उसने मुझे लन्दन के दिनों की कुछ बातें बतायी थीं," मैंने कहा, "कि तुम लोगों को किस तरह वहाँ तकलीफ़ में दिन काटने पड़े और किस तरह बाद में तुम लोग उमादत्त के ट्रूप के साथ यूरोप में घूमते रहे।"

"उसने तुम्हें सब बातें बतायी थीं?"

"सब बातें यानी?"

"सब बातें...जैसे कि जब मैं पहली बार उमादत्त के साथ स्पेन गयी थी, तो तीन दिन पैरिस में अकेली रुक गयी थी...?"

मुझे बहुत जल्दी अपने मन में फ़ैसला कर लेना पड़ा। मैं उस समय उसके सामने झूठ नहीं बोल सकता था। "हाँ, उसने बताया तो था...," मैंने कहा।

"तब तो उसने तुम्हें सब कुछ बता दिया है। उसने पश्चिमी बर्लिन के बाहर अपने जन्म-दिन की घटना भी तुम्हें बतायी थी?"

"हाँ, बतायी थी।"

वह सहसा बहुत गम्भीर हो गयी। "यह उसने अच्छा नहीं किया," उसने कहा।

"वह बहुत परेशान था और उस परेशानी में उसने वह सब कह दिया होगा। तुम्हें इससे यह नहीं सोचना चाहिए कि...।"

"मेरे सोचने न सोचने से क्या होगा?" वह बोली, "उसने अपने मन में फ़ैसला कर लिया है, तो ठीक

है।”

“कैसा फ़ैसला? उसने किसी फ़ैसले की बात तो मुझे नहीं बतायी।” मैंने कहा।

“उसने तुमसे यह नहीं कहा कि वह हमेशा के लिए मुझे छोड़ देना चाहता है और किसी और के साथ...”

“किस और के साथ? किसी और की बात तो उसने मुझे नहीं बतायी और न ही यह कहा है कि वह इस तरह का कोई दूसरा ख़याल रखता है।”

“तुम सच कह रहे हो, उसने ऐसा कुछ नहीं कहा?”

“मैं बिल्कुल सच कह रहा हूँ।”

वह पल-भर कुछ सोचती हुई मुझे देखती रही। फिर दूसरी तरफ़ देखने लगी। “हो सकता है उसने न कहा हो।” वह बोली, “मगर मुझे लगता यही है कि वह जल्दी ही कुछ-न-कुछ करना चाहता है।”

“यह तुम्हें कैसे लगता है?”

“ऐसे ही लगता है,” वह बोली। “वह असल में मुझे बिल्कुल नहीं समझता। वह शायद सोचता है कि मैं...।”

मैं चुपचाप उसकी तरफ़ देखता रहा।

“वह शायद सोचता है कि मैं...कि मैं उसके प्रति वफ़ादार नहीं रही। पैरिस की घटना का उसने अपने मन में कुछ और ही अर्थ लगा रखा है। मेरे बार-बार विश्वास दिलाने पर भी शायद उसे विश्वास नहीं होता कि वह जो बात सोचता है, वह ग़लत है।”

बात बहुत ना$जुक जगह पर आ गयी थी, इसलिए मैं कुछ न कह सका। मैंने कौए की तरफ़ हाथ करके एक बार ताली बजायी, जिससे उसे लगे कि मेरा ध्यान उसकी बात से ज़्यादा कौए को उड़ाने की तरफ़ है।

“मैं चाहती हूँ कि वह एक झूठी बात को आधार बनाकर कोई फैसला न करे। वैसे उसे जो भी फैसला ठीक लगे, वह कर ले। मैं अपनी ज़िन्दगी अलग रहकर काट सकती हूँ, मगर अपने ऊपर झूठा लांछन बरदाश्त नहीं कर सकती...।”

“मगर मुझसे तो उसने ऐसी कोई बात नहीं कही जिससे लगता हो कि वह अपने मन में ऐसी बात सोचता है...।” मैंने ध्यान कौए पर ही रखे हुए कहा।

“मगर मुझसे वह कई बार कह चुका है।” उसने अपने ऊपर के होंठ को दाँतों में चबा लिया और आँखें बन्द करके फिर पल-भर कुछ सोचती रही, “देखो, मैंने आज तक पूरी बात उसे नहीं बतायी। इसलिए नहीं बतायी कि उसका सन्देह कम न होकर शायद बढ़ ही जाता। मैं जीवन में किसी भी परिस्थिति का सामना करने से नहीं डरती। मगर झूठा सन्देह मुझे एक ऐसे नश्तर की तरह लगता है जो घाव नहीं करता, मगर हर समय चुभता रहता है। मुझे इस तरह की परिस्थिति बहुत लिजलिजी लगती है और उसके सामने मेरा धैर्य छूट जाता है। अगर उसने तुम्हें अपने दिल की बात बतायी है, तो मैं भी तुम्हें अपनी स्थिति बता सकती हूँ। तुम जितने उसके मित्र हो, उतने ही मेरे भी हो। कम से कम उन दिनों मैं ऐसा ही समझती थी। अगर उन दिनों तुम अचानक ही ग़ायब न हो जाते, तो बहुत कुछ शायद उस तरह न होता जैसे अब हुआ है। तुम नहीं जानते कि उस शाम को तुम्हारे न आने से मेरे लिए सारी स्थिति कैसे और की और हो गयी थी। मगर वह अलग बात है। मैं इस समय दूसरी बात करना चाहती हूँ। मगर उससे पहले मैं तुमसे यह जानना चाहती हूँ कि क्या

मैं आज भी तुम्हें अपना मित्र समझ सकती हूँ और तुमसे आशा कर सकती हूँ कि तुम मेरी सहायता करोगे?"

"अगर मेरे करने से कुछ हो सकता है, तो मैं ज़रूर करूँगा।" मैंने कहा, "मगर उस दिन की जो बात तुम कह रही थीं, मैं उसे भी जानना चाहता हूँ। उस दिन मेरे न आने से कैसे स्थिति और की और हो गयी थी? मैं चाह रहा था कि मेरे भाव और शब्दों से यह प्रकट न हो कि मैं किसी दिलचस्पी की वजह से यह बात कह रहा हूँ। मगर मेरे मन में वह साँझ फिर घिरने लगी थी जब सारा दिन मैं बसों में घूमता रहा था और रात होने पर...।"

"इस समय तुम उस बात को जाने दो।" वह बोली, "वह बीते हुए दिनों की बात है जो फिर भी की जा सकती है। अब हम सब लोग तब से नौ साल बड़े हो गये हैं और हम सबकी ज़िन्दगी तब से कई-कई मंज़िलें तय कर आयी है। उस दिन तुम पहली बार हरबंस के साथ आये थे, तो मेरे दिल में तुम्हारे लिए बहुत गुस्सा था। इसलिए उस दिन मैंने तुमसे ठीक से बात भी नहीं की थी। कल रात को भी मुझे तुम पर गुस्सा था क्योंकि शुक्ला के यहाँ न जाने के लिए हरबंस ने तुम्हारे आने को ही बहाना बनाया था। मगर आज सुबह तुम्हें दवाई की टिकिया देते हुए मुझे लगा कि शायद आज भी मैं उन दिनों की तरह तुमसे बात कर सकती हूँ। हो सकता है तुम्हारे उस दिन न आने की कोई ख़ास वजह रही हो।"

"तुम मुझे बात बताओ, तो मैं तुम्हें वजह भी बता दूँगा।" मैं नहीं चाहता था कि वह प्रकरण टल जाए। मेरी उत्कंठा इतनी बढ़ गयी थी कि मेरा नौ साल का सारा तजरबा उसके सामने बेकार हो रहा था।

"वह वजह भी मैं तुमसे सुन लूँगी।" वह उस ओर से उसी तरह उदासीन रहकर बोली, "मगर पहले मैं चाहती हूँ कि तुमको सारी बात बताकर अपना मन हल्का कर लूँ। तुम मुझसे वादा करते हो कि तुम यह बात किसी को नहीं बताओगे? हरबंस को भी नहीं? मतलब जब तक कि पहले मुझसे न पूछ लो?"

"मैं वादा करता हूँ कि तुमसे पूछे बिना किसी को नहीं बताऊँगा," मैंने कहा। मैं बहुत कठिनाई से अपने मन को नौ साल पहले की साँझ से बाहर निकालने का प्रयत्न कर रहा था। फिर भी बार-बार यह विचार मन में कौंध जाता था कि साँझ को नीलिमा से मिल लिया होता, तो क्या होता! क्या तब अगले दिन सुबह मैंने त्यागपत्र न दिया होता?

"तुम मुझे एक मित्र की तरह वचन दे रहे हो?"

मैंने सिर हिलाया। मैं उसके विश्वास को तोडऩे की बात क्या सोच भी सकता था? और आज भी अगर उसकी अनुमति न होती, तो क्या मैं यह सब यहाँ लिखता?

"मैं तुम्हें सिर्फ़ इतना ही बताना चाहती हूँ कि मैं पैरिस में तीन दिन अकेली क्यों रह गयी थी और वे तीन दिन मैंने किस तरह बिताये थे।"

मेरे मन में उत्सुकता जाग आयी। दूसरों के जीवन के अन्तरंग में झाँककर देखने का अवसर मिलने पर मन में कब उत्सुकता नहीं जागती! वह बच्चा क्या सारी उम्र हमारे अन्दर जीवित नहीं रहता जिसे रोशनदान पर सीढ़ी लगाकर दूसरों की गतिविधियाँ देखने की आदत होती है?

"हम लोग स्पेन से पैरिस आये थे और सारा ट्रुप लौटकर लन्दन जा रहा था...।" नीलिमा ने अपने पैर समेट लिये और शरीर का पूरा बोझ एक हथेली पर डाल लिया। मैंने भी सुननेवाले की मुद्रा में अपना भार एक कुहनी पर डाल लिया। कौआ न जाने कब का उडक़र जा चुका था और जामिया की इमारत, कब्रिस्तान और गाँव के घरों को छोडक़र दूर तक मटियाले रंग के टीलों और गड्ढों के

सिवा कुछ नज़र नहीं आता था। उस सारी ज़मीन को जैसे बरसों का घुन लगा था जिससे वह इतनी खोखली और भुरभुरी हो गयी थी। अपने आदिम रूप में एक कोढ़ी की तरह धूप में पड़ी हुई वह जमीन हवा से हाँफती और कराहती-सी जान पड़ती थी। किसी-किसी क्षण हवा से धूल उड़ आती थी, मगर रेतीली धूल ज़मीन से ज़्यादा ऊँची नहीं उठ पाती थी। बीस गज़ दूर सडक़ से कभी एक बस और कभी दो-एक कारें गुज़र जाती थीं। एक सोलह-सत्रह बरस का लडक़ा हाथ में एक पतली-सी टहनी लिये दूर से हम लोगों की तरफ़ ईर्ष्या-भरी आँखों से देख रहा था। ढूहों पर पड़ती हुई धूप का रंग पिघली हुई गन्धक जैसा था। मुझे प्यास लग आयी थी जिससे मेरे होंठ सूख रहे थे।

“स्टेशन तक मैं उन लोगों के साथ ही गयी थी और तब तक मैंने पीछे रुकने का निश्चय नहीं किया था...।”

गर्द का एक झोंका उठा जिससे आँखों में किरकिरी-सी भर गयी। मेरी एक आँख से पानी बह आया। मैं हाथ से आँख को मलने लगा।

“मुझे पता था कि मैं इसके सिवा कुछ कर ही नहीं सकती।” नीलिमा अपनी चप्पल से मिट्टी को ठोकरें लगाती हुई कह रही थी। मैं सोच रहा था कि वहीं कहीं पीने के लिए पानी मिल जाता, तो कितना अच्छा होता।

“मगर तुम्हें इसके लिए अफ़सोस तो नहीं है न?” मैंने पूछा।

“नहीं। अफ़सोस नहीं है। अफ़सोस इसलिए नहीं है कि मैं और कुछ भी करती, तो शायद बहुत दुखी होती। मगर एक बात का अफ़सोस ज़रूर है कि मैं उसके बाद भी हरबंस को ख़ुश नहीं रख सकी। बल्कि इस बात को सोच-सोचकर वह परेशान हो रहा है और आज तक मुझे कुरेदता रहता है कि कहीं मैंने...”

“मगर तुम्हें यह भी तो सोचना चाहिए कि उसकी जगह कोई और आदमी होता, तो शायद इतना भी बरदाश्त न करता और खुद परेशान रहने की जगह न जाने क्या कर डालता!”

“यह मैं जानती हूँ।” वह बोली, “और इसके लिए उसकी क़द्र भी करती हूँ। मगर फिर बीच में जाने क्या हो जाता है! मुझे लगता है जैसे हम पति-पत्नी न होकर एक-दूसरे के दुश्मन हों और साथ रहकर एक-दूसरे से किसी बात का बदला ले रहे हों। शायद उसके मन के सन्देह के कारण ही यह स्थिति पैदा होती है। अगर किसी तरह उसका मन मेरी तरफ़ से साफ़ हो जाए जिससे वह बात-बात पर मेरे ऊपर ताने कसना छोड़ दे, तो हो सकता है हम लोग ठीक से ज़िन्दगी बिता सकें। कम से कम अरुण के लिए तो हमें सोचना ही चाहिए कि उस पर इस सबका क्या असर पड़ता होगा। वह कभी हरबंस के गिर्द हो जाता है कि तुम ममी को इस तरह क्यों डाँटते हो और कभी मेरी साड़ी खींचकर फाडऩे लगता है कि तुम बाबा के सामने इस तरह क्यों बोलती हो। वह इतनी छोटी उम्र में ही सयाना होता जा रहा है और मुझे इससे डर लगता है। कभी जब हम लोग लड़ते हैं, तो वह बैठा-बैठा रोने लगता है और घर की चीज़ें तोडऩे-फोडऩे लगता है। मुझे डर लगता है कि हम लोगों की खींचतान में कहीं वह बहुत ही एबनॉर्मल न हो जाए।”

“इसके अलावा तुम समझती हो कि तुम लोगों के सम्बन्ध में और कोई लकीर नहीं है?”

“नहीं...और कोई लकीर नहीं है। कम से कम मेरे मन में तो नहीं है। मैं नहीं समझती कि...या शायद...मगर और कोई बात महत्त्वपूर्ण नहीं है। कम से कम मैं और चीज़ों को महत्त्व नहीं देती।

हम लोग अब काफ़ी बड़े हो गये हैं और...हाँ, एक बात और है। मैं यह अच्छी तरह जानती हूँ कि मैं नाचने के बिना नहीं रह सकती।...सुबह घंटा-भर प्रैक्टिस कर लेती हूँ, तो उससे मेरी अच्छी कसरत भी हो जाती है और...मैं नहीं चाहती कि मेरा शरीर थुल-थुल हो जाए और मैं अभी से बूढ़ी लगने लगूँ। मुझे बुढ़ापे से बहुत डर लगता है और मैं कम से कम दस साल और ऐसी ही बनी रहना चाहती हूँ। तुम देखो, मैं अब चौंतीस की हो चुकी हूँ और मेरे पास मुश्किल से यही दस साल हैं।...लन्दन से आने के बाद मैं अरुण की वजह से एक भी शो नहीं दे सकी। मुझे यह सोचकर डर लगता है कि मैं ऐसे ही बूढ़ी होकर मर जाऊँगी और लोग यह जानेंगे भी नहीं कि मैं भी कभी थी और...देखो, मैं नाचना नहीं छोड़ सकती। उसके लिए चाहे मुझे कुछ भी क्यों न बलिदान करना पड़े। मैं मरने से पहले एक बार खूब नाम कमाना चाहती हूँ। मैं चाहती हूँ कि लोग मुझे जानें और...मगर यह नहीं कि मैं सिर्फ़ ख्याति चाहती हूँ। मैं जानती हूँ कि मेरे अन्दर वह चीज़ है जो मुझे इस क्षेत्र में आगे ला सकती है। तुमने कामिनी और शची के शो देखे होंगे। मैं नहीं मानती कि उनकी आज जितनी ख्याति है, वे उतनी ही बड़ी कलाकार भी हैं। दरअसल...तुम नहीं जानते कि मेरे शरीर में उन दिनों कितनी लोच और लचक थी। मैं अब भी ठीक से अभ्यास करूँ, तो...तो शची और कामिनी के बराबर तो आ ही सकती हूँ। मैं केवल ख्याति की भूखी नहीं, मगर मेरे अन्दर वह चीज़ है, तो मैं क्यों न...क्यों न उनकी तरह ही जानी जाऊँ? जहाँ तक अभिनय का सम्बन्ध है, मेरा अभिनय उन दोनों से अच्छा होता है। मेरे गुरु भी कहते थे कि मेरी जैसी भावपूर्ण आँखें और हाथ उनकी किसी शिष्या के नहीं हैं। मैं वही चीज़ पाना चाहती हूँ जो मेरा अधिकार है...।"

वह बात कर रही थी और मैं फिर आस-पास की ऊँची-नीची भुरभुरी ज़मीन को देख रहा था। चींटियों की एक पंक्ति हमारे पास से चक्कर काटकर सीधी सामने की झाड़ी की तरफ़ जा रही थी। दूर तक के झाड़-झंखाड़ ढलती धूप में सदियों के घुन खाये कंकालों जैसे नज़र आ रहे थे। सारे वातावरण में एक विरसता थी, एक उदासीनता, एक भावहीन विरक्ति। दूर सडक़ पर कितनी ही गाडिय़ाँ एक-दूसरी के पीछे आ रही थीं और वह ज़मीन जैसे कपड़े उतारकर और बाँहें फैलाकर उनके सामने एक मौन प्रदर्शन कर रही थी। वह भाव का एक विवश, हताश, व्यंग्यात्मक मुद्रा में मुँह बिचकाने जैसा था। मुझे लग रहा था कि मेरा ही नहीं, उस सारे वातावरण का गला सूखा है और उसे प्यास लग रही है।

"हमें लौटने में देर तो नहीं हो जाएगी?" मैंने कहा, "अब हम चलते-चलते बातें करें, तो कैसा है?"

नीलिमा जैसे चौंककर उठ खड़ी हुई। "अरे हाँ!" उसने कहा, "मैं तो भूल ही गयी थी कि हरबंस के दफ़्तर से आने का समय हो गया है। हमें उसके लौटने से पहले ही घर पहुँच जाना चाहिए था।"

हम लोग पैदल चलते हुए फ्रेंच कॉलोनी के पुल तक आ गये। दिन जल्दी ढल गया था और झुटपुटा-सा अँधेरा उतर आया था। फटे-फटे बादल के गेरुआ टुकड़े दूर रेल की पटरियों पर झुके हुए थे। नीलिमा चलते-चलते सहसा ठिठक गयी।

"क्या बात है?" मैंने पूछा।

"कुछ नहीं।" वह बोली, "वह गाड़ी आ रही है। उसे गुज़र जाने दो।"

दायीं तरफ़ से रेल की पटरियों पर एक स्याह इंजन हमारी तरफ़ रेंगता आ रहा था। हम लोग पुल पर रुककर देखते रहे। गाड़ी धड़धड़ाती हुई पुल के नीचे से निकलकर चली गयी, तो नीलिमा ने एक उत्तेजना में अपने दोनों हाथ भींच लिये और बोली, "मुझे गाड़ी का दूर से आना और गुज़र जाना बहुत अच्छा लगता है, जाने क्यों!"

मैंने कुछ नहीं कहा और हम लोग चुपचाप आगे चलने लगे। कुछ आगे चलकर नीलिमा फिर बोली, "मैंने आज न जाने क्यों तुमसे इतनी बातें की हैं! मैं तो जैसे किसी से यह सब कहने के लिए भरी

बैठी थी। तुम भी सोचते होगे कि इसका दिमाग़ कुछ ख़राब है। नहीं?”

“इसमें दिमाग़ ख़राब होने की तो कोई बात नहीं थी,” मैंने कहा।

“मुझे खूब ख़ुश रहना और भरपूर ज़िन्दगी जीना अच्छा लगता है।” वह और उत्साहित होकर बोली, “मैं बहुत चाहती हूँ कि मेरा कोई ऐसा मित्र हो जिससे मैं अपने मन की सब बातें कह सकूँ। उस दिन भी मैं तुमसे बहुत-बहुत बातें करना चाहती थी...।”

“किस दिन?”

“उस दिन जिस दिन तुम नहीं आये थे। जिस दिन मैं तुम्हें लाने के लिए तुम्हारे कसाईपुरा या क़स्साबपुरा, क्या था वह, वहाँ गयी थी।”

उस दिन की बात याद हो आने से मेरा मन फिर एक उदासी में डूबने लगा। नीलिमा ने उस दिन की पहले भी चर्चा की थी, तो कहा था कि अगर उस शाम को मैं उससे मिलने आया होता तो शायद...।

“उस दिन मैं एक खास वजह से नहीं आ सका था।” मैंने कहा, “उसके बाद तो मैं दिल्ली से चला ही गया था।”

“उस दिन तुम आये होते, तो शायद मैं बहुत हल्के मन से मैसूर और फिर हरबंस के पास जा सकती,” उसने कहा।

“कैसे?”

“उन दिनों मैं शुक्ला की बात सोचकर बहुत परेशान थी। मैं नहीं चाहती थी कि मैं चली जाऊँ और पीछे सुरजीत को उससे घनिष्ठता बढ़ाने का मौका मिल जाए। मुझे वह आदमी अच्छा नहीं लगता था। मगर मेरा जाना ज़रूरी था और हुआ भी वही जिसका मुझे डर था। मैं चाहती थी कि...।”

वह सहसा चुप कर गयी। मेरा दिल ज़ोर-ज़ोर से धडक़ रहा था। मैं आगे की बात सुनने के लिए बहुत उत्सुक था।

“मैं चाहती थी कि मेरे जाने से पहले शुक्ला का ध्यान सुरजीत की तरफ़ से हट जाता। जीवन भार्गव चला गया था और तुम्हीं एक ऐसे व्यक्ति मुझे नज़र आते थे जिसे मैं...मगर अब बात करने में क्या रखा है! अब तो मैं यही चाहती हूँ कि उसकी ज़िन्दगी अच्छी तरह कट जाए। तुम्हें पता है सुरजीत की यह दूसरी या तीसरी शादी है?”

“मुझे पता है,” मैंने मरे हुए मन से कहा।

“मैं उन दिनों एक प्रयत्न करके देखना चाहती थी और उसी बारे में तुमसे बात करना चाहती थी। वैसे सोचती हूँ कि हो सकता है मेरे करने से कुछ न भी होता। अच्छा बताओ, तुम्हें शुक्ला अच्छी नहीं लगती थी? मेरा तो ख़याल था कि तुम...।” और वह अपने स्वाभाविक अन्दाज़ में हँसकर चुप कर गयी।

मेरा मन इस क़द्र गिर गया था कि मुझे बात करने के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ा। “मैंने ऐसी नज़र से कभी देखा ही नहीं था,” मैंने कहा।

“मैं बताऊँ, शुक्ला ने सुरजीत से ब्याह क्यों किया है?” वह बोली।

“क्योंकि वह उसे चाहती थी।”

“वह सुरजीत को इसीलिए चाहती थी कि वह भी हरबंस की तरह ही लम्बे-ऊँचे डीलडौल का है और हरबंस उन दिनों उसकी बहुत प्रशंसा किया करता था। तुम्हारे बारे में उसकी राय थी कि तुम्हें अपना बहुत गुमान है और तुम किसी से सीधे मुँह बात तक नहीं करते। बेचारी शुक्ला! उसे सुरजीत के पहले जीवन का तब पता चला जब वह उसे अपना सब कुछ दे चुकी थी। उस कच्ची उम्र में उसे भले-बुरे की पहचान हो ही क्या सकती थी? हरबंस भी उसे बीच में ही छोडक़र चला गया था, और मैं भी चली गयी। बाद में उसके लिए एक विचित्र परिस्थिति खड़ी हो गयी। वह शादी हम लोगों के लौटकर आने के बाद ही करना चाहती थी, मगर सुरजीत ने उससे कहा था कि नया कानून लागू हो जाएगा, तो वह उससे ब्याह नहीं कर सकेगा। तुम्हें पता है नया कानून अठारह मई सन् पचपन से लागू हुआ है और इनका ब्याह सत्रह मई सन् पचपन की रात को हुआ है? ब्याह के पहले दिन शुक्ला बीजी की गोद में सिर डालकर खूब रोयी थी। बीजी कहती हैं कि मुझे और हरबंस को बहुत याद करती रही थी।”

रास्ता बहुत बाक़ी था और मुझसे अब चला नहीं जा रहा था। मैंने सुझाव दिया कि हम लोग बस ले लें। अगले स्टाप से हमने बस पकड़ ली। जब हम लोग बस से उतरे, तो भी मुझे पैरों में इतनी थकान महसूस हो रही थी कि मुझे एक क़दम भी चलना मुश्किल लग रहा था। सडक़ पर दूर तक दिखायी देते हुए खम्भे मुझे जेल के सींखचों जैसे लग रहे थे। मेरा गला इतना ख़ुश्क हो रहा था कि एक शब्द भी मुझसे नहीं बोला जाता था। दोराहे पर आकर मैंने नीलिमा से कहा कि मैं अब उससे विदा लेना चाहूँगा।

“तुम यहाँ से कैसे जा सकते हो?” नीलिमा मेरा हाथ पकडक़र बोली, “हरबंस अगर आ गया होगा, तो मैं अकेली उसकी डाँट कैसे सुनूँगी? और तुम चाय या कॉफ़ी पिये बिना कैसे जा सकते हो?” और फिर थोड़ा हँसकर उसने कहा, “तुम्हें मैं घर पर चलकर एक टिकिया और खिला दूँगी। कहीं यही न हो कि मेरी बातें सुनने-सुनने में जाकर फिर बीमार हो जाओ...।”

उनके घर तक आधा फर्लांग रास्ता मुझे बहुत लम्बा लग रहा था। उतना लम्बा रास्ता चलकर जाना मुझे बहुत मुश्किल लग रहा था। मुझे ऐसे महसूस हो रहा था जैसे सरदी की वह शाम एक जगह ठिठककर रह गयी हो—अपने अन्दर के किसी आवेग से स्तब्ध, हैरान, खोयी हुई। सारा आकाश एक मैली चादर की तरह था जिस पर जगह-जगह सिकुडऩें पड़ी थीं। वातावरण की उस निर्जीवता को पास के किसी घर से आती हुई रेडियो की आवाज़ तोड़ रही थी। मगर वह आवाज़ भी केवल एक गूँज ही थी, भारी और बोझिल, जिसमें शब्द, अर्थ या लय, कुछ भी नहीं था...। हम लोग अभी घर के दरवाज़े के बाहर ही थे कि सडक़ की बत्तियाँ जल उठीं।

घर भी उस समय बहुत नि:स्तब्ध और ठंड में सिमटा हुआ-सा लग रहा था। किसी भी कमरे में रोशनी नहीं थी। बाँके ने दरवाज़ा खोला, तो उसका चेहरा भी इस तरह उतरा हुआ था जैसे वह कहीं से मार खाकर आया हो।

“साहब अभी नहीं आये?” नीलिमा ने उसके दरवाज़ा खोलते ही पूछा।

“आये थे,” बाँके के संक्षिप्त-से उत्तर में कुछ ऐसा था जिसने हम दोनों को चौंका दिया।

“कब आये थे और अब कहाँ गये हैं?” नीलिमा ने उतावली में पूछा।

“पहले दोपहर को खाना खाने आये थे।” बाँके ने कहा, “तब दो बजे तक घर पर रहे। मैंने उन्हें बताया था कि आप लोग ओखला गये हैं। अभी आधा घंटा हुआ फिर आये थे और यह पूछकर कि आप लोग अभी आये हैं या नहीं, उसी वक़्त वापस चले गये।”

“माई गुडनेस!” नीलिमा हताश स्वर में बोली और बैठक में जाकर टूटी-सी दीवान पर बैठ गयी, “जाते हुए कुछ कहकर नहीं गये?”

बाँके उत्तर देने से पहले क्षण-भर आँखें इधर-उधर करता रहा जैसे उत्तर देने से बचना चाहता हो। फिर उसने अपने हाथ बग़लों में दबाये हुए कहा, “कह गये थे कि वे रात को खाना नहीं खाएँगे और हो सकता है रात को घर भी न आयें।”

“मगर क्यों?” नीलिमा ने अपनी हताशा से शिथिल पडक़र पीछे टेक लगा ली। “मैं कहती हूँ कि इस आदमी का दिमाग़ बिल्कुल ख़राब हो गया है और अब कुछ नहीं हो सकता।” उसका भाव उस पिटे हुए बच्चे जैसा हो रहा था जो जैसे भी हो, पीटनेवाले पर अपने मन की खीझ निकाल लेना चाहता हो। “सिली!”

“छोटी बीबीजी कह गयी थीं कि आप आयें, तो मैं उन्हें पता दे दूँ।” बाँके बोला, “वे अरुण को भी उधर अपने यहाँ ले गयी हैं। वह उधर ही खेल रहा है।”

“उससे कह दो कि मैं आ गयी हूँ।” नीलिमा का चेहरा उस अभियुक्त की तरह हो गया जिसे निरपराध होते हुए भी किसी के सामने अपने सच की सफ़ाई देनी हो।

बाँके चला गया, तो वह मेरी तरफ़ देखकर बोली, “अब बताओ मैं क्या कर सकती हूँ?”

मैं तब तक बैठा नहीं था और दीवार पर लगी हुई सियासी गुडिय़ों को देख रहा था। मैंने सोचा था कि उसे घर पहुँचाकर मैं तुरन्त ही वहाँ से चल पड़ूँगा। मैं उस समय कुछ देर अकेला रहना चाहता था। इस नयी स्थिति में मुझे क्या करना चाहिए, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा था। वहाँ से जाना चाहते हुए भी मुझे जाना सम्भव नहीं लग रहा था।

“हम लोगों को जल्दी लौट आना चाहिए था,” मैंने कहा।

“मगर वह कुछ देर यहाँ इन्तज़ार नहीं कर सकता था?” नीलिमा कुछ चिल्लाकर बोली, जैसे कि हरबंस वहाँ खड़ा उसकी बात सुन रहा हो, “दोपहर के लिए तो उसने खुद ही फ़ोन पर कहा था कि वह घर नहीं आएगा। तुम बताओ इस तरह के शक की ज़िन्दगी भी कोई ज़िन्दगी है? मैं उसके किसी दोस्त के साथ भी बाहर घूमने के लिए नहीं जा सकती? ख़ासतौर पर ऐसे दोस्त के साथ जिसे वह अपनी ज़िन्दगी की सब बातें बता सकता है? मगर उसके दिमाग़ को तो ऐसा घुन लगा है कि वह मेरे ऊपर शक किये ब$गैर रह ही नहीं सकता। मैं किसी को चाय की प्याली पकड़ाते हुए हँस भी दूँ तो उसके दिमाग़ की नसें फडक़ने लगती है। मैं कहती हूँ कि यह उसके अपने मन का पाप है जो वह मेरे अन्दर देखना चाहता है। क्योंकि खुद वह किसी स्त्री के साथ खुले मन से मित्रता का व्यवहार नहीं कर सकता, इसलिए उसे हमेशा यही सूझता है कि मैं भी अगर किसी के साथ बात करती हूँ, या किसी का हाथ छू लेती हूँ, तो इसमें मेरे मन में कोई पाप ही होना चाहिए। अब आप रात को खाना नहीं खाएँगे और नहीं आएँगे! न आयें, मेरी बला से! अगर बात सचमुच यहाँ तक पहुँच गयी है, तो मैं खुद ही उसे छोडक़र अलग हो जाऊँगी। मैंने लन्दन में हेयर ड्रेसिंग का डिप्लोमा लिया था। मैं जाकर किसी सैलून में नौकरी कर लूँगी। वह अलग रहे, मैं अपने बच्चे के साथ अलग रहूँगी। और अगर वह लडक़े को भी मुझसे छीनना चाहेगा, तो मैं उसे भी छोड़ दूँगी। मुझे अपने लिए कुछ भी नहीं चाहिए, कम से कम इसके घर की कोई चीज़ नहीं चाहिए। मैं सचमुच इस ज़िन्दगी से बेज़ार आ गयी हूँ।

मेरा मन अपने अपवाद में डूबा हुआ था और मैं तब तक भी यह तय नहीं कर पाया था कि मैं कुरसी पर बैठ जाऊँ या नहीं। मैं नौ साल पहले की शाम से उस शाम तक के सारे दु:ख-दर्द में से नये सिर से गुज़र रहा था और उस दर्द को जो नया रूप मिल गया था, उससे मैं भी अन्दर उसी तरह छटपटा रहा था जैसे नीलिमा बाहर छटपटा रही थी।

“पहली चीज़ तो यह है कि यह पता किया जाए कि वह गया कहाँ है।” मैंने फिर भी अपने पर वश किये हुए कहा और कुरसी पर बैठ गया। “अगर उसे कोई ग़लतफ़हमी हो गयी है, वह उससे

मिलकर बात करने से ही दूर होगी।"

"मुझे उसकी कोई ग़लतफ़हमी दूर नहीं करनी है।" नीलिमा उसी तरह चिल्लाकर बोली, "आज एक ग़लतफ़हमी दूर करूँगी, तो कल उसे दूसरी ग़लतफ़हमी हो जाएगी। मैं कहाँ तक रोज़-रोज़ उसके सामने मुजरिम की तरह सफ़ाई देती रहूँ? मुझसे यह सब नहीं होगा। अगर वह मुझसे कुछ भी कहेगा, तो मैं आज ही उसका घर छोडक़र चली जाऊँगी।"

उसी समय अरुण एक होलाहूप को कमान की तरह कन्धे पर डाले बाहर से आ गया। "ममी!" उसने कहा और दौडक़र उससे चिपट गया। नीलिमा उसे छाती से लगाकर पागलों की तरह चूमने लगी।

"ममी," अरुण उससे अलग होकर होलाहूप को पहिये की तरह घूमता हुआ बोला, "आज छुक्का मौछी ने बिनी के बहुत-छे खिलौने मेले को दे दिये हैं। कल उछको जो-जो प्लेजेंट मिले थे, वो आधे मैंने ले लिये हैं। यह देखो होलाहूप...!" और वह खिलखिलाकर हँस दिया।

"तुम जाओ और बाँके से कहो कि तुम्हारा मुँह साफ़ कर दे।" नीलिमा अपने स्वर को सँभालकर बोली।

"मैं मौछी के घल में जा लहा हूँ," कहता हुआ अरुण तुरन्त कमरे से भाग गया, जैसे उसे डर हो कि ममी उसे पीछे से पकड़ न ले। उसके वहाँ से जाते न जाते शुक्ला कमरे मे आ गयी। "दीदी," उसने कहा और मुझे देखकर ठिठक गयी।

नीलिमा ने एक बार अवज्ञा-भरी नज़र से उसकी तरफ़ देखा और बोली, "तुम देख रही हो कि मैं कैसी नरक की ज़िन्दगी जी रही हूँ!"

"आप तो पागल हो गयी हैं!" शुक्ला अब संकोच छोडक़र सामने आ गयी और मेरे साथ की कुरसी पर बैठ गयी, "आप इतने सालों में भापाजी को नहीं समझ सकीं, तो मैं नहीं जानती कि कब समझ सकेंगी।"

"मैं उसे कभी नहीं समझ सकूँगी।" नीलिमा का स्वर फिर तीखा हो गया, "और मैं ही क्या, दुनिया की कोई भी स्त्री उसे समझ सकती है, इसमें मुझे शक है।"

"आप उनके साथ ज़्यादती कर रही हैं।" शुक्ला बड़प्पन के लहज़े में बोली, "वे इतने अच्छे हैं कि दुनिया में कोई क्या होगा! आप उनके साथ इतनी ज़्यादतियाँ कर जाती हैं और वे फिर भी बरदाश्त कर लेते हैं। उनकी जगह कोई और होता, तो देखती किस तरह आपकी ज़्यादतियाँ सहता!"

"मैं ये सब बातें नहीं सुनना चाहती।" नीलिमा बोली, "मैं उसके साथ ज़्यादतियाँ करती हूँ? उसने मेरे लिए जीना मुश्किल कर रखा है और आप कहती हैं कि मैं उसके साथ ज़्यादतियाँ करती हूँ। मैं जानती हूँ कि तुम भी अपने मन से मुझसे नफ़रत करती हो; और क्यों नफ़रत करती हो, यह भी जानती हूँ।"

शुक्ला कुछ देर चुप रहकर शिकायत-भरी आँखों से उसकी तरफ़ देखती रही। सुबह मैंने उसे देखा था,तो वह सजी-सँवरी हुई नहीं थी। मगर अब वह सुबह की तरह एक गृहस्थिन न लगकर फिर एक लडक़ी-सी ही लग रही थी। वह आसमानी रंग की औरंगाबादी रेशम की प्लेन साड़ी बाँधे थी, और उसके बालों की दो-एक लटें उसके चेहरे पर आयी हुई थीं। जाने वे लटें सचमुच बहुत सुन्दर थीं या मेरे दिमाग़ का आईना ही उस समय ऐसा था कि मुझे उसकी हर छोटी से छोटी चीज़ बहुत सुन्दर लग रही थी। मुझे फिर एक बार भद्रसेन की कही हुई बात याद आ गयी, "शी रेडिएट्स ब्यूटी!" हालाँकि मेरे अन्दर का अनुभवी पत्रकार बार-बार मुझे अपने नौ वर्ष के निकाले हुए निष्कर्षों की याद दिला रहा था।

"दीदी, आप जानती हैं कि आप यह कितनी ग़लत बात कह रही हैं!" शुक्ला कुछ देर चुप रहकर बोली, "आप जानती हैं मैं आपसे कितना प्यार करती हूँ। मैं आपके दिल को भी उतनी ही अच्छी तरह समझती हूँ जितनी अच्छी तरह भापाजी के दिल को समझती हूँ। आप दिल की कितनी साफ़ हैं, यह मैं जानती हूँ और यह भी जानती हूँ कि आपको ज़रा भी लुकाव-छिपाव पसन्द नहीं। मगर आपको सिर्फ़ इतना सोचना चाहिए कि किन बातों से भापाजी को तकलीफ़ होती है। आप जानते हुए भी फिर-फिर वही बातें क्यों करती हैं? मैं नहीं समझ सकती कि उसमें आपको क्या सुख मिलता है! भापाजी दिल के इतने अच्छे हैं कि दूसरे का बड़े से बड़ा अपराध भी क्षमा कर देते हैं। उनकी जगह कोई और आदमी हो, तो कभी नहीं करेगा। आप उनके दोष ही दोष देखती हैं और उनके इस गुण को कभी नहीं देखतीं। आप मुझे चाहे जो कह लें, मगर मुझे आपकी इन बातों से तकलीफ़ ज़रूर होती है।"

"तुम्हें तकलीफ़ होती है, मैं जानती हूँ।" नीलिमा फिर उसी तरह बोली, "मगर मुझे कभी कोई तकलीफ़ नहीं होती! मुझे तकलीफ़ हो ही कैसे सकती है!"

शुक्ला ने एक बार मेरी तरफ़ देखा और फिर कुछ अव्यवस्थित होकर उठती हुई बोली, "मैं आपसे कितनी बार कह चुकी हूँ कि आप ये फ़िज़ूल की बातें न किया करें। मैं अपने लिए भी सोचती हूँ कि सुरजीत मेरे लिए जो कुछ करता है, मैं उसका दसवाँ हिस्सा भी उसके लिए नहीं कर पाती। लेकिन मैं यह कोशिश ज़रूर करती हूँ कि उसके लिए कुछ कर सकूँ। आपसे भी मैं यही कहती हूँ कि जितना भापाजी आपके लिए करते हैं, अगर आप उसका दसवाँ हिस्सा भी उनके लिए करें, तो...।"

"मुझमें और तुममें बहुत फ़र्क है।" नीलिमा भी साथ ही उठ खड़ी हुई। "तुम्हारे लिए घरेलू किस्म की ज़िन्दगी ही सब कुछ है, मेरे लिए नहीं है। मेरी अपनी और भी ज़रूरतें हैं।"

"तो अपनी उन ज़रूरतों के लिए अरुण की और भापाजी की ज़िन्दगी तबाह कर डालिए, और साथ ही अपनी भी।" शुक्ला सहसा गुस्से से तमतमा उठी, "मैं आपसे और क्या कह सकती हूँ? यह आपकी ज़िन्दगी है और इसे बनाने-बिगाडऩे वाली आप ही हैं।" और वह गुस्से के आवेश में कमरे से निकलकर चली गयी।

कुछ देर हम लोग ख़ामोश रहे। नीलिमा फिर अपनी जगह पर बैठ गयी और आँखें बन्द किये अपने को सहेजने का प्रयत्न करती रही। फिर सहसा वह एक उसाँस भरकर उठ खड़ी हुई और बोली, "तुम मेरे साथ चलोगे?"

"कहाँ!" मैंने पूछा।

"जहाँ कहीं भी वह हो सकता है, वहाँ? ऐसी दो-एक ही जगहें हैं जहाँ वह जा सकता है।"

"तुम समझती हो कि मेरा साथ चलना ज़रूरी है?"

"हाँ! मैं अकेली इस वक़्त उसके सामने जाऊँगी, तो बात शायद और भी बिगड़ जाएगी।"

मैं साथ नहीं जाना चाहता था, मगर उस स्थिति में उसे इनकार भी नहीं कर सकता था। मैं जैसे दो पत्थरों का वज़न अपने मन पर लिये हुए चुपचाप खड़ा हुआ था और मैंने कहा, "अच्छा चलो।"

हरबंस को जहाँ-जहाँ देखा जा सकता था, वहाँ-वहाँ वह नहीं मिला। न वह रमेश के घर गया था, न अपने बॉस के यहाँ और न ही उस स्वीडिश लेखक के यहाँ जिसके पास वह गाहे-बगाहे शराब पीने और साहित्य-चर्चा करने के लिए चला जाता था। कॉफ़ी-हाउस में भी किसी ने उसे नहीं देखा था

और न ही वह मॉडल बस्ती या हनुमान रोड पर गया था। मैं जानता था कि हम लोग व्यर्थ का चक्कर लगा रहे हैं और वह स्वयं ही रात को घर पहुँच जाएगा, मगर नीलिमा उसके कहीं भी न मिलने से बहुत घबरा गयी थी और ऐसी हो रही थी जैसे उसके लिए दुनिया का अन्त अब बहुत पास आ गया हो। आख़िर जब उसे डिफेंस कॉलोनी वापस पहुँचाने के लिए मैं स्कूटर में हनुमान रोड से उसके साथ चला, तो इंडिया गेट के पास आकर मुझे बहुत दिन पहले वहाँ पर उसके साथ हुई बातचीत का ध्यान हो आया और मैंने सोचा कि कहीं वह वहीं पर न हो। मेरा अनुमान ठीक था। हम टैक्सी को रोककर जब दस मिनट वहाँ चक्कर लगा चुके, तो एक जगह वह अँधेरे में अकेला लेटा हुआ दिखायी दे गया। जिस चीज़ पर पहले मेरी नज़र पड़ी, वह सिगरेट का जलता हुआ सिरा था।

“हरबंस!” मैंने उसके पास पहुँचकर कहा, तो वह चौंककर उठ बैठा।

“तुम यहाँ पड़े हो?” नीलिमा की घबराहट गुस्से में बदल गयी, “और हम तुम्हें ढूँढ़ते हुए सारी दिल्ली छान आये हैं।”

“मैं खुली हवा के लिए यहाँ चला आया था।” हरबंस बहुत मुरझाये हुए स्वर में बोला।

“तुम्हें तो खुली हवा मिल गयी।” नीलिमा बोली, “मगर हम लोगों को तो तुमने बेहाल कर दिया।”

“क्यों? मैंने तुमसे क्या कहा है?” वह बोला।

“तुम बाँके से यह क्यों कह आये थे कि तुम रात को घर नहीं आओगे?”

“मेरा मन नहीं था।”

“तुम्हारा मन नहीं था! मैं जान सकती हूँ कि क्यों तुम्हारा मन नहीं था?”

“मुझे इसकी व्याख्या नहीं करनी है।”

“तुम्हें इसकी व्याख्या नहीं करनी है! दूसरों की तुम जान भी निकालकर रख दोगे तो कहोगे कि मुझे इसकी व्याख्या नहीं करनी है।”

“देखो, मैं इस समय बात करने के मूड में नहीं हूँ।” हरबंस शायद मेरी वजह से अपने गुस्से को दबाये हुए था।

“हाँ, तुम बात करने के मूड में क्यों होगे!” नीलिमा बोली, “तुम्हारे मन में एक कीड़ा लगा है जो तुम्हें अन्दर ही अन्दर खा रहा है।”

“मैं कह रहा हूँ, मैं इस समय यह सब बकवास नहीं सुनना चाहता।” हरबंस का स्वर तीखा होने लगा।

“तुम यह बकवास नहीं सुनना चाहते! तुम अपने दोस्तों से घंटों जो चाहो बातें कर सकते हो। मगर मैं किसी से कुछ बात करूँ, तो तुम्हें सुइयाँ चुभने लगती हैं। तुम मेरे ऊपर तो शक करते ही हो, अपने दोस्तों के ऊपर भी शक करते हो! लन्दन में तो कहा करते थे कि सूदन ही एक ऐसा आदमी था जिस पर तुम भरोसा कर सकते थे।”

“तुमको ये सब बातें करने के लिए यही मौका मिला है?” हरबंस फिर कुछ फीका पड़ गया और मुझसे बोला, “देखो सूदन, तुम इन बातों का बुरा नहं ी मानना। यह जो बात कह रही है, वह बात

मैं कभी सोच भी नहीं सकता। यह ख़ामख़ाह बक रही है।"

"अगर ऐसी बात तुम सोच भी नहीं सकते, तो तुम घर से क्यों चले आये थे?" नीलिमा चिल्लायी। वह उस समय यह भूल गयी थी कि वह आम लोगों के आने-जाने की जगह है।

"देखो सूदन, तुम किसी बात का बुरा नहीं मानना।" हरबंस बोला, "मैं दफ़्तर से बहुत थका हुआ आया था। पहले दोपहर को भी आया था। सोचा था लौटकर दफ़्तर नहीं जाऊँगा और तुमसे बातें करूँगा। मगर...! ख़ैर, उस बात को तुम जाने दो। मेरी आज अपने बॉस से ख़ासी झड़प हो गयी है। शायद मेरेवाली जगह बहुत जल्द ही उड़ा दी जाएगी।...तुम बुरा नहीं मानना।"

"मेरे बुरा मानने की बात नहीं।" मैंने कहा, "मगर तुम्हें अपना दिमाग़ इस तरह ख़राब नहीं करना चाहिए। जहाँ तक नौकरी का सवाल है, यह तो तुम पहले भी जानते थे कि वह जगह स्थायी नहीं है...।"

"वह तो ठीक है, मगर...," उसने अपना सिगरेट का टुकड़ा इस तरह दूर फेंक दिया जैसे किसी को पत्थर मार रहा हो। मैं सोचता था कि शायद इसमें अभी दो-तीन साल और निकल जाएँगे। मगर बॉस की आज की बातचीत से मुझे लगा कि अब इस जगह पर साल-छ: महीने भी मुश्किल से ही निकलेंगे। मैंने नहीं सोचा था कि मुझे फिर से इतनी जल्दी सडक़ पर पहुँच जाना पड़ेगा।"

"मगर साल-छ: महीने की बात है, तो तुम अभी से क्यों परेशान होते हो? जब वक़्त आएगा, तब देखा जाएगा।"

"हा-हा।" वह बोला, "जब वक़्त आएगा, तब मैं क्या देखूँगा—आसमान? घर का ख़र्च अब भी पूरा नहीं होता और तब...? मैं बुरे दिन विदेश में बहुत देख चुका हूँ, सूदन! अब उस तरह की ज़िन्दगी की बात सोचते भी मुझे डर लगता है, ख़ासतौर पर लडक़े की वजह से। उसे मैं वैसे दिन नहीं दिखाना चाहता। तुम अन्दाज़ भी नहीं लगा सकते कि मैं इस वक़्त कितनी बड़ी कशमकश में हूँ। मैं इस वक़्त एक ऐसे दोराहे पर खड़ा हूँ कि—!"

नीलिमा ख़ामोश रहकर फ़व्वारों की तरफ़ देख रही थी। मैं सोच रहा था कि मुझे जल्द-अज़-जल्द उन दोनों को अकेले छोडक़र चल देना चाहिए। इसलिए मैंने कहा, "ख़ैर, फिर किसी दिन मिलेंगे, तो इस बारे में बात करेंगे। इस वक़्त मुझे भी जल्दी है और तुम लोगों को भी जल्दी घर जाना होगा।"

हरबंस एक झटके के साथ उठ खड़ा हुआ और क्षण-भर खड़ा रहकर आसमान की तरफ़ देखता रहा। फिर एक उसाँस के साथ बोला, "कुछ समझ में नहीं आता। शायद अब मेरे लिए वही एक रास्ता है जिस रास्ते पर मैं चलना नहीं चाहता।"

मुझे उसका बात करने का ढंग बहुत किताबी-सा लग रहा था। मैंने उससे कुछ कहा नहीं और चुपचाप उसके साथ लॉन पार करने लगा।

भाग-3

हवा में कहीं एक कोहेनूर झिलमिलाता है...।

सुबह-सुबह हज़ारों साइकिलें शहर की विभिन्न बस्तियों से निकलती हैं और शाम को थकी-हारी उन्हीं बस्तियों को लौट जाती हैं। सन् दो की ओल्ड्स्मोबाइल से लेकर सन् साठ की डॉज किंग्सवे

तक सैकड़ों तरह की गाडियाँ यहाँ से वहाँ भटकती हैं—हार्डिंग रोड, सुन्दरनगर, चाणक्यपुरी, नॉर्थ एवेन्यू, साउथ एवेन्यू, जनपथ, राजपथ, ओल्ड मिल रोड, पार्लियामेंट स्ट्रीट, कनॉट प्लेस, कनॉट सर्कस!

इस होड़ में हर व्यक्ति हर दूसरे व्यक्ति का प्रतिद्वन्द्वी है। हरएक का हरएक के साथ युद्ध है। हरएक का घर उसकी अपनी गज़नी है...।

गाडियों के पहिये कोलतार की सड़कों पर घिसते जाते हैं। सप्रू हाउस से विज्ञान भवन, विज्ञान भवन से अशोका, अशोका से चेम्सफ़ोर्ड क्लब, चेम्सफ़ोर्ड क्लब से लाल किला...।

कनॉट सर्कस के बरामदों में एक चुलबुली भीड़ इधर से उधर जाती नज़र आती है। कई रंग एक साथ आँखों के सामने बिखरते और एक बहाव में बहते चले जाते हैं। चुस्त कपड़ों में किसी का गदराया हुआ शरीर सँभाले नहीं सँभलता और बाहर को बिखर-बिखर जाना चाहता है। किसी की लम्बी-लम्बी उँगलियाँ आसपास की सारी भीड़ को जैसे सहलाती हुई चलती हैं। बस के पीछे दौड़ते हुए एक बाबू की रेज़गारी बिखर जाती है और वह शर्मिन्दा होकर उसे उठाने लगता है। चालीस की रफ़्तार से आता हुआ फटफटिया उसे बस इंच-भर बचाकर निकल जाता है। बस-स्टॉप पर एक और बस आ जाती है। बाबू को अपनी रेज़गारी में से एक चवन्नी नहीं मिल रही। वह अपनी चवन्नी भी ढूँढना चाहता है और क्यू में अपनी जगह भी बनाये रखना चाहता है...।

फुटपाथ की भीड़ में सहसा कोई परिचित मगर भूला हुआ चेहरा सामने पड़ जाता है। हम दोनों के चेहरों पर एक अर्थहीन मुसकान आ जाती है, जैसे पहचानना न चाहते हुए भी हमें एक-दूसरे को पहचानना पड़ रहा हो।

"आजकल दिल्ली में ही हो?"

"हाँ।"

"तुम तो लखनऊ में थे?"

"हाँ, कभी था। अब साल-भर से दिल्ली में ही हूँ।"

"अच्छा! मैं समझता था कि तुम अब तक लखनऊ में ही हो। आजकल क्या हो रहा है?"

"बस वक़्त कट रहा है।"

"आजकल वक़्त कट जाए, वही बहुत है। अच्छा...!" और वह परमहंस निर्लिप्त भाव से हाथ बढ़ा देता है, "कभी मेरे लायक कोई काम हो, तो बताना। मैं आजकल एक्साइज में हूँ। कभी स्कॉच-ऑच की ज़रूरत पड़े, या और कोई काम हो...।"

"कभी ज़रूरत होगी तो बताऊँगा।"

"अच्छा...!" और वह जल्दी-जल्दी सड़क पार करके चला जाता है। सड़क के पार पहुँचने तक शायद उसे मेरे अस्तित्व की याद भी नहीं रहती।

कॉफ़ी-हाउस परमहंसों का अड्डा है। वहाँ दाख़िल होते ही कई-एक जमघटों पर एक साथ नज़र पड़ती है। एक जमघट में पत्रकार लोग बैठते हैं। उनमें स्कूप, स्कैंडल और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बातें चलती हैं। दूसरे जमघट में कुछ ऐसे लोग हैं जिनमें आधारभूत साम्य एक ही है और वह यह कि वे शाम को कॉफ़ी-हाउस में इकट्ठे होते हैं। इनमें सुन्दर जुनेजा विटा-रोज़ की कम्पनी का डिस्ट्रीब्यूशन इन्चार्ज है। श्याम मलहोत्रा लाइफ़ इंश्योरेंस का एजेंट है। जयदेव उर्फ़ 'गन्दा इंजन' सेनीटेशन के महकमे में नौकर है। भद्रसेन मकानों और ज़मीनों की दलाली करता है। चौधरी

कई काम करता है—टेंडर देकर सरकार को माल सप्लाई करता है, फ़ौलाद और कोयले का कोटा लेकर ब्लैक मार्केट में बेचता है, मोटरों का बीमा करता है और पासपोर्टों के सम्बन्ध में हर तरह की जानकारी रखता है। ये लोग हर रोज़ एक जगह बैठकर यही बातें करते हैं जो इन्होंने इससे पहले दिन की थीं, या उससे पहले दिन की थीं। मल्होत्रा एक कुहनी मेज़ पर रखे तिरछी नज़र से आने-जानेवालों को देखता हुआ अपने साथियों को साहिर लुधियानवी या फ़ैज की नज़्में सुनाता है।

"कहता है कि...

तुम नाहक टुकड़े चुन-चुनकर

तुम...नाहक टुकड़े चुन-चुनकर

दामन में छिपाये बैठे हो।

और कि—

शीशों का मसीहा कोई नहीं,

शीशों का...मसीहा...कोई नहीं...

क्यों आस लगाये बैठे हो?"

उसके दोस्त इस तरह वाह-वाह करते हैं जैसे वह रचना उसकी अपनी हो। मलहोत्रा का अन्दाज़ तिरछे से और तिरछा होता जाता है और उसकी आवाज़ की गहराई बढ़ती जाती है। जब बात जयदेव उर्फ़ 'गन्दे इंजन' पर आती है, तो वह अपनी पतली-पतली मूँछों पर ताव देता हुआ अपने नाम और धन्धे के अनुकूल चीज़ सुनाने लगता है : 'छल्ला सावी सीटी, ओ छल्ला सावी सीटी...।" मोटा भद्रसेन अपनी आँखें बन्द करता है और खोलता है, खोलता है और बन्द करता है। उसका भरा हुआ गोल चेहरा हँसी से और गोल होने लगता है तो वह कहता है, "यह साला 'गन्दा इंजन' आज भी वैसा ही है जैसा लाहौर में था। इसमें तेरह साल में ज़रा भी फ़र्क़ नहीं आया। इसकी ज़बान आज भी उतनी ही गन्दी और उतनी ही मीठी है।" सुन्दर जुनेजा केवल हँसे जाता है। उससे पूछा जाए कि वह क्यों हँस रहा है, तो वह और हँसता है और चुप कर जाता है। चौधरी समझदारी के साथ मुसकराता है और घड़ी की तरफ़ देख लेता है। वह इस तरह उन लोगों के बीच बैठता है जैसे उसकी जगह उनके साथ न होकर कहीं और हो और उसे मजबूर होकर उनके साथ बैठना पड़ रहा हो। कॉफ़ी-हाउस से बाहर निकलकर वे पान खाते हैं और घंटा-भर सामने अहाते में खड़े होकर फिर वही बातें करते हैं। सुन्दर जुनेजा वहीं पर उनसे अलग हो जाता है। बाकी चारों चौधरी के घर जाकर शराब पीते हैं, उन्हीं बातों को फिर दोहराते हैं और अगले दिन फिर कॉफ़ी-हाउस में मिलने का कार्यक्रम बनाकर अपने-अपने घर चले जाते हैं। सबके चले जाने के बाद चौधरी अपने नौकर पर खफ़ा होता है और उसे गालियाँ देता हुआ यह तय करके सो जाता है कि आने वाले कल से वह अपने घर में यह मजलिस इकट्ठी नहीं होने देगा।

कॉफ़ी-हाउस का तीसरा जमघट वहाँ का आर्ट सर्कल है। यह वहाँ का सबसे आकर्षक और लोकप्रिय सर्कल है। इनकी बैठक फ़ेमिली-केबिन्स में से किसी एक में जमती है। इनमें कुछ रंगमंच के निर्देशक हैं, कुछ पुराने अनुभवी कलाकार हैं, दो-एक नाटककार हैं, एकाध नाट्य-समीक्षक है, कुछ नये एमेच्योर आर्टिस्ट हैं और दो-एक ऐसी लड़कियाँ हैं जो अभिनय के दिनों में टिकट बेचती हैं और ब्रोश्योर बाँटती हैं। इसमें बातचीत रंगमंच सम्बन्धी गम्भीर समस्याओं को लेकर होती

है। भारत में और विशेष रूप से नयी दिल्ली में, व्यावसायिक रंगमंच का भविष्य क्या है? व्यावसायिक रंगमंच की रूपरेखा क्या होनी चाहिए? क्या लोकप्रिय रंगमंच ही व्यावसायिक रंगमंच हो सकता है? क्या साहित्यिक रंगमंच को भी व्यावसायिक आधार पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है? रंगमंच की प्रगति के लिए सरकारी सहायता कहाँ तक अपेक्षित है? सरकार कर देश-भर में नयी रंगशालाएँ स्थापित करने का कार्यक्रम रंगमंच की प्रगति में कहाँ तक सहायक सिद्ध होगा? हमारी जनता क्या चाहती है? हम जनता को क्या देना चाहते हैं? क्या भविष्य का रंगमंच सर्वथा प्रतीकात्मक होगा? नाटक में नृत्य और संगीत का क्या स्थान होना चाहिए? संगीत रूपक की अपने में क्या सम्भावनाएँ हैं?

बातचीत इन विषयों से आरम्भ होकर अधिक ठोस विषयों पर उतर आती है। 'विक्रमोर्वशीय' में लाइट और सेट्स के सिवाय क्या था! 'चन्द्रगुप्त' में चन्द्रगुप्त कितना भौंडा लगता था! चाणक्य के उच्चारण में कितनी पंजाबियत थी! 'ललित माधव' की राधा राधा न लगकर क्या मेनका नहीं लगती थी। उसमें सिवा सेक्स अपील के था ही क्या? 'रंगदार शीशे' में ड्राइंग-रूम का वातावरण कितना स्वाभाविक था! कितना अच्छा होता अगर उस ड्राइंग-रूम में चरित्रों को प्रवेश करने की इजाज़त न दी जाती! वे सब के सब क्या सब्जी मंडी से उठाकर लाये गये नहीं लगते थे? 'रूपसी' में शची का नृत्य कितनी ग़लत जगह पर रखा गया था? 'मुग़ल दरबार' क्या मुग़ल दरबार था? उसमें क्या मुग़लकालीन वातावरण का ज़रा भी टच था? ऐसे नहीं लगता था जैसे वह भेड़ों का तबेला हो जहाँ कई-कई भेड़ें एक साथ मिमिया रही हों। इस तरह के अभिनयों से क्या रंगमंच की प्रगति हो रही है? 'वेणी संहार' का दुर्योधन देखा था? वह क्या ऐसे नहीं बोलता था जैसे कोई मंजन बेचनेवाला अपने मंजन का इश्तहार कर रहा हो?

“साहब, हद हो गयी!” नाट्य-समीक्षक सोमेन्द्र बार-बार अपने माथे पर हाथ मार लेता है। 'वेणी संहार' वालों ने तो अच्छी भाँडों की मंडली इकट्ठी कर रखी थी। किसी को इतनी भी समझ नहीं थी कि स्टेज पर उसे हिलना-डुलना किस तरह चाहिए। ऐसे लगता था जैसे नाटक से कुछ ही देर पहले सब लोग चवन्नी-चवन्नी देकर बाहर से इकट्ठे कर लिये गये हों। स्टेज-कवरेज का उन्हें एक ही अर्थ आता था कि हाथ-पैर पटकते हुए इस तरफ़ से उस तरफ़ चले जाएँ और उस तरफ़ से इस तरफ़ चले आयें। कभी दसों आदमी इस कोने में जमा हो रहे हैं और कभी सब के सब बीच की तरफ़ कूच कर रहे हैं। मुझे तो कई बार लगता था कि मैं असली थियेटर न देखकर मॉक-थियेटर देख रहा हूँ। वैसे तो बहुत-बहुत भौंडे नाटक देखे हैं, मगर इतना भौंडा नाटक आज तक नहीं देखा।”

“ 'अलकापुरी' में वह नारद कौन बना था?” शैलबाला कहती है। वह स्वयं दो नाटक प्रोड्यूस कर चुकी है और नाटकों की चर्चा करते समय उसे हमेशा उनकी याद हो आती है। “मेरे किसी नाटक में वह होता, तो मैं पहले ही दिन उसे चुटिया से पकड़कर रिहर्सल रूम से बाहर निकाल देती। जिन लोगों का असली काम है कि बनिये की दुकान पर बैठकर अनाज तोलें, वे भी एक्टर बनकर रंगमंच पर चले आते हैं। यह रंगमंच के साथ बलात्कार नहीं तो क्या है? मैं तो कहती हूँ कि ऐसे लोगों पर भी वही दफ़ा लागू होनी चाहिए जो दूसरे बलात्कार करनेवाले लोगों पर लागू होती है। ये लोग बल्कि और बुरे क्रिमिनल हैं। कला की पवित्रता...मैं कहती हूँ...एक स्त्री की पवित्रता से कहीं बड़ी और महत्त्वपूर्ण चीज़ है!”

“आराम से शैल, आराम से, इतने ज़ोर से नहीं,” निर्देशक ज़हीर उसका कन्धा थपथपा देता है। “लोग सुनेंगे, तो क्या कहेंगे?” इस पर सब लोग ज़ोर से ठहाका लगाते हैं। शैल कुछ झेंप जाती है और झेंप मिटाने के लिए ज़हीर की बाँह पर मुक्के मारने लगती है, “तुम तो ज़हीर इतने बुरे आदमी हो कि तुम्हारे साथ बैठकर बात करना गुनाह है। तुम सीरियस बातचीत में भी अपनी हरकतों से बाज़ नहीं आते।”

“मैंने सिर्फ़ तुम्हें चेतावनी दी है और क्या कहा है?” ज़हीर कहता है, “मैं तुम्हारा खैरख्वाह हूँ और तुम्हारी इज़्ज़त का ख़याल रखना मेरा फ़र्ज़ है। मैं जानता हूँ कि तुम जो बात कह रही थीं, बहुत भोलेपन से कह रही थीं, मगर...सुननेवाले तो सब तुम्हारी तरह भोले नहीं हैं।”

सब लोग फिर ठहाका लगाते हैं, तो शैल भी साथ हँस देती है और कहती है, “मैं ज़हीर, आज से तुमसे बात भी नहीं करूँगी। तुम्हें मेरा नहीं, तो इन छोटी-छोटी लड़कियों का तो लिहाज करना चाहिए जो न जाने मन में क्या-क्या विचार लेकर हमसे मिलने आती हैं! इन बेचारियों के दिमाग़ क्यों स्पॉयल करते हो?”

छोटी लड़कियाँ, अर्थात् मीना और सुदर्शन, जो रंगमंच के शौक़ से नयी-नयी उस सर्कल में आने लगी हैं, थोड़ा शरमाकर एक-दूसरी की तरफ़ देखती हैं और नज़रें झुका लेती हैं। नाटककार सुखवन्त जो हर चौथे महीने विदेश-यात्रा के लिए जाता है और विदेशी कला और संस्कृति के सम्बन्ध में बहुत अधिकार के साथ बात करता है, काफ़ी गम्भीर होकर कहता है, “इन लड़कियों के कॉम्प्लेक्स अगर दूर नहीं होंगे शैल, तो ये कुछ भी नहीं कर सकेंगी। इनमें लाइफ़ आनी चाहिए लाइफ़! और वह लाइफ़ इनमें कैसे आ सकती है? खूब खुलकर रहने और लोगों में घुल-मिलकर जीने से। अगर वह लाइफ़ इनमें नहीं होगी, तो ये सच्ची कलाकार नहीं बन सकेंगी। तुम ऐसी बात कहकर इनके मन में कॉम्प्लेक्स डाल रही हो। तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। ये लड़कियाँ अगर पैरिस, मैड्रिड या लन्दन में होतीं, तो इस ज़रा-सी बात से आँखें झुकाकर न बैठ जातीं। जो लड़कियाँ इतनी ज़रा-सी बात पर अपनी आँखें सीधी नहीं रख सकतीं, वे रंगमंच पर आकर क्या करेंगी? तुम्हें इनके लिए ऐसी बात कभी नहीं कहनी चाहिए!”

सुखवन्त के उपदेश से शैल कुछ फीकी पड़ जाती है। लड़कियाँ चेष्टा करके अपनी झुकी हुई आँखें ऊपर उठा लेती हैं और ज़हीर सुखवन्त की पीठ ठोककर कहता है, “शाबाश सुखवन्त! तुमने खूब मेरी वकालत की! तुम वकालत न करते, तो इन लड़कियों के साथ मेरी भी आँखें शरम से झुक जातीं।”

“आँखें झुकाकर रखना हिन्दुस्तानी लड़कियों के लिए शरम की बात नहीं है, फ़ख्र की बात है।” शैल फिर कहती है, “तुम्हें पैरिस और मैड्रिड की लड़कियों पर नाज़ है, तो मुझे अपनी इन हिन्दुस्तानी लड़कियों पर नाज़ है। मैं कभी नहीं चाहूँगी कि ये लड़कियाँ भी उन लड़कियों की तरह बेशरम हो जाएँ।”

इस पर मीना और सुदर्शन कुछ असमंजस में पड़कर एक-दूसरी की तरफ़ देखती हैं। उन्हें समझ नहीं आता कि उन्होंने अपनी झुकी हुई आँखों को उठाकर अच्छा किया है या बुरा किया है। सुखवन्त अपनी दोनों कुहनियों पर झुककर शैल की बात के उत्तर में अपना उपदेश आगे आरम्भ कर देता है और उस उपदेश में इतने उद्धरण और अपनी विदेश-यात्राओं के इतने संस्मरण शामिल कर देता है कि अन्त तक फिर और किसी को बोलने का अवकाश नहीं मिलता।

पीछे की तरफ़ एक जमघट में कुछ लेखक, कवि और आलोचक बैठते हैं। इनकी बातचीत का सम्बन्ध प्राय: नये साहित्य से होता है। नयी कविता के माने क्या हैं? नयी कहानी कहाँ तक 'नयी' कही जा सकती है? 'नयी' की परिभाषा क्या है? किसकी नयी कहानी कम 'नयी' है और किसी ज़्यादा 'नयी'? किसने किसकी रचना के सम्बन्ध में कहाँ क्या लिखा है? उस लेखक की ओर से उसका क्या उत्तर आया है? इस महीने किस-किस नयी पुस्तक का विज्ञापन निकला है?

विज्ञापनों से हटकर बात नयी कांशसनेस पर आ जाती है। आज के साहित्य में नयी कांशसनेस का प्रतिनिधित्व कहाँ तक हो रहा है? अन्य कलाओं की नयी कांशसनेस से साहित्य क्या अछूता रह सकता है? किन-किन लेखकों में वास्तविक नयी कांशसनेस के लक्षण विद्यमान हैं और किन-किन

में नहीं हैं? किन-किन की नयी कांशसनेस वास्तविक है और किन-किनकी सिर्फ़ बाहरी है? कौन लोग नयी कांशसनेस का जामा ओढ़कर भी पुरानी कांशसनेस को ही अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त कर रहे हैं? एक नयी सैंसिटिविटी किस तरह नयी कांशसनेस की अनिवार्य शर्त है?

इनमें कलकत्ता से आया हुआ जनक सुखाडिय़ा अकेला आदमी है जो कवि, लेखक या आलोचक नहीं है। वह ऐसा विरक्त जीव है कि कॉफ़ी-हाउस में बैठकर भी कॉफ़ी नहीं पीता। उनकी आँखें हर समय लाल रहती हैं, जाने अनिद्रा के कारण या ऐसे ही; दाढ़ी दो-दो ह$फ्ते की बढ़ी होती है और सिर के बाल लगभग खड़े रहते हैं। वह बहुत गम्भीर होकर ये बातें सुनता है। सुनते हुए उसके चेहरे का भाव ऐसा हो जाता है जैसे उसकी आँखों के सामने उसे धोखा दिया जा रहा हो। जब उससे नहीं सहा जाता, तो वह बीच में बोल पड़ता है, 'च् च् च्! मेरी समझ में नहीं आता कि यह नयी कांशसनेस किस चिडिय़ा का नाम है! दुनिया को धोखा देने के लिए लोग नये-नये फ़ैशन निकाल लेते हैं और यह नयी कांशसनेस आज का फ़ैशन है और कुछ नहीं। नयी कांशसनेस! हँ! अगर वास्तव में ही लोगों की रचनाओं में कोई नयी कांशसनेस है, तो उन्हें पढ़कर उसका पता क्यों नहीं चलता? ज़्यादातर रचनाएँ तो ऐसी होती हैं कि मुझसे पढ़ी भी नहीं जातीं। क्या यही उनकी नयी कांशसनेस का सबूत है?”

लोग जनक सुखाडिय़ा की बातों को गम्भीरतापूर्वक नहीं लेना चाहते मगर उनसे कुछ अस्थिर ज़रूर हो जाते हैं। उसकी बातें इस तरह होती हैं जैसे चलते अभिनय में सहसा कोई व्यक्ति नेपथ्य में मंच पर चला आये और वहाँ पर खड़े चरित्रों को कन्धे से पकड़कर कहने लगे कि बालकराम, सुखराम सेठी और चन्द्रकला, तुम लोग अपने को कण्व, दुष्यन्त और शकुन्तला कहकर लोगों को धोखा क्यों दे रहे हो? क्या तुम लोग सच्चे दिल से कह सकते हो कि तुम बालकराम, सुखराम सेठी और चन्द्रकला भार्गव नहीं हो? तुम अपनी दाढ़ी-मूँछ और मेकअप उतार दो, तो लोगों को पता चल जाए कि असल में तुम लोग कौन हो। लोग क्या इतने अन्धे हैं कि तुम्हें कण्व, दुष्यन्त और शकुन्तला मान लेंगे? कवि, कहानीकार और आलोचक सुखाडिय़ा की बातों से कुछ क्षुब्ध हो उठते हैं। उसे नेपथ्य से मंच पर आने का अधिकार किसने दिया है? क्या वह उनके साथ अपनी मित्रता का अनुचित लाभ नहीं उठाता? कल का छोकरा...उसे नयी कांशसनेस का पता ही क्या है? जब बात और आगे बढ़ती है, तो सुखाडिय़ा के लिए वहाँ बैठना असम्भव हो जाता है। 'सब बकवास है,' वह कहता है और सहसा उठकर चल देता है। उसके चले जाने से बातचीत में एक अस्वाभाविक गतिरोध आ जाता है। कवि-कहानीकार ब्रजेन्द्र खन्ना कहता है, “यह आदमी एक झपट्टे से सबके न$काब उठा देता है और उठकर चला जाता है। मुझे यह आदमी अच्छा लगता है।”

“इस आदमी का दृष्टिकोण नेगेटिव है, वैसे आदमी अच्छा है और समझदार भी है।” कवि श्रीनिवास तटस्थ भाव से कहता है।

“नेगेटिव हो या जो हो, वह बात ठीक कहता है।”

“तो तुम भी समझते हो कि नयी कांशसनेस कोई चीज़ नहीं है?” उसमें और श्रीनिवास में झड़प हो जाती है।

“मैं तो समझता हूँ कि नयी कांशसनेस हो या पुरानी, सब बेकार है।”

“तब तो तुम साहित्य को भी बेकार चीज़ मानोगे!”

“उसमें मानने न मानने को क्या है? उसमें रखा ही क्या है?”

“इसका मतलब है कि तुम्हारे लिए ज़िन्दगी का भी कोई अर्थ नहीं है!”

“ज़िन्दगी का अर्थ!” खन्ना हँस देता है, “यह मैं नयी बात सुन रहा हूँ कि ज़िन्दगी में कुछ अर्थ भी

है।”

“तुम्हारा दृष्टिकोण ध्वंसात्मक है।”

“होगा। मैं नहीं जानता।”

“अगर ऐसी ही बात है, तो तुम स्वयं क्यों लिखते हो?”

“यह मुझे क्या पता है कि मैं क्यों लिखता हूँ? लिखने को मन होता है, इसलिए लिख देता हूँ।”

"लेकिन मन क्यों होता है?"

खन्ना कन्धे हिला देता है, "शायद इसलिए कि और किसी तरह मुझसे वक़्त नहीं कटता।"

"वक़्त काटने के लिए तो आदमी कुछ भी कर सकता है।"

"जैसे?"

"जैसे क्या? आदमी कुछ भी कर सकता है; ताश खेल सकता है, गप कर सकता है, और भी कितने फ़िजूल के काम कर सकता है।"

"तो इसकी बजाय बैठकर कुछ लिख ही लिया जाए, तो उसमें क्या बुराई है?"

"लिखकर तुम अपना ही नहीं, पढ़नेवालों का भी तो वक़्त बरबाद करते हो।"

"तो उसमें क्या बुराई है? उनका भी कुछ वक़्त कट जाता है।"

"तुम सैडिस्ट हो।"

"तुम जो भी कह लो। मुझे जनक सुखाडिय़ा की बातें बहुत अच्छी लगती हैं।"

"तुम ज़िन्दगी में कुछ नहीं कर सकोगे।"

"इससे भी क्या फ़र्क पड़ता है! जो लोग कुछ कर लेंगे, वही क्या कर लेंगे?"

और यह बात तब तक चलती रहती है जब तक उनमें से कोई घड़ी देखकर उठने का प्रस्ताव नहीं कर देता।

इन सब जमघटों से हटकर कला-समीक्षक गजानन बिल्कुल अकेला बैठता है। उसे शायद लगता है कि दूसरे लोगों के साथ बैठने से उसका सफ़ेद कोट कुछ मैला हो जाएगा। उसे अपनी टाई की गाँठ का भी बहुत ध्यान रहता है और वह उसे हर समय सहलाता रहता है कि कहीं बैठे-बैठे वह ढीली न पड़ गयी हो। जो लोग उसके साथ घनिष्ठता रखना चाहते हैं, उनकी तरफ़ से वह प्राय: उदासीन रहता है और उन्हीं से बात करना पसन्द करता है जो उसकी घनिष्ठता से बचते हैं। वह जानता है कि अकेलेपन में एक विशिष्टता रहती है जो व्यक्ति को थोड़ा रहस्यमय बना देती है और कि लोग इस रहस्यमयता का सम्मान करते हैं। उसकी समीक्षाएँ यदि वे प्रशंसात्मक न हों, तो बहुत कटु और निर्मम होती हैं, इसलिए लोग उससे घबराते हैं और वह घबराहट भी एक तरह के सम्मान का रूप ले लेती है। इस क्षेत्र में सबसे पुराना खिलाड़ी वही है। उसे कलाकारों को उठाते और गिराते बीस साल हो चुके हैं। जब वह मुँह से बात नहीं करता और केवल सिगरेट का धुआँ छोड़ता है, तो वह धुआँ भी एक समीक्षात्मक अन्दाज़ में हिलता है। उस धुएँ की गोलाइयों से भी कई बार लोग उसके मत का अनुमान लगा लेते हैं।

"अकेले?" मैं उसके पास से गुज़रते हुए कहता हूँ।

"हाँ, हमेशा की तरह," वह अपने सिगरेट के धुएँ को देखता हुआ कहता है, "आओ, बैठो।"

"मेरे पास बैठने से तुम्हारे अकेलेपन में खलल नहीं पड़ेगा?"

वह मेरा हाथ पकड़कर मुझे अपने पास बिठा लेता है। "मुझे पता है, तुम मेरे पास बैठकर प्रोफ़ेशनल बातें नहीं करोगे।" वह कहता है, "वैसे आदमी जब अकेला रहना चाहे, तो सैकड़ों आदमियों के बीच बैठकर भी अकेला रह सकता है। नहीं?"

“तुम्हारे जैसा आदमी ज़रूर रह सकता है।”

“इसका मतलब है कि तुम्हारी भी मेरे बारे में वही राय है जो और सब लोगों की है।”

“तुम्हारी सफलता का रहस्य भी तो शायद यही है।” मैं कहता हूँ, “इधर मैं हूँ कि अपने सम्पादक को कभी खुश ही नहीं कर पाता।”

“यह लक्षण तो बुरा नहीं है।” वह कहता है, “मैंने बीस साल में पाँच सम्पादकों के नीचे काम किया है और आज तक उनमें से एक भी मुझसे $खुश नहीं रहा।”

“तो क्या ख़याल है कि एक दिन हम दोनों एक-एक टिप्पणी अपने सम्पादकों पर लिखें...?”

“इस तरह लिखने की बात हो, तो मैं न जाने किस-किस पर टिप्पणी लिखना चाहूँगा।” वह हँसकर कहता है, “हर दूसरा आदमी जिससे मैं मिलता हूँ, उस पर मेरा मन होगा कि एक टिप्पणी लिख दूँ। मैं जिससे भी मिलता हूँ लगता है वह एक छीना-झपटी में पड़ा है। लोगों ने इसे एक सुन्दर-सा नाम भी दे रखा है, 'व्यक्तिगत सुख की खोज'। वह सुख की खोज क्या है? झूठ बोलो, काम से बचो, जैसे भी हो पैसा जमा करो और अधिकार पाने के लिए कुछ भी कुरबान कर दो। इस नैतिकता का एक बना-बनाया शास्त्र है जो कोई किसी को नहीं पढ़ाता, फिर भी सब लोग उसके पंडित हैं। और यह शास्त्र कहता है कि अपने अलावा हरएक को हीन समझो, हरएक को अविश्वास की नज़र से देखो, खुद झूठ बोलो और दूसरों के झूठ पर नाक-भौं चढ़ाओ, कोई तुमसे मूल्यों की बात करे, तो कन्धे हिलाकर मुँह बिचका दो और एक ही विश्वास लेकर जियो कि बड़े लोगों से मिल-जुलकर और अपने सहयोगियों को बेवकूफ़ बनाकर तुम्हें अपना उल्लू सीधा करना है। सरकार से अपने काम निकालो और दोस्तों में बैठकर सरकार की निन्दा करो। अगर तुम्हारा सम्बन्ध इंटलेक्चुअल वर्ग से है, तो बड़ी-बड़ी डींगें मारो, विदेश में जाकर रहने के सपने देखो और अपने ओछे स्वार्थों को सिद्धान्त और दर्शन का रूप दे लो। और इस सबसे प्राप्त होनेवाला व्यक्तिगत सुख क्या है? सोशल स्टेटस।”

“मुझे नहीं पता था कि आज तुम सारी दुनिया से ही कुढ़े हुए बैठे हो।” मैं कहता हूँ, “लगता है दो-एक दिन से तुमने किसी नृत्य या नाटक पर टिप्पणी नहीं लिखी।”

इस पर वह फिर हँस पड़ता है, “सच पूछो, तो अब मेरा नृत्यों और नाटकों पर टिप्पणियाँ लिखने को मन नहीं होता। आज तक जिन-जिन लोगों की मैंने प्रशंसा की है, वे सब मेरे प्रतिद्वन्द्वी हैं और जिन-जिन लोगों की मैंने निन्दा की है, वे सब आज मेरे दुश्मन हैं।”

वह और भी बात करना चाहता है, मगर मैं जल्दी ही उससे विदा ले लेता हूँ। उसके पास से उठकर चलते हुए अचानक मेरी एक उर्दू शायर से मुठभेड़ हो जाती है। वह शराब के नशे में झूमता हुआ मेरे पास से गुज़र जाता है, मगर दो क़दम जाकर मुझे पीछे से आवाज़ दे देता है, “मधुसूदन भाई, ज़रा बात सुनना...।” मैं रुककर उसकी तरफ़ देखता हूँ, तो वह पास आकर मेरे दोनों कन्धों पर हाथ रख देता है। “देखो, मैं हिन्दी की एक किताब पढ़ रहा था,” वह कहता है।

“तो...?”

“उसमें एक बात लिखी थी...।”

“क्या?”

“उसमें लिखा था कि...मगर आओ, बैठकर बात करें। मैं यह बात तुमसे अच्छी तरह समझना चाहता हूँ।”

हम लोग बैठ जाते हैं, तो वह कहता है,..."उस किताब में लिखा था कि भारतमाता गाँवों में रहती है।"

"मगर तुम मुझसे क्या बात समझना चाहते थे?"

"मैं तुमसे यह जानना चाहता था कि भारतमाता क्या हमेशा गाँवों में ही रहती है, और दिल्ली कभी नहीं आती...?"

मैं उसकी बात पर हँस देता हूँ, तो वह कहता है, "देखो, हँसने की बात नहीं। मैंने जब से यह बात पढ़ी है तभी से सोच रहा हूँ कि भारतमाता गाँवों में ही क्यों रहती है! क्या वह कभी दिल्ली आयी ही नहीं, या दिल्ली की हवा रास न आने से वापस गाँवों में चली गयी है? और अगर भारतमाता राजधानी में नहीं रहती, तो जो यहाँ रहती है, वह कौन है? वह क्या भारत की सौतेली माँ है? वह जो बुड्ढा राजपूत है...," और वह दीवार पर लगे पोस्टर की तरफ़ इशारा करता है, "उसकी माँ कहाँ रहती है? क्या वह अपने बेटे को कभी चिट्ठी नहीं लिखती कि मुझे अपने पास दिल्ली बुला लो? मेरी माँ की तो मेरे पास हर आठवें दिन चिट्ठी आती है...।" और वह उसी लहजे में बात किये जाता है। मेरी आँखें कुछ देर दीवार पर लगे पोस्टर पर टिकी रहती हैं। झाग जैसी दाढ़ीवाले बुड्ढे राजपूत का चेहरा और गरम कॉफ़ी की एक प्याली! साथ दिया हुआ शीर्षक 'यह सुन्दर कॉफ़ी और यह सुन्दर चेहरा दोनों भारतीय हैं।' फिर मैं अपने शायर दोस्त के चेहरे की तरफ़ देखता हूँ। क्या यह सुन्दर चेहरा भी भारतीय नहीं?

कॉफ़ी-हाउस का शीशे का दरवाज़ा बार-बार खुलता और बन्द होता है। कुछ लोग इस तरह अन्दर आते हैं जैसे वहाँ किसी अभियुक्त की तलाश कर रहे हों। आकर दो-एक जगह ठिठककर चारों तरफ़ देखते हैं और जब कहीं से भी कोई परिचित हाथ हिलाता नज़र नहीं आता, तो निराश होकर लौट जाते हैं। सिगरेटों के धुएँ में चीनी की प्यालियों और काँच के गिलासों के रखने-उठाने की आवाज़ पृष्ठभूमि के संगीत की तरह चलती रहती है। हर नये व्यक्ति के आने के साथ कुरसियों की व्यवस्था बदल जाती है। इधर की कुरसियाँ उधर घिसट जाती हैं और उधर की कुरसियाँ कहीं और आगे चली जाती हैं। "मे आई...?" और बिना दूसरे की हाँ या ना की प्रतीक्षा किये कुरसी उठा ली जाती है। कहीं से एक क़हक़हा उठता है, कोई कुरसी सहसा अपनी कुरसी से आ टकराती है, कहीं चम्मच और छुरी-काँटे झनझनाते हैं, और कहीं कोई गिलास सहसा गिरकर टूट जाता है जिससे उफनते हुए शोर में पल-भर के लिए एक विराम आ जाता है।

'यह सुन्दर कॉफ़ी और सुन्दर चेहरा दोनों भारतीय हैं!'

शीशे का दरवाज़ा खुलता है और हरबंस नाक की सीध में देखता हुआ अन्दर दाख़िल होता है। वह दूर से ही थका हुआ और खोया-सा नज़र आता है। उसके आगे को झुके हुए कन्धे और कनपटियों के सफ़ेद बाल भी ये कहते-से लगते हैं कि हम परेशान हैं, हमसे बात मत करो। वह आसपास बैठे हुए लोगों पर एक उड़ती हुई नज़र डालकर एक केबिन में चला जाता है। मैं भी अपनी जगह से उठता हूँ और उसके पास उसके केबिन में चला जाता हूँ। थोड़ी देर में नीलिमा भी अरुण के साथ वहाँ आ जाती है। उसके साथ बम्बई के एक साप्ताहिक का विशेष प्रतिनिधि भुवन शर्मा भी है। नानावती कांड की रिपोर्टों के कारण उसकी बहुत ख्याति हुई है। वह दिल्ली में कुछ राजनीतिज्ञों के विशेष इंटरव्यू लेने के लिए आया है। उसे अपने पत्र में तीसरी पंचवर्षीय योजना पर विशेष लेख देना है। वह बहुत व्यस्त है, बड़ी मुश्किल से समय निकालकर आया है। हरबंस बताता है कि वह जिन दिनों लन्दन में था, उन दिनों भुवन भी वहीं था और उन लोगों की मित्रता वहीं से हुई है। वह उसे भुवनभाई कहकर बुलाता है। भुवनभाई एक संरक्षक की तरह बाँहें फैलाकर बात करता है।

"आज कोई भी काम असम्भव नहीं है।" वह कहता है, "सिर्फ़ दो चीज़ों की ज़रूरत है—एक टैक्ट की और दूसरे कांटैक्ट की। टैक्ट तुम इस्तेमाल करो, कांटैक्ट तुम जिससे चाहो, तुम्हारा मैं बना

देता हूँ। और अगर तुम सोचो कि इन चीज़ों के बिना तुम लोग कुछ कर सकते हो, तो नामुमकिन बात है।"

"यह तो सरकस के अन्दर करतब करने की तरह है।" हरबंस कहता है, "कला का अपना कोई मूल्य नहीं, मूल्य है तो इस बात का कि आप कुछ साधन-सम्पन्न लोगों के इशारे पर चलते हैं या नहीं।"

"आज ज़िन्दगी का सारा ढाँचा ही इस तरह का है।" भुवनभाई की बाँहें और फैल जाती हैं, "इसमें हम और तुम क्या कर सकते हैं? आज वह ज़माना नहीं है जब योग्यता, मेहनत और ईमानदारी का कोई मूल्य था। आज की ज़िन्दगी में ये सब शब्द पुराने पड़ गये हैं। जिसके हाथ में साधन हैं, वह दूसरों को अपने ढंग से नचा सकता है। तब आपको उसके चाबुक का भी सम्मान करना होगा। आप चाबुक खाकर भी उसके आगे दुम हिला सकते हैं और उसके बताये हुए करतब कर सकते हैं, तो ठीक है। आपकी खुराक आपके लिए हाज़िर है। और अगर नहीं, तो आप भूखे रहिए। जंगल का रास्ता भी आपके लिए खुला नहीं है। यह कोई बरदाश्त नहीं करेगा कि आपके लिए जो पिंजरा बनाने में इतना ख़र्च किया गया है, आप अपनी मर$जी से उसमें से निकलकर चल दें। और अगर आप किसी तरह निकल भी जाएँ, तो जंगल में जाकर भी आपको पता चलेगा कि वहाँ की घास भी उन्हीं ठेकेदारों की ख़रीदी हुई है और आपको उसमें मुँह मारने का हक नहीं है। तब आप झख मारकर पिंजरे में लौट आएँगे और वही घास खाएँगे और वही करतब करेंगे। और कोई चारा ही नहीं है।"

हरबंस इस तरह गुर्राता है जैसे वह अपने सामने की घास को ठोकर मारना चाहता हो। "मैं इसीलिए इससे कहता हूँ कि यह घर में अभ्यास करती है, करती रहे।" वह कहता है, "मगर उसका प्रदर्शन करने के लिए यह मुझे इन सब झंझटों में क्यों घसीटना चाहती है? मैं यूरोप के दौरे में ही बहुत कुछ देख चुका हूँ। अब और देखना मेरी हिम्मत से बाहर की बात है।"

"इससे तो अच्छा है कि तुम कहो कि मैं हाथ-पैर बाँधकर कुएँ में जा पड़ूँ।" नीलिमा चिल्लाकर कहती है, "घर में अभ्यास करती रहूँ! और दीवारों पर लगी हुई गुडिय़ों और तसवीरों को दिखाती रहूँ! तुम यह जिस वजह से कहते हो, वह मैं जानती हूँ...।"

"मैं किसी वजह से नहीं कहता।" हरबंस उसी स्वर में उसका विरोध करता है, "मुझसे यह सरकस का खेल नहीं खेला जाता। आज इससे मिलो, कल उसकी पार्टी में जाओ। क्या हो रहा है? कांटैक्ट बन रहे हैं! किसलिए? कि हमें कोई अच्छा-सा ग्रुप स्पांसर कर दे, कि बड़ी-बड़ी जगहों पर हमारा ज़िक्र होने लगे, लोग हमें जानने लगें, और जब हमारा प्रदर्शन हो, तो वे वहाँ आकर वाहवाही करें; उनके पत्रों में हमारी प्रशंसा निकले, बड़े-बड़े घरों में हमारी दावतें हों। मैं इतने दिनों से कोशिश कर रहा हूँ, मगर मुझसे ये ची$जें निभती नहीं।"

"तो तुम कुछ मत करो। मुझे जो कुछ करना होगा, मैं आप कर लूँगी।" नीलिमा और तल्ख हो जाती है, "तुम मदद तो करोगे नहीं, मेरे रास्ते में रुकावटें ही डालोगे। मैं इतने दिनों से इसलिए अभ्यास नहीं कर रही कि घर का फ़र्श तोड़ती रहूँ।"

भुवनभाई मध्यस्थ की तरह हँसता है। "तुम लोग बच्चों की तरह आपस में लड़ते हो।" वह कहता है, "हरबंस यह बात भूल जाता है कि जो काम यह तुम्हारे लिए करने से कतराता है, वही काम इसे अपनी रो$जी के लिए करना पड़ता है। तो जहाँ दिन में चार बार नाक घिसानी पड़ती है, वहाँ दस बार सही। इससे नाक और मज़बूत ही होती है। क्यों भाई मधुसूदन?"

मैं तिरछे रास्ते से बात में से निकलने की कोशिश करता हूँ, "हो सकता है आप ठीक कहते हों। मुझे अभी आप जितना तजरबा नहीं है।"

"देखा, लोग बातचीत में भी कितनी सावधानी बरतते हैं?" भुवनभाई मेरे ऊपर पिल पड़ता है, "लोग आजकल दोस्तों में बैठकर भी इस तरह तौल-तौलकर बातें करतें हैं जैसे अदालत के कठघरे में खड़े होकर बयान दे रहे हों। जहाँ आपस में इतना सन्देह और विश्वास हो, वहाँ नाक को मज़बूत किये बिना काम कैसे चल सकता है? आपको जीना है और ठीक ढंग से जीना है, तो आपको बेशरमी का सबक पढना पड़ेगा। आपको अपना एक रैकेट बनाना पड़ेगा। अगर आपका कोई रैकेट नहीं है, तो समझ लीजिए कि आप बिना बुनियाद के खड़े हैं। जो चाहे आपको गिराकर आगे बढ़ सकता है। आप सफलता चाहते हैं, प्रसिद्धि चाहते हैं, पैसा चाहते हैं, तो अपना एक रैकेट बनाइए या नाक लम्बी करके किसी बड़े-से रैकेट में घुस जाइए। अगर आपका रैकेट मज़बूत है, तो लोग आपसे डरेंगे, आपकी इज़्ज़त करेंगे और आपके घटिया से घटिया काम में भी महत्ता के बीज खोज निकालेंगे। और आपका रैकेट नहीं है, तो आप चाहे जितनी कलाबाज़ियाँ दिखाइए, लोग उन्हें देखेंगे भी नहीं। और देखेंगे तो देखकर हँस देंगे। जो हँसेंगे नहीं, वे संरक्षकों की तरह आपको बताएँगे कि आपमें कहाँ क्या कमी है। वही काम जो इस समय मैं कर रहा हूँ...।" और वह हँसता है। नीलिमा भी हँसकर कहती है, "भुवनभाई बातें बहुत अच्छी करते हैं।"

"मैं सच बात कहता हूँ।" भुवनभाई कहता है, "तुम लोग आज नहीं तो कल समझोगे। मगर तब तक बा$जी तुम्हारे हाथ से निकल जाएगी और तुम सिर्फ़ मुँह देखने के लिए रह जाओगे। पिछले आठ-दस सालों में जितने लोगों का कुछ नाम हुआ है और जिनकी आज गिनती की जाती है, तुम उनमें से किसी एक को भी ले लो। हरएक का एक अपना रैकेट है। इनमें से कई रैकेट कुछ बड़ी-बड़ी संस्थाओं के हाथों में हैं। जिसका रैकेट जितना बड़ा है, वह आदमी भी उतना ही बड़ा है...। यह एक पुरानी कहावत है कि नहीं कि बड़े बनने के लिए बड़ों के क़दमों के निशान देखने चाहिए?"

एक व्यक्ति है जो इस बीच बिल्कुल गम्भीर बना रहता है—अरुण। वह चुपचाप अपना पनीर का सैंडविच चबाये जाता है। सहसा वह सैंडविच छोड़कर उठ खड़ा होता है। "ममी, मैं पान ले आऊँ?" वह कहता है, "अपने लिए भी लाऊँगा और बिनी के लिए भी।" और वह गर्व के साथ अपनी छोटी-सी जेब में हाथ डाले हुए बाहर चला जाता है।

कॉफ़ी-हाउस से निकलते हुए दरवाज़े के पास शुद्ध खादी का पाजामा-कुरता पहने एक युवक मेरा रास्ता रोक लेता है, "कहिए मधुसूदनजी, क्या हाल-चाल हैं?" वह बहुत शिष्टता के साथ कहता है।

मैं गौर से उसे देखता हूँ और सहसा मेरे मुँह से निकल पड़ता है, "अरे बत्रा, तुम? यह तुम्हारा कायाकल्प कैसे हो गया?"

"मैं आजकल राजनीतिक काम कर रहा हूँ।" वह उसी शिष्टता के साथ कहता है, "आप आजकल कहाँ हैं?"

"मैं 'न्यू हैरल्ड' में हूँ। तुमने 'इरावती' से काम छोड़ दिया?"

वह बहुत शिष्ट ढंग से मुसकराता है, "नहीं, वह पत्रिका अब मेरे ही पास है...।"

"तुम्हारे पास...?"

"मैंने डेढ़ साल हुआ वह पत्रिका बाल भास्कर से ख़रीद ली थी।"

"अच्छा?" मुझे विश्वास नहीं होता कि वह सच कह रहा है, "और बाल भास्कर आजकल क्या कर रहा है?"

"वह आजकल बड़े बिजनेस में है। ज़मीनों के ठेके लेकर कॉलोनियाँ बनवा रहा है।" और वह बाल भास्कर की बनवायी हुई दो-एक कॉलोनियों के नाम गिना देता है, "बहुत बड़े चक्कर में है वह...।"

"अच्छा...!" मैं चलने लगता हूँ, तो वह बहुत कोमल ढंग से मुझसे हाथ मिलाता है और कहता है, "कभी उधर आइएगा। आपका तो वह अपना ही कार्यालय है।"

"हाँ-हाँ, कभी ज़रूर आऊँगा...।"

"मुझे बहुत-बहुत $खुशी होगी।" और वह थोड़ा झुककर विदा लेता है और कुरते की आस्तीन ठीक करता हुआ अन्दर चला जाता है।

बाहर आने पर मुझे लेखकों, कवियों और आलोचकों की मंडली साइकिल स्टैंड के पास खड़ी मिलती है। वहाँ क्षण की अनुभूति और अनुभूति के क्षण को लेकर वाद-विवाद चल रहा है। कवि विनीत, जिसका प्यार का नाम बबुआ है, क्षण की सार्थकता पर भाषण दे रहा है। ब्रजेन्द्र खन्ना अपनी मोटर-साइकिल पर बैठा हुआ भी ज़मीन पर पैर रखकर रुका हुआ है।

"एक क्षण से दूसरे क्षण तक मेरा अवचेतन न जाने अनुभूति के किन-किन स्तरों पर से गुज़र जाता है।" विनीत कह रहा है, "और उसके एक-एक स्तर पर भी न जाने कितनी गहराइयाँ हैं! यदि मैं अपनी रचना में उनमें से किसी एक भी गहराई का ठीक से उद्घाटन कर पाता हूँ, तो मैं अपने प्रति भी ईमानदार हूँ और उस क्षण के प्रति भी, क्योंकि मैं किसी बाह्य प्रभाव से चालित नहीं हूँ। उससे अगले क्षण यदि मैं अनुभूति के किसी और स्तर पर हूँ जो मुझे पहले स्तर से विपरीत ले जाता है, तो मेरी ईमानदारी की माँग है कि मैं उसी स्तर से अपने को अभिव्यक्त करूँ, यदि मैं अपनी रचना में बाहर के प्रभावों से मुक्त नहीं रह पाता...।"

ब्रजेन्द्र खन्ना की मोटर साइकिल चल पड़ती है। कोई उससे पूछता है, "जा रहे हो?"

"मुझे भूख लग आयी है," ब्रजेन्द्र कहता है और उसकी साइकिल सामने से आते हुए पैदल व्यक्ति को बचाकर आगे निकल जाती है। विनीत न जाने कब तक क्षण की सार्थकता की व्याख्या करता हुआ वहाँ खड़ा रहता है!

...और इस तरह खुली आँखों से देखा हुआ सपना समाप्त होने में ही नहीं आता था। बत्तियाँ उसी तरह जलती-बुझती रहतीं, सराय रुहेला स्टेशन से नयी-नयी गाडिय़ाँ गुज़रती जातीं और मैं कई-कई बार खिड़कियाँ बदलने के बाद उस सपने को आँखों में लिये हुए बिस्तर में लेट जाता। हर बीते हुए दिन के साथ सपना पहले से बड़ा हो जाता था, फिर भी मुझे लगता था कि जो कुछ मैं देखता हूँ, वह बहुत-बहुत अधूरा है। "यहाँ आओ मधुसूदन! यहाँ खड़े होकर ज़रा इस भीड़ को देखो...।" बस पर धक्कमधक्का करते हुए लोगों की गाली-गलौज, मद्रास होटल के पास के ग्राउंड में नवयुवती के साथ संदिग्ध स्थिति में पकड़े गये नवयुवक की भीड़ और पुलिस द्वारा मरम्मत, गेलार्ड के सामने बिकती हुई बेला और गुलाब की बेनियाँ, पुलिसमैन के डर से भागते हुए बूट-पॉलिश करनेवाले लड़के, थिएटर कम्यूनिकेशन्स बिल्ि‍डग के सामने फुटपाथ पर पड़े हुए अपाहिज की कराह, भीड़ में खोये हुए अपने लड़के के लिए बिलखती हुई माँ, कुछ लड़कियों को होटलों के कमरे में ले जाती हुई डी.एल.ए. के ख़ास-ख़ास नम्बरों की गाडिय़ाँ, पंजाबी सूबे के नारे लगाता हुआ जुलूस, शराबियों की-सी चाल में कनॉट प्लेस में आड़ी-तिरछी होकर चलती हुई कारें, फैक्टरियों से काम करके लौटते हुए मज़दूर, दफ़्तरों से आते हुए बाबू, विदेशों से नाजायज़ तौर पर लाये गये माल को बेचते हुए लड़के, अख़बारों की सुर्खियाँ, कॉन्फ्रेंसें और भाषण, स्वागत और अभिनन्दन, इंटरव्यू और बयान, फ़ाइलें और फ़ीते, कला की प्रदर्शनियाँ, सौन्दर्य की खोज, मूल्यों की खोज, मौलिकता की खोज, मनुष्य की खोज, एक्सटेंशन लैक्चर्स, मैमोरियल लैक्चर्स, तारा-रा लारा-रा,...क्या सह सम्भव था कि इस पूरी भीड़ को तो क्या, इसके किसी एक हिस्से, किसी एक समूह या किसी एक व्यक्ति को ही खिड़की के पास खड़े होकर अच्छी तरह

देखा जा सके?

अपने फ़ीचर के सिलसिले में मैं दफ़्तर के फ़ोटोग्राफ़र के साथ दरीबा में घूम रहा था।

पहले जब कभी मैं दरीबा के पास से गुज़रा था, तो इस ख़याल से नहीं गुज़रा था कि वह मेरे लिए एक फ़ीचर का विषय भी हो सकता है। शहर के जिस हिस्से में नादिरशाह के सिपाहियों ने सबसे ज़्यादा क़त्लेआम किया था, मैं कितनी ही बार बिना उसके ऐतिहासिक महत्त्व की ओर ध्यान दिये उस हिस्से से होकर निकल गया था। मगर उस समय मैं वहाँ ख़ास मतलब से आया था और मुझे वहाँ की हर छोटी से छोटी चीज़ को नोट करना था। पॉइंट एक—मोड़ के दोनों तरफ़ हलवाइयों की दुकानें हैं। पॉइंट दो—बाज़ार में दाख़िल होते ही दोनों तरफ़ जौहरियों की दुकानें हैं। पॉइंट तीन—पहले दायें हाथ को एक छोटी-सी गली है, फिर बायें हाथ को दो गलियाँ हैं। पॉइंट चार—बायें हाथ की गली का नाम कटरा मसरू है।

फ़ोटोग्राफ़र कुढ़ रहा था। ज्यों-ज्यों हम कटरा मसरू के अन्दर बढ़ते जाते थे, गली तंग होती जाती थी। आगे वह हिस्सा आ गया जहाँ एक के पीछे एक आदमी ही मुश्किल से गुज़र सकता था। गली पानी और कई-कई लेसीले द्रव्यों से इस तरह चिपचिपी हो रही थी कि एक-एक क़दम बहुत सँभालकर रखना पड़ता था। फ़ोटोग्राफ़र सुबह से भूखा-प्यासा गलियों के चक्कर काटता हुआ बुरी तरह तंग आ गया था। वह चाहता था कि जल्दी से दो-एक तसवीरें और ली जायें और वापस चला जाए। मगर मैं अपने फ़ीचर से सिर्फ़ तीन-चार इलाकों का वर्णन करके ही रह जाना चाहता था। मुझे जैसे भी हो, अपने सम्पादक की नज़रों में अपनी जगह बनानी थी और मैं अभी कम से कम तीन-चार इलाकों में और जाना चाहता था।

सारी गली एक बहुत बड़े उगालदान की तरह थी जहाँ बरसों का उगाल कई-कई तहों में जमा हुआ है। कैमरा से ली हुई कोई भी तसवीर क्या उसका सही चित्र प्रस्तुत कर सकती थी? लगता था जैसे गली का हर घर बरसों से क्षय रोग का मरीज़ हो और दुर्गन्ध और बच्चों और स्त्रियों के शोर के रूप में एक भयानक खाँसी उसके अन्दर से उठ रही हो। फ़ोटोग्राफ़र आगे नहीं जाना चाहता था, मगर मैं किसी तरह उसे रा$जी करके लिये जा रहा था। एक घर के अन्दर से एक स्त्री कूड़ा गली में फेंकने के लिए बाहर निकली, मगर हम लोगों को देखकर कूड़ा हाथ में लिये वैसे ही खड़ी रह गयी। उसके चेहरे की झाइयों को देखकर मुझे सहसा क़स्साबपुरा के घर की और ठकुराइन की याद हो आयी। स्त्री ने कूड़ा फेंक दिया और अन्दर चली गयी। इस बीच फ़ोटोग्राफ़र ने उसकी तसवीर ले ली थी। उसने शायद सोचा हो कि एकाध तसवीर और ले लेने से झंझट समाप्त हो जाएगा। फ़िल्म बाइंड करके उसने नाक पर रूमाल रखे हुए कहा, “इससे आगे चलने की मेरे अन्दर बिल्कुल हिम्मत नहीं है। आपको जाना हो, आप आगे हो आइए। मैं गली के बाहर आपका इन्तज़ार करूँगा।”

“मगर मैं तो यहाँ के बाद अभी और भी कुछ जगह जाना चाहता हूँ।” मैंने कहा, “अभी तो हमने कुछ भी मैटीरियल इकट्ठा नहीं किया। जहाँ-जहाँ हम गये हैं, वे सब तो अच्छी-खासी मध्य-वर्ग की बस्तियाँ हैं। एकाध ऐसे इलाके का और चक्कर लगाकर मैं चाहूँगा कि हम इससे निचले वर्ग के उन इलाकों में चलें जो कि वास्तव में स्लम्स के इलाके हैं।” मैं नहीं चाहता था कि सम्पादक को मेरे इस काम में भी दोष निकालने का मौका मिले। मैं उसकी व्यंग्यपूर्ण मुस्कराहट देख-देखकर बेज़ार हो चुका था।

“मेरे अन्दर अब और हिम्मत नहीं है।” फ़ोटोग्राफ़र अड़ गया, “आपको भी जाने कैसा फ़ीचर लिखने

की सूझी है!"

"तुम्हें पता है सम्पादक ने यह फ़ीचर ख़ास तौर पर लिखने के लिए कहा है?"

"उसके दिमाग़ में भी कोई न कोई फ़ितूर उठता रहता है।" फ़ोटोग्राफ़र अपनी जगह से एक क़दम नहीं चला। "उससे कहिए, कभी खुद भी आकर इन गलियों का चक्कर काट जाए। जिस किसी को उसे तंग करना होता है, उसे वह इस तरह का काम सौंप देता है। मैं उसे जानता नहीं? आप तो अभी साल-भर पहले आये हैं, मैं उसके साथ छ: साल से काम कर रहा हूँ। और यह सारा झंझट वह किसी के इलेक्शन के लिए करा रहा होगा। आपको अन्दर की बातों का अभी पता नहीं है।"

"ख़ैर, तसवीरें बहुत हो गयी हैं।" मैंने कहा, "तुम वापस जाना चाहो, तो जाओ। मगर मुझे फ़ीचर के लिए कुछ और मैटीरियल भी चाहिए। मैं कुछ देर और चक्कर लगाकर वापस आऊँगा। अगर दे सको, तो अपना छोटा कैमरा मुझे दे दो। ज़रूरत हुई तो एकाध तसवीर मैं खुद ले लूँगा।"

फ़ोटोग्राफ़र इस बुरी तरह उस काम से उकताया हुआ था कि उसने झट अपना छोटा कैमरा उतारकर मुझे दे दिया। "मैं पहले कहीं जाकर चाय की एक प्याली पिऊँगा।" उसने कहा, "मुझे डर लग रहा है कि कहीं मेरी तबीयत ज़्यादा न मितलाने लगे।"

उस गली से बाहर आकर जब फ़ोटोग्राफ़र चला गया, तो मैंने डायरी में कुछ नोट्स लिखे और सोचने लगा कि अब मुझे किस इलाके की तरफ़ चलना चाहिए। एक मन था कि पहाडग़ंज के पुल की तरफ़ जो टीन, चटाई और टाट के गले-सड़े घर हैं, एक चक्कर उनका लगा आऊँ। पुल पर से गुज़रते हुए वह पूरी की पूरी आबादी कूड़े के एक बड़े-से ढेर की तरह नज़र आती थी। मैं जानता था कि एक बार वहाँ चक्कर लगा आने का कुछ भी अर्थ नहीं है—बल्कि चक्कर लगाने का जो काम मैं कर रहा हूँ, उस सारे काम का ही कोई अर्थ नहीं है—फिर भी जितनी अच्छी सुर्खी मुझे उन घरों में जाकर मिल सकती थी, उतनी अपने अब तक के चक्कर में नहीं मिली थी। और मुझे एक अच्छी सुर्खी ज़रूर चाहिए थी। कुछ आकर्षक सब-टाइटल्स मैंने सोच लिये थे। मगर सुर्खी बहुत ज़रूरी थी ताकि सम्पादक को व्यंग्य-भरी नज़र के साथ मेरी तरफ़ देखने का अवसर न मिले। मगर मेरा दूसरा मन यह हो रहा था कि इतने बरसों के बाद कम से कम आज एक बार क़स्साबपुरा की उस गली में भी हो आऊँ जिसमें कभी मैं खुद रहता था। आख़िर व्यक्ति की माँग दूसरी माँग से ज़्यादा शक्तिशाली सिद्ध हुई और मैं चाँदनी चौक से स्कूटर लेकर सदर के चौक में आ उतरा। सोचा कि आज भी काठ बाज़ार से होता हुआ ही क़स्साबपुरा में जाऊँगा।

काठ बाज़ार में दाख़िल हुआ, तो वहाँ का बदला हुआ न$क्शा देखकर मुझे कम अचम्भा नहीं हुआ। यह जानते हुए भी कि वेश्यावृत्ति सरकारी तौर पर बन्द कर दी गयी है, मैंने उस बाज़ार को इतने बदले हुए रूप में देखने की कल्पना नहीं की थी। यह चौकोर अहाता अब अहाता न लगकर एक साधारण बाज़ार-सा ही लग रहा था जहाँ पहले के पिंजरानुमा कठघरों की जगह अब गल्ले और आढ़त की दुकानें खुली हुई थीं। सिर्फ़ कहीं-कहीं पुराने जाली और सींखचेदार दरवाज़े अब भी नज़र आ रहे थे, जो कि शायद गुज़रे हुए दिनों की बात अभी भूले नहीं थे। वरना उस बाज़ार को देखकर पहले के दिनों का कुछ अनुमान तक नहीं होता था।

काठ बाज़ार का रूप बिल्कुल बदला होने पर भी वहाँ आकर मेरी चाल कुछ तेज़ हो गयी थी। वह बाज़ार जितना बदल गया था, मेरे मन का संस्कार उतना नहीं बदला था। जब तक उस इलाके को पार करके मैं बस्ती हरफूल में नहीं पहुँच गया, तब तक मेरे मन में एक तनाव बना ही रहा। उस चौकोर अहाते में क्या उन दिनों गुजरे हुए मेरे क़दमों की एक आहट अभी बाकी थी? और उस आहट के अलावा सींखचों के पीछे से झाँकते हुए चेहरों की एक छाया भी? क्या समय की भी अपनी प्रतिध्वनियाँ नहीं होतीं जो उसके बीत जाने के बाद भी बनी रहती हैं?

बस्ती हरफूल में ज़िन्दगी लगभग उसी तरह थी—उतनी ही सुस्त और उतनी ही ठहरी हुई। वही दुकानें, वही ठेले, वैसे ही आते-जाते हुए लोग। क़स्साबपुरा की पहली गली के मोड़ पर एक भीड़ जमा थी, वैसी ही जैसी हमेशा गली में आनेवाले मदारियों के इर्द-गिर्द जमा हुआ करती थी। सिर्फ़ मदारी के तमाशे की जगह वहाँ उस समय एक तरह का मुजरा चल रहा था। एक तेरह-चौदह साल की लड़की अपनी हरी ओढ़नी के दोनों छोर हाथों में लिये एक फ़िल्मी गीत गाती हुई नाच रही थी :

'हवा में उड़ता जाये,

मेरा लाल दुपट्टा मलमल का

जी मेरा लाल दुपट्टा मलमल का,

ओ जी, ओ जी...!'

उसके इर्द-गिर्द जमा भीड़ में कुछ लोग उसे पास बुलाने के लिए हाथों में चवन्नियाँ और अठन्नियाँ लिये थे। वह जिस किसी के नज़दीक जाती थी, वही उसका हाथ थाम लेना चाहता था। हारमोनियम बजानेवाला उस्ताद हारमोनियम में से आवा$जें पैदा करने के साथ-साथ आँखों से कुछ इशारे किये जाता था।

"दुनिया नहीं मानती बाबूजी।" मैं वहाँ से आगे चला तो मेरे साथ-साथ चलता हुआ एक अँगोछेवाला व्यक्ति मुझसे बोला। पहले वह भी मेरी तरह भीड़ के पीछे से एड़ियाँ उठाकर मुजरा देख रहा था। "सरकार अपनी जगह होशियार है, तो ये लोग सरकार से ज़्यादा होशियार हैं। क्यों?"

मेरे क़दमों की रफ़्तार फिर कुछ तेज़ हो गयी। मैं उसे कुछ भी उत्तर न देकर अपनी गली के मोड़ पर पहुँच गया।

पानवाले की दुकान वहीं थी, सिर्फ़ वहाँ बैठनेवाला कोई और था। सब्$जीवाले खोमचे भी लगभग उसी तरह लगे थे। मुझे एक बार तो ऐसे लगा था जैसे मैं सुबह ही वहाँ से गया था और दोपहर होते-होते फिर वहाँ वापस आ गया हूँ। मगर गली में बढ़ते हुए मुझे लगने लगा कि वहाँ की भीड़ पहले से कुछ ज़्यादा हो गयी है। पहले दोपहर को वहाँ इतनी भीड़ नहीं होती थी। घरों और दरवाज़ों की पहचानी हुई सूरतें लगभग उसी तरह थीं—हाँ, उनकी खस्ताहाली पहले से थोड़ी बढ़ गयी थी। मगर गली में चलता हुआ वही नालियों का पानी था, वैसी ही आवा$जें थीं और वही बिना बरसात का कीचड़ था।

गली में आकर जहाँ घर और दरवाज़े मुझे बहुत परिचित और पहचाने हुए लग रहे थे, वहाँ गली की भीड़ में एक भी ऐसा चेहरा नज़र नहीं आ रहा था जिसे मैं पहचान सकता था। खोमचों पर बैठनेवाले प्राय: सभी लोग अब दूसरे थे—जैसे दस साल में उस मुहल्ले में एक पूरी पीढ़ी बीत चुकी थी और उसकी जगह उसके बाद की पीढ़ी ने ले ली थी। यह सोचकर मेरे मन में एक निराशा की लहर दौड़ गयी कि शायद अब ठकुराइन और उसका परिवार भी मुझे उस घर में नहीं मिलेगा; मैं वहाँ का दरवाज़ा खटखटाऊँगा तो कोई और ही किरायेदार उस दरवाज़े से बाहर झाँककर देखेगा और उसे शायद यह पता ही नहीं होगा कि कभी सरस्वती ठकुराइन नाम की कोई स्त्री भी वहाँ अपने पति और लड़की के साथ रहती थी। घर के पास पहुँचते ही सबसे पहले मेरी नज़र बाहर लगी हुई त$ख्ती पर पड़ी। उसका नीचे का आधा हिस्सा जाने टूटकर गिर गया था या ऐसे ही धीरे-धीरे झड़ गया था। जितना हिस्सा बाकी था, वह अपनी जंग खायी कील के सहारे किसी तरह झूल रहा था। अब उस पर लिखे हुए नाम में से इबादत और अली, दोनों बिल्कुल गायब हो गये थे; इसका एक हल्का आभास मात्र रह गया था कि उस त$ख्ती पर कभी कोई नाम भी था। बाहर की जिस कोठरी में मैं और अरविन्द रहा करते थे, उसकी दहलीज़ पर एक बूढ़ी-सी औरत बैठी थी। उसे देखते ही मेरे क़दम सहसा लौटने को हो गये। मगर एक बार कोठरी को अन्दर

से देखने का मोह मुझसे नहीं रोका गया और मैंने उस औरत के पास जाकर पूछ लिया कि वहाँ पहले जो एक ठाकुर साहब रहते थे, वे आजकल कहाँ हैं। वह औरत पल-भर ध्यान से मेरे चेहरे को देखती रही और फिर सहसा बोली, "अरे लाला, तुम हो? अपनी भाभी को पहचाना नहीं क्या?" और यह कहती हुई वह दहलीज़ से गली में उतर आयी।

"भाभी!" मेरी छाती में कोई चीज़ अटक गयी, "तुम एकदम इतनी कैसे बदल गयीं? मैं तो सचमुच तुम्हें पहचान ही नहीं सका।"

"आओ, अन्दर तो चलो।" ठकुराइन बोली, "भाभी के घर को तो तुम एक बार जाने के बाद फिर भूल ही गये। मैं तो सोचती थी कि तुम कहीं विलायत-इलायत चले गये होगे। इतने बरसों में कभी भाभी को पाँच नये पैसे की चिट्ठी भी नहीं डाली?"

मैंने कोठरी में क़दम रखा, तो वह भी मुझे ठकुराइन के चेहरे की तरह ही बदली हुई लगी। उसका पलस्तर इतनी जगह से उतर चुका था कि जो दो-चार टुकड़े बचे थे वे बहुत अस्वाभाविक रूप से वहाँ चिपकाये गये से लगते थे। छत की कड़ियाँ बिल्कुल स्याह पड़ चुकी थीं। दीवारों पर जगह-जगह गेरू से स्वस्तिक बने थे और राम नाम लिखा था। दोनों कोठरियों के बीच का दरवाज़ा चौखट समेत बाहर को झूल आया था। सारी कोठरी में एक इस तरह की गन्ध फैली थी जैसी पुराने कपड़ों के ढेर में से आती है। एक चीज़ जो उस कोठरी को फिर भी बहुत परिचित बना रही थी, वह थी ऊपर से आती हुई स्त्रियों के लडने की आवाज़। मुझे लगा जैसे दस साल से वह लड़ाई लगातार उसी तरह चल रही हो और अभी तक उसका फ़ैसला न हुआ हो।

"दिल्ली कब आये हो?" ठकुराइन ने पूछा।

मुझे यह बताते हुए संकोच हुआ कि मुझे यहाँ आये एक साल हो गया है। "अभी थोड़े ही दिन हुए आया हूँ।" मैंने कहा, "मैंने फिर यहीं नौकरी कर ली है।"

"अच्छा!" ठकुराइन ने जाने कहाँ से निकालकर एक पुराना स्याह पड़ा हुआ मोढ़ा मेरे बैठने के लिए रख दिया और कहा, "बैठो। हमारे लिए तो यही बहुत है कि तुम्हें हम गरीबों की याद तो आयी। इस बार कहाँ घर लिया है?"

"करोल बाग के पास एक जगह कमरा ले रखा है।"

"हाँ भैया, अब तुम भाभी के पास इस तरह के कबाडख़ाने में थोड़े ही रहोगे। तब भाभी के दिन फिर भी अच्छे थे, अब तो भाभी का भाग ऐसा उलटा है कि बस...!"

"नहीं भाभी, आजकल मेरा दफ़्तर उस तरफ़ है न...।" मुझे समझ नहीं आ रहा था कि उससे क्या कहूँ। ठकुराइन की आवाज़ में भी पहले से कुछ फ़र्क़ आ गया था, जैसे उसके गले के सुरों में से दो-एक सुर टूट गये हों। मैं लगातार उसके चेहरे की तरफ़ देख रहा था कि ठकुराइन इस अरसे में सचमुच बुड्ढी हो गयी है या मुद्दत के बाद देखने से मेरी आँखों को ही ऐसा लग रहा है।

"ठाकुर साहब तो आजकल भी उसी दफ़्तर में काम करते हैं न?" मैंने पूछा।

ठकुराइन की बुढ़िय़ायी हुई आँखें पल-भर के लिए मिची-मिची-सी हो रहीं और उसने कहा, "तुम्हारे भैया तो लाला दूसरे ही दफ़्तर में चले गये। वो होते तो तुम भाभी की आज यह हालत देखते? अब तो तुम्हारी भाभी को कोई पानी पूछनेवाला भी नहीं है।" और उसकी आँखें छलछला आयीं। उन्हें अपनी फटी हुई धोती के पल्ले से पोंछकर वह छत की तरफ़ देखती हुई बोली, "जिस मुये की आयी थी, वह तो मरा नहीं और जिसे जाने अभी कितने बरस जीना था, वह चलता हुआ।" और वह विस्तार के साथ बताने लगी कि मियाँ इबादत अली उन दिनों बहुत बीमार था। सारी-सारी रात उसे बुरी तरह खाँसी आती थी। हकीम ने कह दिया था कि वह अब दो-चार दिन से ज़्यादा नहीं

बचेगा। एक रात को उसकी हालत बहुत ख़राब हो गयी। लोगों का ख़याल था कि सुबह होने से पहले ही वह चल बसेगा। मजीद और कई दूसरे लोग रात-भर उसके पास बैठे रहे। उन्होंने एक मौलवी को भी बुला लिया जो रात-भर मियाँ के सिरहाने बैठकर क़लमा पढ़ता रहा। उन्होंने उसे दफ़नाने ले जाने के लिए इन्तज़ाम भी कर लिया था।

"मगर जाने लाला, उस मौलवी ने क़लमा पढ़कर क्या जादू किया कि दिन भी चढ़ गया, रात भी हो गयी, मगर वह मरदूद फिर भी साँस लेता रहा। उसी रात तुम्हारे भैया को दमे का दौरा पड़ गया। शिकायत तो उन्हें पहले से थी मगर दौरा पड़ता भी था और ठीक भी हो जाता था। मगर उस दिन जो वार हुआ, वह ऐसा कि कहे कि मैं तुम्हारी जान ही लेकर छोड़ूँगा। सो चार-पाँच दिन में मियाँ तो भला-चंगा होकर बैठ गया और तुम्हारे भैया हमें छोड़कर चलते हुए। आज तो उन्हें गुज़रे भी तीन साल हो गये और मियाँ आज भी भला-चंगा उसी तरह खाता-पीता है। मैं जब भी उसे देखती हूँ, तो मेरी छाती पर साँप लोट जाता है। मन करता है कि मुये की लकड़ी छीनकर मुये को गली में धक्का दे दूँ। अपनी आयी मेरे घर भेजकर मुये ने मेरा घर तो मसान कर दिया और आप पाव-भर गोश्त रोज खाने के लिए आज भी बचा हुआ है। मेरा बस हो तो मैं तो किसी दिन ऊपर जाकर मुये की सितार उठा लाऊँ और उससे अपना एक बखत का चूल्हा जलाऊँ।"

ठकुराइन की बात सुनते हुए मुझे उस दिन की घटना याद आ रही थी जिस दिन मैं इबादत अली के पास बैठकर सितार सुनने के इरादे से अन्दर गया था और मैंने पहली बार उस टूटे-फूटे सितार को देखा था जिसमें से मियाँ की उँगलियाँ जाने कैसे वे तीव्र और कोमल स्वर पैदा कर लेती थीं जो मेरी उनींदी आँखों में नींद भर देते थे। उस दिन के साथ मेरे मन में एक और याद भी जुड़ी हुई थी—फटी हुई शेरवानी सीती हुई खुरशीद की आँखों में भरी हुई उपेक्षा और भत्र्सना की याद! उस लड़की के मन में प्रतिशोध की कितनी प्रबल भावना थी!

"मियाँ की वह एक लड़की थी न खुरशीद!" मैंने ठकुराइन से कहा, "उसकी मियाँ ने शादी-आदी कर दी या अब भी वह उसके पास ही रहती है?" और यह कहते हुए मुझे लगा कि वह लड़की अभी-अभी दरवाज़ा खोलकर कॉपी हाथ में लिये वहाँ आ जाएगी और कहेगी, "माईजी, आज पहली तारीख़ है, किराया दे दीजिए।"

"अरे लाला, उस लड़की के लच्छन क्या तुम्हें शादी कराने के दीखते थे?" ठकुराइन उसी ताव में बोली, "उसकी चाल-ढाल उन दिनों तुम देखते नहीं थे क्या? भूखी बाघनी की तरह हर मरद को घूरती रहती थी। हम तो तभी कहती थीं कि एक न एक दिन यह लड़की कोई गुल खिलाकर रहेगी। सो वही बात हुई। जब सिर पर माँ न हो, और बाप होकर भी न होने के बराबर हो, तो ऐसी लड़की जो न करे वह थोड़ा है। उसे लेकर घर में वह लंका-कांड हुआ कि तुम्हें क्या बताऊँ!"

और यह कहते-कहते ठकुराइन सहसा उठ खड़ी हुई, "तुम भी कहोगे लाला कि इतने बरसों में भाभी के घर आया तो घर आने पर उसने चाय की भी नहीं पूछी। मैं निम्मा को भेजती हूँ कि जाकर दो पैसे का दूध ले आये। तुम्हारी भाभी की आज जुगत ही इतनी है, नहीं तो तुम्हारे आने पर जाने तुम्हारी क्या-क्या खातिर करती!"

"मगर भाभी...," मैं कुछ कहने को हुआ, तो ठकुराइन ने बीच में ही टोक दिया, "ना लाला, मैं तुम्हारे मुँह से ना नहीं सुनूँगी। तुम्हारी भाभी ग़रीब है, तो क्या तुम्हें दो पैसे की चाय भी नहीं पिला सकती? तुम्हें सौगन्ध लगे, अगर तुम मना करो तो!"

और वह झूलते हुए चौखट को पार करके अन्दर की कोठरी में चली गयी और कुछ ही देर में गिलास लिये और निम्मा की बाँह पकड़े बाहर आ गयी। निम्मा हँस भी रही थी और संकोच से अपनी बाँह भी छुड़ा रही थी।

"देखो लाला, पहचानते हो इसे?" ठकुराइन आकर मुझसे बोली, "जब तुम यहाँ रहते थे, तो यह इतनी-सी थी। अब देखो, कितनी बड़ी हो गयी है। लड़की और अनार का पेड़, इन्हें बढ़ने में कितनी देर लगती है!" निम्मा ने एक उड़ती हुई नज़र मेरे चेहरे पर डाली, जल्दी से हाथ जोड़े और माँ के हाथ से गिलास लेकर गली में उतर गयी। ठकुराइन ने अपनी जगह पर आकर कहा, "कितनी सयानी लगने लगी है!"

"हाँ, मैं तो इसे पहचान ही नहीं सका।" मैंने कहा, "उन दिनों तो यह मिट्टी खाया करती थी और गली में खेला करती थी।"

"अब तो भैया मुझे इसी की चिन्ता खाये जाती है।" ठकुराइन के चेहरे की झुर्रियाँ गहरी हो गयीं, "वो आप तो रहे नहीं कि कहीं देखभाल करके इसकी शादी कर देते। मेरे पास जो तिनका-पत्ता था वह उनके बाद हम दोनों जनी खा-पी गयीं। अब तो रामजी का ही भरोसा है। हम दोनों जनी चार घरों में जाकर बरतन मलती हैं, तो रोटी का टुकड़ा मुँह में जाता है। इतनी बड़ी मूरत को लोगों के घरों में भेजते मेरे मन में हौल उठता है। तुम जानते ही हो आजकल ज़माना कैसा आ रहा है। अपने सगों का भरोसा नहीं, दूसरों की तो बात ही क्या है!"

मेरी आँखें पल-भर के लिए नीचे झुकी रहीं। कहीं ठकुराइन का इशारा दस साल पहले की उस घटना की ओर तो नहीं था जिसकी वजह से मैं यह घर छोड़कर चला गया था? मगर ठकुराइन के चेहरे पर या बात के लहजे में कहीं शिकायत का भाव नहीं था।

"घर में जवान लड़की तो भैया काँच की इमारत होती है।" वह फिर बोली, "इसे टूटते कितनी देर लगती है? कोई एक बात भी कह दे, तो माँ-बाप का मरना हो जाता है। मैं इसीलिए अब आगे की कोठरी में कोई किरायेदार भी नहीं रखती। एक को साधु-महात्मा समझकर रख लिया था, तो वह भी एक मुस्टंडा निकला। ये देखो, दीवारों पर उसी महात्मा ने अपना चरित्तर लिख रखा है। सवेरे-शाम राम नाम का जाप करता था और धूनी रमाता था। मैं सोचती थी घर में इतना धरम-करम होता है, तो उसका कुछ फल हमें भी मिलेगा। मैं क्या जानती थी कि फल मिलेगा तो ऐसा कि बस याद रहे। ऊपर से तो धरम-करम और अन्दर से मुये का दिल भी धूनी की लकड़ी की तरह काला! मुआ लड़की को रात-दिन बेटी-बेटी कहता था और दोनों टेम धूनी की राख इसके माथे पर लगाता था। मगर एक दिन उसने वह करनी की कि ठाकुर साहब होते, तो जूते मार-मारकर मुये की चमड़ी उधेड़ देते। पहले लड़की के माथे पर राख लगायी और फिर उसके मुँह को पकड़ लिया और उसकी बाँह खींचने लगा। लड़की बाँह छुड़ाकर भागती हुई मेरे पास आयी और कहने लगी कि अम्माँ, इस बाबाजी को आज ही घर से निकाल दो। मैं सारी बात समझ गयी। मैंने कहा कि शोर मचाऊँगी, तो अपनी लड़की पर ही बात आएगी। इसलिए मैंने ऊपर से तो चुप साध रखी मगर उस मुये से उसी बखत कह दिया कि हमारे घर के लोग बाहर से आनेवाले हैं, इसलिए दिन चढ़ते ही अपना बोरिया लेकर यहाँ से चला जाए। मुये को डर था कि यहाँ रहा, तो जूते ही न खाने पड़ें, इसलिए उसने ज़रा चूँचरा नहीं की और दूसरे दिन सवेरे ही यहाँ से चला गया।"

मैंने फिर ठकुराइन की आँखों में देखा कि वहाँ कोई पुराना शिकवा या व्यंग्य का भाव तो नहीं है। यह भी सोचा कि क्या आनेवाले दस साल में उसे साधु महाराज की घटना भी भूल जाएगी और वह उसे भी मेरी तरह चाय पीने को कह सकेगी? या कि वह अपने साथ हुई घटना को क्षमा कर सकती थी मगर अपनी लड़की के साथ हुई घटना को नहीं...?

"ठाकुर साहब के उठ जाने का मुझे सचमुच ही बहुत अफ़सोस है।" मैंने अपनी शर्मिन्दगी को छिपाने की चेष्टा करते हुए कहा। "मैं कभी सोच भी नहीं सकता था कि इतनी जल्दी ऐसी घटना हो जाएगी। उनकी अभी उम्र ही क्या थी! वे रहते, तो तुम्हें इस तरह की चिन्ता क्यों करनी पड़ती?" मगर यह कहते हुए भी मैं देख यही रहा था कि कहीं ऐसा तो नहीं कि ठकुराइन को दस साल पहले की घटना भी याद है और वह केवल शिष्टाचार रखने के लिए ही उस भाव को दबाये

हुए है।

“वो रहते, तो कोई लड़की की तरफ़ आँख उठाकर भी देख सकता था?” वह बोली, “वो उसकी आँख न निकालकर रख देते?”

मेरी शर्मिन्दगी बढ़ती जा रही थी और मैं सोच रहा था कि कहीं ठकुराइन यह सब बात मुझी को सुनाने के लिए तो नहीं कह रही? कहीं आज भी उसे मुझसे डर तो नहीं लग रहा और वह इन बातों से मेरे मन में एक डर ही तो नहीं बिठाना चाहती? ठकुराइन ने शायद मेरे मन के असमंजस को भाँप लिया, क्योंकि उसने कहा, “उन दिनों तुम लोग पास में रहते थे, तो मुझे भी कोई खटका नहीं था। देवर-भौजाई में सौ-सौ बातें कह-सुन ली जाती हैं, मगर बखत पडऩे पर तुम लोग किसी को भाभी या भाभी की लड़की की तरफ़ आँख उठाकर देखने देते? मगर अब तो भैया दुनिया ऐसी खाली हुई है कि अपना कहने को कोई नज़र ही नहीं आता। मैं रात-दिन भगवान से यही मनाती हूँ कि तू किसी तरह इस लड़की का बेड़ा पार लगा दे, फिर चाहे तू मुझे मौत ले आना। जब तक इस इमारत का कोई रखवाला नहीं मिल जाता, तब तक मैं मरना नहीं चाहती। अगले लोक में जाकर ठाकुर साहब से क्या कहूँगी कि लड़की को ऐसे ही हवा-पानी के भरोसे छोड़ आयी हूँ? उस कलमुँही खुरशीद की बात सोचकर जान और मुँह को आती है।”

खुरशीद की बात ठकुराइन ने तब भी बीच में ही छोड़ दी थी और मेरे मन में उस बात को सुनने की उत्सुकता बनी हुई थी। “उस लड़की की तुम क्या बात कह रही थीं?” मैंने कहा, “कोई ऐसी-वैसी बात हो गयी थी क्या?”

“उसकी बात तुम क्या पूछते हो, भैया!” ठकुराइन की आँखें ऐसी हो गयीं जैसे वह अपने सामने एक भयानक दृश्य देख रही हो, “वह कोई बात जैसी बात थी?” उस दृश्य की याद उसके चेहरे पर एक छाया-सी ले आयी थी। उसकी आवाज़ बहुत धीमी हो गयी और वह ज़रा पास को सरक आयी, “पहले दो-तीन महीने तो किसी को पता नहीं चला। मगर हमें कुछ शक ज़रूर हो गया कि क्या बात है जो अब पहले की तरह दबंग होकर किराया नहीं माँगती, बहुत धीरे-से आकर कहती है। एक बार किराया लेने आयी तो गोपाल की माँ को लग गया कि क्या बात है। तुम जानो हम लोग तो चिडिय़ा की भी चाल पहचानती हैं। बात मरदों के कान में पहुँची, तो उन्होंने जाकर मियाँ को पकड़ा। इस पर यहाँ वह बखेड़ा हुआ, वह बखेड़ा हुआ कि तुम्हें क्या बताऊँ! मरदों ने मियाँ से कह दिया कि या तो लड़की को इसका वह जो है, उसके पास भेज दो या घर खाली करके चले जाओ। मगर तुम जानो यह मियाँ मरदूद ऐसे जानेवाला है? जो पाकिस्तान से जायदाद के लिए यहाँ आ गया, वह लोगों के कहने से घर छोड़ देगा? कहने लगा कि मेरी लड़की को कुछ नहीं है; और अगर हो भी तो आप लोगों को दख़ल देने का कोई हक़ नहीं है। मैं न तो अपनी लड़की को छोड़ सकता हूँ और न ही अपना घर छोड़कर जा सकता हूँ। निकलेगी, तो इस घर से मेरी लाश ही निकलेगी। उस दिन मरदों ने इसके साथ वह बुरी की कि क्या बताऊँ! आगे-पीछे की सब कसर निकाल ली। बन्तासिंह ने तो इसकी दाढ़ी तक नोच ली, मगर वह अपने हठ पर अड़ा रहा कि चाहे जो हो जाए, मैं न लड़की को भेजूँगा, और न घर ही छोड़कर कहीं जाऊँगा।”

“अच्छा!” उस स्थिति की कल्पना से मेरे रोंगटे खड़े हो गये।

“एक दिन तो इसी चीं-चीं में-में में निकल गया। मरदों ने उससे कह दिया कि सुबह तक तुमने कुछ न किया, तो हमें तुम्हारे साथ ज़बरदस्ती करनी पड़ेगी। हम अपनी बेटियों और बहुओं के बीच ऐसी लड़की को नहीं रहने दे सकते। हम लोग बहुत डर रही थीं कि कहीं इससे खार खाकर साथ की गली के मुसलमान दंगा ही न शुरू कर दें। रात को हम लोगों को ठीक से नींद भी नहीं आयी। मैंने अपने सब दरवाज़े अन्दर से बन्द रखे। मगर सवेरे उठते ही पता चला कि वह लड़की रातों-रात जाने कहाँ चली गयी है। बाप को भी बताकर नहीं गयी। वह दिन-भर माथा पीट-पीटकर रोता रहा। कोई कहता था कि जमुना में कूद मरी है। कोई कहता था कि अपने उसी के साथ भागकर

पाकिस्तान चली गयी है। कोई कुछ कहता था, कोई कुछ। मगर चली गयी, इसी से हमने शुक्र किया कि बला टली। नहीं जाने यहाँ क्या-क्या हो जाता और किस-किसकी जान जाती!"

"उसके जाने के बाद मियाँ ने उसके बारे में पूछताछ नहीं की?"

"वह कई दिन अपनी कोठरी से बाहर ही नहीं निकला। वहीं पड़ा रहा और रोता रहा। हमको तरस भी बहुत आता था कि राँड को जाना ही था तो बाप को भी साथ ले जाती। इस बुढ़ापे में उसकी रोटी बनानेवाला भी कौन है जिसके भरोसे उसे छोड़ गयी? उसके बाद तो मियाँ को ऐसा लकवा मार गया कि न उठे-बैठे, न खाये-पिये और न कभी सितार बजाये। अब थोड़े दिनों से फिर रात को अपनी टुन-टुन करने लगा है। रोटी कसाइयों के ढाबे में जाकर खाता है। कई बार तो सारी-सारी रात सितार बजाने में लगा रहता है जैसे अपने साथ दूसरों की नींद से भी दुश्मनी हो। मगर अब कोई उससे कुछ कहता नहीं है। वह भी इस घर में किसी से बात नहीं करता। सिर्फ़ महीने में एक बार किराये की कॉपी लेकर सबके दरवाज़े पर आ खड़ा होता है। किराया तो मैं कहती हूँ कि जिस दिन वह मरेगा, उस दिन भी लोगों से इकट्ठा करके साथ अपनी क़ब्र में ले जाएगा। मुआ और सब कुछ छोड़ देगा, मगर किराये की उगाही नहीं छोड़ेगा।...अच्छा भैया, एक बात बताओ, जब यह मर जाएगा, तो इस मकान के किराये की वसूली का क्या होगा? यहाँ की मलकियत हम लोगों की हो जाएगी, या सरकार फिर भी हमसे किराया लिया करेगी? मेरे सिर पर तो पहले ही छ: महीने का किराया चढ़ा हुआ है। ठाकुर साहब के बाद से हम दो बख़त रोटी मुश्किल से खाती हैं, किराया कहाँ से दें? मुये ने अपनी आयी मेरे घर भेज दी, मेरे लिए तो वह भूत के समान है। जिस दिन मरेगा, उस दिन मैं पाँच पैसे का परसाद चढ़ाऊँगी।"

कोठरी में दोपहर भी शाम की तरह उदास और भारी लग रही थी। वहाँ की हर चीज़ वीरान और उजड़ी हुई-सी हो रही थी। उस कोठरी में पहले ऐसा क्या था जो अब नहीं रहा था? न जाने क्यों मुझे वह पहले से कहीं ज़्यादा ख़ाली और अकेली महसूस हो रही थी।

निम्मा दूध का गिलास लिये हुए आ गयी। धूप से उसका चेहरा तमतमाया हुआ था। उसकी कमीज़ के आधे बटन खुले थे। इतनी बड़ी होकर भी उसे शरीर का होश रखना नहीं आया था। ठकुराइन ने गिलास उसके हाथ से लेकर उसे अपने पास बिठा लिया।

"मरी, तू इन्हें पहचानती नहीं?"

निम्मा मुँह खोलकर मुसकरायी और उसने सिर हिला दिया।

"हाँ, पहचानोगी कैसे नहीं?" ठकुराइन बोली, "तुम्हीं भैया हमें भूल जाओ तो भूल जाओ। हम लोग थोड़े ही तुम्हें भूल सकती हैं? यहाँ से जाकर न तो तुमने चिट्ठी लिखी, न ही अरविन्द भैया ने लिखी। तुम लोग तो भैया विलायतवालों से जान-पहचान रखोगे, हम लोगों की याद भी तुम्हें कैसे आ सकती है?"

निम्मा खोजती हुई-सी आँखों से मेरे चेहरे की तरफ़ देख रही थी। वह शायद समझना चाहती थी कि विलायतवालों से जान-पहचान रखनेवाला व्यक्ति कैसा होता है।

"तू इनके लिए चाय बनाकर लाएगी कि मैं जाऊँ?" ठकुराइन ने उससे कहा, तो वह तुरन्त उठ खड़ी हुई, "मैं बनाकर ला रही हूँ।" उसने कहा और गिलास लिये हुए वहाँ से चली गयी।

"उन दिनों गुडियों-पटोलों से खेलती थी और...अब देखो कितनी होशियार हो गयी है।" ठकुराइन एक उसाँस में बोली, "वैसे अभी सोलह की हुई है मगर लगता है जैसे अठारह-बीस को छू रही हो। भैया, तुम्हारी तो इतनी जान-पहचान है, तुम इसके लिए कोई लड़का नहीं बता सकते? मैं तुम्हारा ज़िन्दगी-भर अहसान मानूँगी। यही सोचकर कि बिना बाप की लड़की है, तुम इसके लिए कुछ

खोज-ख़बर करो। कोई सत्तर-अस्सी कमानेवाला लड़का हो जिसे लेन-देन का लोभ न हो, तो मैं इसके हाथ पीले करके निश्चिन्त हो जाऊँ। यह ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, मेरी जान घटती जाती है। तुम्हारे पास तो सैकड़ों काम करते होंगे। उनमें कोई अच्छा लड़का तुम्हारी नज़र में हो, तो उससे बात करो। मुझे जात-पाँत का भी कोई विचार नहीं। ये विचार अब रहे ही कहाँ हैं? कहना, मेरे अपने रिश्ते में ही एक लड़की है...।"

"मैं पता करूँगा।" मैंने कहा, यह जानते हुए भी कि मैं सिर्फ़ टाल रहा हूँ और आज के बाद दूसरी बार शायद मैं इस तरफ़ आऊँगा भी नहीं। मगर ठकुराइन इतने से ही काफ़ी आश्वस्त हो गयी। झूठ का सहारा भी आखिर सहारा तो होता ही है।

"ज़रूर पता करना भैया!" ठकुराइन थोड़ा और पास को सरक आयी, "लड़का लड़की को देखकर हाँ करना चाहे, तो मैं दिखा भी दूँगी। आजकल की जो रीति है, वही तो हमें करनी पड़ेगी। तुम जानो आजकल लड़के लड़की देखे बगैर शादी नहीं करते। लड़की देखने में तो ठीक ही लगती है। नहीं?"

"मैं पता करूँगा।" मैंने फिर वही बात कह दी।

"हाँ, भैया, तुम इसका काम ज़रूर करा दो। मैं तुम्हारे पाँव पकडऩे को तैयार हूँ।" ठकुराइन सचमुच पाँव पकडऩे लगी, तो मैंने उसे हाथ से पकड़कर रोक दिया।

"न-न भाभी, यह तुम क्या कर रही हो? मैंने कहा है कि मैं ज़रूर पता करूँगा।"

ठकुराइन कुछ देर चुप रहकर मुझे देखती रही। उसकी आँखें भर आयी थीं—जाने स्नेह या आभार से!

"कोई लड़का है तुम्हारी नज़र में?" उसने पूछा।

"नहीं, है तो नहीं, मगर पता तो किया जा सकता है।" मैंने कहा।

वह कुछ देर न जाने क्या सोचती रही। फिर बोली, "तुम अपने लिए कोई मेम ले आये कि नहीं?"

"नहीं, अभी नहीं।" मैंने एक खोखली हँसी के साथ कहा, "कोई मेम मुझे पसन्द ही नहीं करती।"

"हाँ पसन्द नहीं करती!" ठकुराइन अपने हाथ को झटककर बोली, "झूठे कहीं के! मेरी कोई मेम वाकिफ़ नहीं, नहीं मैं तो कल ही तुम्हारा उससे ब्याह करा दूँ।"

"अरविन्द मेरे जाने के बाद कितने दिन यहाँ रहा था?" मैंने चाहा कि यह शादी-ब्याह का विषय किसी तरह बदल जाए।

"तुम्हारे जाने के छ: महीने बाद वे भी यहाँ से चले गये थे।" ठकुराइन बोली, "और तुम्हारी तरह उन्होंने भी जाकर फिर कभी सुध नहीं ली कि हम लोग जीते हैं या मर-खप गये।" और उसके बाद ही वह तुरन्त पहले प्रकरण पर लौट आयी, "अब साल-छ: महीने में तुम इस लड़की का कुछ करा दो, फिर चाहे मैं मर-खप भी जाऊँ। यह सातवीं तक पढ़ी थी, आगे मैं इसे नहीं पढ़ा सकी। अगर इस तरह कोई न मिले, और तुम ठीक समझो, तो मैं इसे फिर स्कूल में दाख़िल करा दूँ और ग्यारहवीं करा दूँ। अब तो सुना है दसवीं की ग्यारहवीं होने लगी है। मुए ग़रीबों का एक साल और ख़राब करते हैं, और क्या?"

मैंने फिर चेष्टा की कि बात उस प्रकरण से हट जाए मगर ठकुराइन लड़की के बारे में मुझे पूरी जानकारी देती रही। लड़की बहुत होशियार है। सब काम बहुत समझदारी से करती है। गली में चलती है, तो आँखें नीचे करके। कभी किसी की तरफ़ देखती भी नहीं। थोड़ी-बहुत कढ़ाई भी कर

लेती है, पढ़ती थी तो अपनी क्लास में दूसरी-तीसरी आया करती थी।

"भैया, तुम कभी-कभी आ जाया करो।" इसके अलावा वह मुझसे अनुरोध करती रही, "मुझे हौसला रहेगा कि मेरा भी दुनिया में कोई अपना है। तुम्हें लड़के की तसल्ली हो जाए, तो तुम्हीं मेरी तरफ़ से हाँ कर देना। लड़के को चाहे कभी अपने साथ ही ले आना। वह आप ही देख लेगा कि लड़की में क्या-क्या गुण हैं। वह और कोई चीज़ सिखाने को कहे तो मैं वह इसे सिखा दूँगी। मैं कहती हूँ बस किसी तरह इसका पार लग जाए।"

निम्मा चाय ले आयी। उसका चेहरा पहले से लाल हो रहा था। वह चाय का गिलास मेरे सामने रखकर जल्दी से वापस लौट गयी। ठकुराइन हँसने लगी।

"मरी ब्याह की बात से ही शरमाने लगी।" वह बोली, "उधर से सब सुन रही थी। इसे कान-रस बहुत है। मैं इससे बचकर किसी से एक बात भी नहीं कर सकती।" और फिर उसने प्यार से आवाज़ दी, "निम्मो!" निम्मा नहीं आयी, तो उसने फिर आवाज़ दी, "मरी इधर आ, बात सुन!"

निम्मा दुपट्टे का पल्ला मुँह में लिये हुए बीच की चौखट के पास आकर खड़ी हो गयी। उसके बटन उसी तरह खुले थे। कमीज़ वैसे भी कई जगह से मैली और फटी हुई थी। सलवार ऊँची बँधी होने से उसके खुश्क टखने बाहर नज़र आ रहे थे। उसकी कमीज़ इस तरह हिल रही थी जैसे वह बहुत तेज़ दौड़कर आयी हो और उसकी साँस फूल रही हो। "अम्माँ, किसी चीज़ की ज़रूरत हो तो दे जाऊँ?" उसने पल्ला मुँह से निकालकर कहा और उसे फिर उसी तरह दबा लिया।

"क्यों लाला, खाने को कुछ मँगवाऊँ?" ठकुराइन ने पूछा।

"नहीं भाभी! मुझे देर हो रही है, अब मैं चलूँगा। बस जल्दी से चाय पी लूँ।"

मैं गिलास उठाकर जल्दी-जल्दी चाय के घूँट भरने लगा। मुझे अपने से कोफ़्त हो रही थी कि दफ़्तर से किस काम के लिए आया हूँ, और यहाँ आकर क्या झख मार रहा हूँ। फ़ोटोग्राफर से अलग होने के बाद मैंने किया ही क्या था? उसका कैमरा कन्धे पर डालकर ले आया था और तसवीर अब तक एक भी नहीं ली थी।

"अम्माँ, इनसे कहो ये अपनी मशीन से हमारी तसवीर खींच दें।" निम्मा बोली, "हम अपनी तसवीर शीशे में जड़ाकर दीवार पर लगाएँगे।"

"मरी, जाने कित्ता ख़र्च होता है तसवीर खींचने पर!" ठकुराइन बोली, "तसवीर ऐसे ही थोड़े खिंच जाती है!"

"इसमें फ़िल्म नहीं है, फ़िल्म होती तो मैं खींच देता," मैंने कहा। मन एक बार झुँझला उठा कि उसकी एक तसवीर खींच ही देता, तो क्या था! मगर फिर सोचा कि ठीक ही तो है—वह कैमरा मैं प्रोफ़ेशनल काम के लिए लाया हूँ, या इस तरह की तसवीरें खींचने के लिए? अपने फ़ीचर में मैं निम्मा की तसवीर को किस तरह इस्तेमाल कर सकता हूँ? मगर मेरा एक मन यह भी था कि उस घर की सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर की कोठरी में जाऊँ और वहाँ टूटी चारपाई पर पड़े हुए मियाँ इबादत अली की एक तसवीर ले लूँ। उस तसवीर का तो मैं प्रोफ़ेशनल तौर पर इस्तेमाल कर सकता था। उस पर तो बल्कि एक बहुत अच्छा शीर्षक भी दिया जा सकता था। साथ के विवरण में मियाँ इबादत अली के पाकिस्तान जाने और लौटकर आने की बात और उसकी लड़की खुरशीद का किस्सा भी दिया जा सकता था। इससे फ़ीचर काफ़ी रोचक बन सकता था। मगर निम्मा के सामने बोला हुआ झूठ मेरी मजबूरी बन गया था। मैं अब इबादत अली की तसवीर भी कैसे ले सकता था?

मैं उनके यहाँ से चला तो ठकुराइन मुझे गली के मोड़ तक छोडऩे साथ चली आयी। गली में आकर

भी वह वही बातें दोहराती रही। लड़की के ब्याह पर वह ज़्यादा नहीं, मगर चार-पाँच सौ तो ख़र्च करेगी ही। ठाकुर साहब होते तो जाने कितना करते! मैं उनके यहाँ फिर कब आऊँगा? मैं न आ सकूँ, तो वही कभी मेरे घर पर आकर मुझसे पूछ ले। मैं एक कार्ड पर अपना पता लिखकर उसे ज़रूर भेज दूँ। कार्ड लिखूँ, तो ठाकुर साहब के नाम से ही लिखूँ...।

ठकुराइन के लौट जाने पर मैं पानवाले से सिगरेट ख़रीदने के लिए रुका, तो उसने सिर से पैर तक मेरा ज़ायज़ा लेते हुए कहा, "क्यों साहब, आप इनके रिश्तेदार हैं?"

"क्यों?" उसकी बदतमी$जी पर मुझे गुस्सा आ गया।

"ऐसे ही पूछ रहे हैं।" वह बोला, "हम तो समझते थे ये माँ-बेटी अकेली ही हैं।"

"मेरी इन लोगों के साथ पुरानी वाक़फियत है।" मैंने कहा, "मैं पहले इसी घर में रहता था।"

"अच्छा, हाँ!" वह आवाज़ को कुछ लटकाकर बोला, "हमने समझा आपकी इनके साथ रिश्तेदारी है!"

"एक तरह से रिश्तेदारी है भी।" मैंने माथे पर त्योरी डालते हुए कहा, "तुम बात करो।"

"बात कुछ भी नहीं।" वह डब्बी देकर पैसे गिनता हुआ बोला, "बेचारी ग़रीब हैं, घरों में जाकर बरतन-अरतन मलती हैं, इसलिए हमने कहा...।"

"क्या कहा...?"

"कुछ नहीं।" वह बोला, "ऐसे ही हम बात के लिए बात कर रहे थे...।"

मैं गली से बाहर आया, तो कोई चीज़ मुझे अन्दर से कोंच रही थी। मुझे लग रहा था कि वहाँ और भी कुछ था जिसकी मुझे तसवीर लेनी थी, मगर मैं नहीं ले सका था। लेकिन वह 'कुछ' क्या था?

मैं लौटकर दफ़्तर पहुँचा, तो वहाँ हरबंस मेरा इन्तज़ार कर रहा था।

"तुम कब से आये हुए हो?" मैंने पूछा।

"अभी थोड़ी देर हुई आया था।" वह बोला, "मैं तुम्हें अपने साथ एक जगह ले जाने के लिए आया हूँ।"

मैंने उसे बताया कि मैं दिन-भर शहर में गलियों की ख़ाक छानता रहा हूँ, इसलिए बहुत थका हुआ हूँ।

"थके हुए होने से क्या होता है?" वह बोला, "थका हुआ आदमी चाय पीने तो चल ही सकता है।"

"मगर यह भी तो पता चले कि चलना कहाँ है?"

"उसी के घर चलना है...," वह थोड़ा रुकता हुआ बोला, "पोलिटिकल सेक्रेटरी के। वह बहुत दिनों से घर पर आने के लिए कह रहा था। नीलिमा भी बहुत कह रही थी कि उसने इतनी बार बुलाया है, तो हमें ज़रूर चलना चाहिए। आज उसी ने उससे फ़ोन पर कह दिया था कि हम शाम को आएँगे।"

"तो तुम लोग चले जाओ।" मैंने कहा, "मुझे साथ में घसीटने की क्या ज़रूरत है? एक तो मैं बहुत थका हुआ हूँ और दूसरे उसने तुम्हीं को बुलाया है, इसलिए...।"

“मगर वह तुम्हारे बारे में भी तो पूछता रहता था। मैंने बाद में उससे फ़ोन पर कह दिया था कि तुम भी हमारे साथ आओगे...।”

“मगर मुझे साथ ले जाने की कोई ख़ास वजह है क्या?”

“एक छोटी-सी वजह भी है। वे लोग मुझे एक नौकरी आफ़र कर रहे हैं। हो सकता है वह आज उस बारे में कोई बात करना चाहे। मैं अपने मन में तय नहीं कर सका कि मुझे वह नौकरी ले लेनी चाहिए या नहीं, इसलिए अभी उस बारे में उससे बात नहीं करना चाहता। तुम साथ रहोगे, तो उस विषय में बात नहीं उठेगी।”

“मगर तुम मेरी हालत भी तो देखो कि मैं...।”

“तुम्हें मैंने कह दिया है कि तुम्हें मेरे साथ चलना है, बस! मेरी वजह से थोड़ी तकलीफ़ ही उठा लोगे, तो क्या है?”

मैंने और हील-हुज्जत नहीं की; अपनी डाक देखी, एक मिनट के लिए जाकर अपने सम्पादक से बात की और उसके साथ चलने के लिए तैयार हो गया।

पोलिटिकल सेक्रेटरी के घर की सीढ़ियाँ इतनी चिकनी थीं कि ऊपर जाते हुए पैर फिसल जाने से मेरे घुटने पर थोड़ी चोट आ गयी।

गैलरी में आकर हरबंस ने घंटी बजायी। एक चपरासी हमें बड़े कमरे में ले गया। पोलिटिकल सेक्रेटरी ने कमरे के दरवाज़े पर आकर हमारा स्वागत किया। “ओ, हरबंस! नीलिमा!” उसने उत्साह के साथ कहा, “और यह हमारा 'न्यू हैरल्ड’ वाला दोस्त है। इसके सम्पादक ने दो-एक बार इसकी बात की है। तुमने भी कई बार ज़िक्र किया है। मैं सिर्फ़ नाम भूल रहा हूँ। क्या नाम बताया था तुमने हरबंस?”

“मधुसूदन,” हरबंस ने कहा।

पोलिटिकल सेक्रेटरी ने मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर गरमजोशी के साथ हिलाया। “हाँ-हाँ, मडुसुडान,” उसने कहा, “मैं सुडान का ध्यान रखूँगा, तो मुझे याद रहेगा। इस नाम में भी एक रिदम है। मैं संगीत का बहुत शौक़ीन हूँ। हरबंस ने शायद तुम्हें बताया हो। या शायद न भी बताया हो। वह अपने सिवा किसी की तारीफ़ नहीं करता। सिर्फ़ तुम्हारी करता है। मैं कह नहीं सकता क्यों। नीलिमा कहीं तुमसे ईर्ष्या न करने लगे। आओ,आओ। कुछ कलाकार आये हुए हैं। मैं पहले तुम लोगों का उनसे परिचय करा दूँ। बहुत युवा कलाकार हैं। मगर मैं कहा करता हूँ कि यौवन ही वास्तविक कला को जन्म दे सकता है। कला एक सृष्टि है और यौवन का सृष्टि के साथ गहरा सम्बन्ध है। आओ...!”

पहले उसने अपनी पत्नी से परिचय कराया। वह हाथ मिलाते ही यह कहकर चली गयी कि वह अरुण को बच्चों के पास छोड़ आये, नहीं तो वह बेचारा बड़ों के बीच बहुत अकेला और खोया-खोया महसूस करेगा। “मैं अभी आ रही हूँ।” उसने चलते-चलते नीलिमा से कहा, “मैं तुमसे बात करने के लिए बहुत उत्सुक हूँ।”

कमरे में चार व्यक्ति और थे। एक अधेड़ दम्पती थे, मिस्टर और मिसेज़ गुलाटी, जो शायद सोशल कॉल के लिए आये थे। दो युवा चित्रकार थे जिन्होंने हाल ही में फ़ाइन आर्ट का डिप्लोमा लिया था। एक का नाम था रणधीर और दूसरे का सुभाष। रणधीर बाल और दाढ़ी दोनों बढ़ाये हुए था। कुरता-पाजामा पहने था। सुभाष नीली कॉर्डराय की पतलून के साथ पीली जैकेट पहने था। उन दोनों ने अतिशय नम्रता के साथ हम सबसे हाथ मिलाया, जैसे हम सब भी पोलिटिकल सेक्रेटरी के रुतबे के ही लोग हों।

“हम लोग इनके बनाये हुए कुछ चित्र देख रहे थे।” पोलिटिकल सेक्रेटरी बोला, “ये लोग बहुत अच्छी रचनाएँ कर रहे हैं। मिस्टर और मिसेज़ गुलाटी कला के बहुत शौक़ीन हैं। मेरा ख़याल है आप सबको भी इसमें दिलचस्पी होगी। क्यों हरबंस? अरे, मैं यह किससे पूछ रहा हूँ! मिस्टर गुलाटी, मेरा दोस्त हरबंस इतिहास का पंडित है, मगर कला का भी बहुत बड़ा पारखी है। इसकी पत्नी, या लड़की नीलिमा, यह भारतीय नृत्य की...क्या कहूँ क्या है! हरबंस, मुझे बताओ ठीक शब्द क्या है? मगर तुम नहीं बताओगे। तुम उससे ईर्ष्या करते हो, मैं जानता हूँ। हमारा दोस्त...मैं फिर तुम्हारा नाम भूल गया। मैं तुम्हें 'न्यू हैरल्ड' ही कहूँगा। हाँ तो 'न्यू हैरल्ड', इसे भारतीय नृत्य की क्या कहना चाहिए...!” वह चुटकी बजाने लगा। “मुझे ठीक शब्द मालूम है, मगर वह मेरे दिमाग़ में आ नहीं रहा। वह है...क्या है...अच्छा हम अपने दोस्त 'न्यू हैरल्ड' को सोचने देते हैं और तब तक ये चित्र देखते हैं।”

इस बीच उसकी पत्नी अरुण को छोड़कर आ गयी। उसे देखते ही वह बोला, “आओ डियर, आओ। मैं सोच रहा था कि तुम आ जाओ, तभी हम चित्र देखें। इसीलिए इन लोगों को बातों में लगाये हुए था। तुम यहाँ आकर मेरे पास बैठो। तुम जाने हमेशा मुझसे दूर-दूर क्यों रहती हो! तुम जानती हो मैं तुम्हें कितना चाहता हूँ, फिर भी...।”

“मैं यहाँ अपने पत्रकार मित्र के पास बैठ रही हूँ।” उसकी पत्नी ने कहा, “मैं तुम्हारी वही रोज़-रोज़ की बातें सुनकर और नहीं ऊबना चाहती। अपने इस नये मित्र से तो मैं इन चित्रों के बारे में कुछ समझ भी सकूँगी, तुम तो बस शोर ही मचाते रहोगे और देखने-समझने कुछ नहीं दोगे।”

वह मेरे पास की कुरसी पर आ बैठी। पोलिटिकल सेक्रेटरी घूरकर देखने की मुद्रा बनाकर मुझसे बोला, “देखो मिस्टर 'न्यू हैरल्ड', मैं तुमसे ही मित्रतापूर्ण व्यवहार की आशा करता हूँ। मुझे उम्मीद है कि तुम अपने पहले समीक्षक की तरह ख़तरनाक आदमी नहीं हो।”

“तुम बस अपना नाटक ही करना चाहते हो, या चित्र भी देखना चाहते हो?” उसकी पत्नी ने उसे झाड़ दिया। वह डाँट खाये हुए बच्चे की तरह बिल्कुल सीधा होकर बैठ गया और बोला, “मैं चित्र देखना चाहता हूँ, डार्लिंग! मगर मुझे शेक्सपीयर की वह पंक्ति हमेशा याद रहती है—फ्रेल्टी दाई नेम इज़...।”

“प्लीज़!” उसकी पत्नी गम्भीर होकर बोली। वह भी सहसा गम्भीर हो गया।

“तो मिस्टर सुभाष, अब अगला चित्र!”

सुभाष ने दीवार पर लगे हुए एक चित्र को उतार दिया और उसकी जगह दूसरा चित्र लगा दिया। नीचे उस दीवार के साथ छ:-आठ कैनवस रखे थे। जो चित्र लगाया गया था, उसे देखकर लगता था जैसे वह प्रागैतिहासिक युग का एक बड़ा-सा $गार हो। उसमें काले, हरे और भूरे रंगों का प्रयोग एक भय और नृशंसता का वातावरण पैदा करता प्रतीत होता था।

“इसका शीर्षक क्या है?” पोलिटिकल सेक्रेटरी ने कलाकार से पूछा।

“शीर्षक कुछ भी हो सकता है।” सुभाष ने कहा, “हर व्यक्ति इसे अपने मन से अलग शीर्षक दे सकता है।”

“मेरे ख़याल में इसका शीर्षक होना चाहिए...क्या होना चाहिए...क्यों मिस्टर गुलाटी, इसका शीर्षक क्या होना चाहिए...?”

मिस्टर गुलाटी बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण काम करने के ढंग से चित्र को और ध्यान से देखने लगे। फिर सोचते हुए-से बोले, “इसका शीर्षक...इसका शीर्षक मेरे ख़याल में...होना चाहिए...अम्...म्...म्...”

“हाँ-हाँ, बताइए।”

“अँधेरा और उजाला नहीं हो सकता?”

“अँधेरा और उजाला!” पोलिटिकल सेक्रेटरी की पत्नी चित्र का गम्भीर अध्ययन करती हुई बोली, “मगर मुझे तो इसमें अँधेरा ही अँधेरा नज़र आता है। उजाला इसमें कहाँ है?”

“मैं समझता हूँ शायद चित्र पर ठीक से लाइट नहीं पड़ रही।” मैंने धीरे से कहा।

“हाँ-हाँ, मैं भी यही सोच रहा था,” पोलिटिकल सेक्रेटरी बोला। उसने उठकर उस तरफ़ की खिड़की बन्द करके दो-एक बत्तियाँ और जला दी और कहा, “अब?”

“अब मुझे कुछ उजाला नज़र आ रहा है।” उसकी पत्नी ने कहा जिससे सब लोग हँस दिये और कलाकार कुछ झेंप गया।

“और तुम्हारा क्या शीर्षक है, हरबंस?”

हरबंस उस समय न जाने कहाँ खोया हुआ था। वह सहसा चौंक गया। तभी बैरा ट्रे में चाय लिये हुए आ गया। कुछ देर के लिए बात रुकी रही। तब तक हरबंस चित्र को देखता रहा। फिर अपनी चाय में चीनी हिलाता हुआ बोला, “मुझे तो यह एक गर्भाशय-सा लगता है।”

“गर्भाशय!” पोलिटिकल सेक्रेटरी की पत्नी अपनी गम्भीरता में चौंक गयी।

“यह कैसे हो सकता है?”

“क्योंकि इसमें कुछ वैसी ही गोलाइयाँ हैं और...”

“जैसे कि तुमने गर्भाशय देख रखा है!” नीलिमा ने उस पर टिप्पणी कर दी तो हरबंस कुछ सकपका गया।

“ओ नीलिमा!” पोलिटिकल सेक्रेटरी हाथ पर हाथ मारकर बोला, “तुम क्या कहना चाहती हो कि वह...? नहीं-नहीं, ऐसी बात कहने का तुम्हें कोई हक़ नहीं है। वह तुम्हारा पति है तो क्या हुआ? इसका यह मतलब नहीं कि तुम जो मुँह में आये, उससे कह सकती हो।”

“ठहरो, तुम मुझे समझने तो दो।” उसकी पत्नी ने फिर उसे डाँट दिया।

पोलिटिकल सेक्रेटरी फिर सीधा होकर बैठ गया, “अब मैं बिल्कुल चुप रहूँगा। लोगों के सामने मैं बार-बार डाँट नहीं खाना चाहता। सब लोग घर जाकर बात करेंगे कि पोलिटिकल सेक्रेटरी अपनी बीवी से दबता है। मैं इस बदनामी से बहुत डरता हूँ। अच्छा, मैं अपना शीर्षक बताऊँ? नहीं, पहले हरबंस तुम यह बताओ कि तुम्हें यह गर्भाशय कैसे लगता है?”

हरबंस तब तक फिर कहीं और खो गया था। उसने सिर्फ़ कन्धे हिला दिये और कहा, “ऐसे ही...मुझे ऐसा महसूस होता है।”

“अच्छा, माफ़ करना, मैं अपना शीर्षक बताने के लिए बहुत बेचैन हो रहा हूँ।” पोलिटिकल सेक्रेटरी बोला, “मेरा शीर्षक है...बता दूँ? मेरा शीर्षक है...देखो, तुम लोगों को ठीक न लगे, तो हँसना नहीं। मेरा शीर्षक है—'सपना'।”

“सपना?” उसकी पत्नी ने होंठ बिचका दिये, “असम्भव! यह सपना कैसे हो सकता है?”

“अच्छा, तुम बताओ कि यह सपना क्यों नहीं हो सकता? मुझे पता था कि तुम्हें मेरा बताया हुआ

शीर्षक कभी पसन्द नहीं आएगा।” पोलिटिकल सेक्रेटरी ने कुहनियाँ समेटकर पीछे को टेक लगा ली, “मैं कई बार रात को इस तरह का सपना देखता हूँ। इन्हीं रंगों में और ठीक इसी तरह की गोलाइयों में। अगर मैं कलाकार होता, तो मैं उसका ठीक इसी तरह का चित्र बनाता।”

“अच्छा, हम कलाकार से ही पूछते हैं कि उसके ख़याल में इसका कौन-सा शीर्षक ज़्यादा ठीक है।” उसकी पत्नी पहले जिस गम्भीरता के साथ चित्र को देख रही थी, अब उसी गम्भीरता के साथ कलाकार के चेहरे को देखने लगी। दोनों कलाकारों ने एक बार एक-दूसरे की तरफ देखा। फिर रणधीर बोला, “देखिए शीर्षक तो कुछ भी हो सकता है। वैसे 'सपना' शीर्षक में कुछ कोमलता है, इसलिए व्यक्तिगत रूप से मुझे यह ज़्यादा अच्छा लगता है। मगर किसी भी चित्र का कोई एक ही शीर्षक नहीं होता।”

“देखा!” पोलिटिकल सेक्रेटरी कुछ चमककर बोला, “मैं कलाकार नहीं हूँ, मगर शीर्षकों का रहस्य मैं थोड़ा-बहुत जानता हूँ। जिन चित्रों के लिए और कोई शीर्षक न सूझता हो, उन पर इन तीन-चार शीर्षकों में से कोई एक शीर्षक ज़रूर ठीक बैठ जाता है—सपना, समय, अन्तरमन और खोज। जहाँ इनमें से भी कोई न चल सकता हो, वहाँ मैं उसे सिर्फ़ एब्स्ट्रेक्ट कह देता हूँ।”

“वैसे 'माँ और बेटा' भी इसी तरह का एक शीर्षक है।” मिस्टर गुलाटी ने सुझाव दिया।

“यह शीर्षक अब पुराना हो गया है।” पोलिटिकल सेक्रेटरी बोला, “अब 'माँ और बेटा' शीर्षक सुनकर कुछ अजीब-सा लगता है। हाँ, ये दोनों शब्द अलग-अलग शीर्षक के रूप में दिये जा सकते हैं। तुम्हारा क्या शीर्षक है, 'न्यू हैरल्ड'?”

मेरा उत्तर देने को मन नहीं हो रहा था। फिर भी मैंने कहा, “मुझे तो यह आदिम गुफ़ा जैसी लगती है।”

“इसका मतलब है कि तुम्हारा और हरबंस का शीर्षक एक ही है।” पोलिटिकल सेक्रेटरी फिर हँसा, “तभी तुम दोनों में इतनी दोस्ती है। तुम दोनों बिल्कुल एक ही तरह सोचते हो।”

कलाकार ने उस चित्र को हटाकर एक नया चित्र लगा दिया—खिड़की के परदे के पास रखे हुए गुलदस्ते का। पोलिटिकल सेक्रेटरी एकदम बोल उठा, “इसका शीर्षक मैं बताता हूँ—स्टिल लाइफ़। क्यों?” और वह हँसता रहा जैसे उसने यह बहुत बड़ी मज़ाक की बात कही हो।

“क्यों, यह शीर्षक पुराना नहीं है?” उसकी पत्नी अपनी उसी गम्भीरता के साथ बोली।

“यह पुराना होनेवाला शीर्षक नहीं है। दुनिया में बने एक-तिहाई चित्रों का शीर्षक यही होगा। क्यों हरबंस?”

“आज तुम बहुत मूड में हो!” हरबंस ने जैसे बला टालने के लिए कहा।

“सुन लिया?” पोलिटिकल सेक्रेटरी की पत्नी बोली, “तुमसे कितनी बार कहती हूँ कि जितनी बरदाश्त हो, उससे ज़्यादा न पिया करो।”

“देखो मेरी बीवी को।” पोलिटिकल सेक्रेटरी ने सिर खुजलाते हुए कहा, “कोई मेरी तारीफ़ भी करे, तो यह उसमें से दूसरा ही मतलब निकाल लेती है। मैं चाहे अपने गले को रेगिस्तान की तरह खुश्क रखूँ, फिर भी यह कहे बिना नहीं मानेगी।”

बैरा एक के बाद एक सैंडविच और पैटीज़ की प्लेटें लिये हुए सामने आ जाता था। कलाकार एक चित्र दीवार से उतारता और उसकी जगह दूसरा चित्र लगा देता था। उसके अधिकांश चित्र पहले चित्र की तरह एब्स्ट्रेक्ट के प्रयोग थे। उनमें स्याह रंग का प्रयोग बहुत खुलकर किया गया था जो

पोलिटिकल सेक्रेटरी की पत्नी को पसन्द नहीं आ रहा था। वह अपनी अरुचि को खामोश रहकर छिपाने का प्रयत्न कर रही थी। सुभाष अपने सब चित्र दिखा चुका, तो रणधीर अपने चित्र दिखाने लगा। उनमें ज़्यादातर मानवीय आकृतियों के चित्र थे और कुछ लैंडस्केप थे। उनके रंग भी काफ़ी भड़कीले थे। उन चित्रों को देखते हुए पोलिटिकल सेक्रेटरी की पत्नी काफ़ी उत्साहित हो उठी। मैं बार-बार कमरे के नीले परदों को देखता था, फिर कॉफ़ी की प्यालियों और सैंडविच की प्लेटों को देखता था। मन हो रहा था कि किसी तरह वह सिलसिला समाप्त हो, तो वहाँ से उठकर चलूँ। कमरे की सजावट काफ़ी अच्छी थी। भूरे रंग का मोटा गलीचा तो बहुत ही अच्छा था। कुरसी पर बैठे हुए पैर उसमें धँस-धँस जाता था। दीवारों पर तसवीरों के बड़े-बड़े फ्रेम लगे थे। आँखें उन पर अटकती नहीं थीं, उनमें खो जाती थीं। सोफ़े काफ़ी बड़े और खुले थे। मगर वह सब कुछ मुझे अपने से बहुत दूर का लग रहा था, शायद छोटे घरों में रहने के अभ्यास के कारण। रणधीर अपने एक लैंडस्केप के विषय में कुछ बता रहा था और मैं सोच रहा था कि वह सजावट उस घर के व्यक्तित्व को प्रकट करती है, या उस घर में रहनेवाले लोगों के? या उन दोनों से अलग किसी और ही व्यक्तित्व को? बार-बार मेरा मन अपनी घड़ी की तरफ़ देखने को होता था, मगर सभ्यता के तकाज़े से मैं अपनी आँखों को कलाई की तरफ़ नहीं जाने देता था।

रणधीर अपने हर चित्र को दीवार पर लगाने से पहले एक छोटी-सी भूमिका बाँधता था, और उसे उतारने के बाद भी उसके बारे में कुछ न कुछ बताता रहता था। वह अपने हर चित्र की प्रेरणा के स्रोत के सम्बन्ध में लोगों को पूरी जानकारी दे देना चाहता था। मैंने अपनी घड़ी पर हाथ रख लिया था कि ग़लती से मेरी आँखें उस तरफ़ न चली जाएँ। सब लोग शीर्षकों का खेल उसी तरह खेल रहे थे। एक अपना शीर्षक रखता था, तो दूसरा उसे हटाकर अपना शीर्षक रखना चाहता था। पोलिटिकल सेक्रेटरी उस खेल का नायक था। वह किसी-किसी समय इतना शोर करता था कि मेरा ध्यान भी घड़ी से हटकर उसकी बात की तरफ़ चला जाता था।

सब चित्र दिखाकर रणधीर चेहरे पर एक उत्सुकता का भाव लिये हुए सोफ़े पर आ बैठा। सुभाष के चेहरे पर भी वैसी ही उत्सुकता नज़र आ रही थी कि शायद लोग अब उनके चित्रों पर कुछ टीका-टिप्पणी करें। मगर जब किसी ने कुछ नहीं कहा तो रणधीर बोला, “देखिए, हम अपने चित्रों के सम्बन्ध में आप लोगों की सही राय जानना चाहते हैं। आप जानते हैं कि आप लोगों की राय हमारे लिए कितनी मूल्यवान हो सकती है।”

“मेरे ख़याल में तो सभी चित्र बहुत अच्छे थे।” पोलिटिकल सेक्रेटरी ने कहा।

“हम सब आपके आभारी हैं कि आप लोगों ने यहाँ आकर हमें अपनी कला से परिचित होने का अवसर दिया।”

“फिर भी कोई चीज़ जो आपको ज़्यादा पसन्द आयी हो...।”

“मैंने कहा है न, मुझे सभी चित्र एक से पसन्द आये हैं। सब के सब बहुत अच्छे हैं। बाकी मिस्टर गुलाटी और हमारा 'न्यू हैरल्ड’ का दोस्त आपको ज़्यादा बता सकते हैं। आपको पता है हमारा यह 'न्यू हैरल्ड’ का आर्ट और ड्रामा क्रिटिक है! इसकी राय आपके लिए सबसे मूल्यवान हो सकती है। आप लोग अब कुछ देर आपस में बातचीत करें। मैं उतनी देर हरबंस को अपना घर दिखा दूँ। मैं बहुत दिनों से इस शख़्स को अपने घर पर आने के लिए कह रहा था, मगर आज यह पहली बार आया है। आओ हरबंस, तुम्हें उधर के हिस्से दिखा दूँ।” कहता हुआ पोलिटिकल सेक्रेटरी उठ खड़ा हुआ, “मैं अपनी स्टडी तुम्हें खास तौर पर दिखाना चाहता हूँ। मैंने इधर कुछ नयी किताबें मँगवायी हैं जिन्हें देखकर तुम्हें खुशी होगी। आओ, तुम्हें चुपचाप बैठे देखकर मुझे अच्छा नहीं लग रहा।”

हरबंस ने एक नज़र मेरी तरफ़ देखा और उठ खड़ा हुआ, “मैं अभी आ रहा हूँ।” उसने बिना वजह मुझसे कहा और पोलिटिकल सेक्रेटरी के साथ चला गया।

“आपका वह जो एब्स्ट्रेक्ट था।” उनके चले जाने के बाद मिस्टर गुलाटी कहने लगे, “जिसका शीर्षक मिस्टर मधुसूदन ने 'हिरोशिमा' बतलाया था, मैं उसके बारे में एक बात पूछना चाहता हूँ...।”

“नीलिमा, तुमने भी तो मेरा घर नहीं देखा है।” पोलिटिकल सेक्रेटरी की पत्नी नीलिमा से बोली, “आओ, मैं तुम्हें ऊपर चलकर अपना टैरेस दिखलाऊँ। मैंने यह घर उस टैरेस की वजह से ही पसन्द किया था। तुम देखना पसन्द करोगी?”

“हाँ ज़रूर।” नीलिमा बोली, “मैं जब से आयी हूँ, तब से इस घर की एक-एक चीज़ को ध्यान से देख रही हूँ। यहाँ की छोटी से छोटी चीज़ से भी आपके टेस्ट का पता चलता है।”

“तो आओ। मैं तुम्हें अपना टैरेस ज़रूर दिखाना चाहूँगी।” पोलिटिकल सेक्रेटरी की पत्नी अपनी जगह से उठ खड़ी हुई, “आप लोगों की कला-सम्बन्धी बातचीत में हम लोग क्या हिस्सा ले सकेंगी? मैं तो इस मामले में बिल्कुल नासमझ हूँ। थोड़ी देर के लिए आप हमें क्षमा करेंगे? आओ नीलिमा!”

“तुम भी हमारे साथ ही क्यों नहीं चलते?” नीलिमा उठती हुई मुझसे बोली, “अभी थोड़ी देर में हम लोग लौट आएँगे।”

मैं भी कला-सम्बन्धी बातचीत से बचना चाहता था, इसलिए मैंने मन में नीलिमा को इस सुझाव के लिए धन्यवाद दिया और झट ही उसके साथ चलने के लिए उठ खड़ा हुआ। “क्षमा कीजिएगा, हम लोग अभी वापस आ जाएँगे,” पोलिटिकल सेक्रेटरी की पत्नी ने फिर कहा और हम लोग कमरे से बाहर निकल आये।

ऊपर का टैरेस काफी खुला था और उसकी सबसे बड़ी विशेषता उसकी सादगी थी। वहाँ रखे हुए बेंत के मोढ़े और कुरसियाँ नीचे के कमरे की सजावट से बहुत भिन्न थे। नीचे बैठे हुए उस बहुमूल्य सजावट में अपना आप बहुत छोटा लगता था, मगर वहाँ आकर उस तुच्छता की अनुभूति से बहुत कुछ छुटकारा मिल सकता था। मैं कुछ खुलेपन का अनुभव करता हुआ वहाँ एक कुरसी पर बैठ गया। मगर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ जब पोलिटिकल सेक्रेटरी की पत्नी ने भी वहाँ आकर यही कहा, “नीचे के कमरे में बैठे हुए तो कई बार मेरा दम घुटने लगता है। वहाँ रात-दिन लोग आते रहते हैं और उनसे एक ही तरह की बातें करनी होती हैं। मैं अपने पति की प्रशंसा करती हूँ जो इन बातों से थकता नहीं। इन बातों के साथ-साथ वह अपना काम भी करता जाता है। मगर मैं बहुत थक जाती हूँ। मुझे अपने घर में यह टैरेस ही एक ऐसी जगह लगती है जहाँ आकर मेरे मन को कुछ शान्ति मिलती है। पीछे हमारे अपने घर में भी एक ऐसा ही टैरेस है और मैं यहाँ बैठकर कई बार अपने को वहीं बैठी हुई महसूस करती हूँ। सचमुच अपने घर के वातावरण के साथ आदमी का मन किस तरह जुड़ा रहता है!”

और वह हमें अपने वहाँ के घर के बारे में बहुत कुछ बतलाती रही कि वह इमारत किस तरह की बनी है, उसमें छोटा-सा बा$गीचा कितना अच्छा है और उसमें उसने किस-किस तरह के फूल लगा रखे हैं। “मैं बहुत उत्सुकता से अपने घर वापस जाने की राह देख रही हूँ।” उसने कहा, “यहाँ हमारी टर्म का अब एक ही साल रहता है, उसके बाद शायद हम वापस चले जाएँगे। मैं तो कई बार सोचती हूँ कि मैं बच्चों को लेकर पहले ही चली जाऊँ।”

नीलिमा कुछ देर टैरेस पर घूमती रही और वहाँ रखे गमलों में लगे हुए फूलों की प्रशंसा करती रही। “तुम्हें सचमुच मेरा टैरेस अच्छा लगा?” पोलिटिकल सेक्रेटरी की पत्नी ने उससे पूछा।

“सचमुच यह बहुत अच्छी जगह है।” नीलिमा बोली, “यहाँ आकर तो मन होता है कि एक कुरसी पर ढीले होकर पड़े रहें और आसपास की तरफ़ देखते रहें।”

“मैंने सोचा कि तुम भी वहाँ बैठी-बैठी ऊब गयी होगी, इसलिए तुम्हें कुछ देर खुली हवा में ले आऊँ।” पोलिटिकल सेक्रेटरी की पत्नी ने कहा, “अब नीचे चलें?”

“मेरा अभी यहाँ से जाने को मन नहीं हो रहा।” नीलिमा बोली, “अगर मेरे घर में ऐसा टैरेस हो, तो मैं दिन का आधा वक़्त वहीं बैठी रहा करूँ।”

“मैं भी कई बार बहुत-बहुत देर तक यहाँ आकर बैठी रहती हूँ।” पोलिटिकल सेक्रेटरी की पत्नी बोली, “यहाँ आकर मन की सारी ऊब और थकान दूर हो जाती है। मगर...मेरा ख़याल है अब चला ही जाए, क्योंकि वे लोग यह न सोचें कि पति-पत्नी दोनों हमें अकेला छोड़कर चले गये हैं। एटिकेट की माँग है कि...।” और वह एक हल्की-सी हँसी हँस दी, “सचमुच एटिकेट की भी क्या-क्या माँग होती है!”

जब हम लोग लौटकर नीचे आये, तो वहाँ कमरे में अस्वाभाविक-सी खामोशी छायी थी। मिस्टर और मिसेज़ गुलाटी बिल्कुल ख़ामोश बैठे थे और दोनों कलाकार बहुत धीरे-धीरे आपस में ही कुछ बात कर रहे थे। पोलिटिकल सेक्रेटरी की पत्नी ने वहाँ आकर उन लोगों से फिर क्षमा माँगी और मुसकराकर कहा, “मैंने तो सोचा था कि आप लोगों में कला के मूल्यों के सम्बन्ध में खूब गरमागरम बहस हो रही होगी और आप लोग यहाँ बिल्कुल चुपचाप बैठे हैं। ठहरिए, मैं अभी अपने पति को बुला लाती हूँ। वही एक आदमी है जो इतनी बात कर सकता है कि किसी और के बात करने की ज़रूरत ही न रहे। वह और किसी को बात करने का मौका ही नहीं देता। क्यों मिस्टर गुलाटी?”

“उनके रहने से महफ़िल में बहुत रौनक रहती है।” मिस्टर गुलाटी बोले, “उन जैसा जानदार और ज़िन्दादिल आदमी मैंने बहुत कम देखा है।”

“तो मैं अभी उसे बुलाकर ला रही हूँ,” कहती हुई पोलिटिकल सेक्रेटरी की पत्नी फिर वहाँ से चली गयी। वह लौटकर आयी, तो उसके पीछे पोलिटिकल सेक्रेटरी भी वहाँ आ गया।

“मुझे बहुत-बहुत अफ़सोस है।” उसने आते ही कहा, “कि मेरे चले जाने से यहाँ कला-सम्बन्धी बातचीत रुक ही गयी। इसकी सारी ज़िम्मेदारी हमारे 'न्यू हैरल्ड’ वाले दोस्त पर है। मैंने तो सोचा था कि मैं आपको एक आर्ट क्रिटिक के भरोसे छोड़कर जा रहा हूँ, मगर ये आर्ट क्रिटिक के लोग जाने अपने को क्या समझते हैं कि आसानी से अपनी राय ही नहीं बताते! क़सूर मेरी पत्नी का भी है जो इस बेचारे को अपना टैरेस दिखाने ले गयी। यह अपने टैरेस को दुनिया-भर की कला से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण समझती है। मैं पहले आप लोगों को संगीत का एक डोज़ देता हूँ। मैं कहा करता हूँ कि संगीत ही वह चीज़ है जो इन्सान के अन्दर एक नयी रूह फूँक सकती है। संगीत और शराब! इन दोनों चीज़ों से अन्दर के सब जाले उतर जाते हैं। हम अभी दोनों का एक-एक डोज़ लेंगे। मगर पहले संगीत...।”

वह एक कवर खोलकर उसमें से रिकार्ड निकालने लगा, तो नीलिमा ने कहा, "मगर मेरे पति को आप कहाँ छोड़ आये?"

"मुझे अफ़सोस है नीलिमा।" पोलिटिकल सेक्रेटरी हँसकर बोला, "तुम्हारे पति को मैं तुमसे उधार माँगकर ले गया था, मगर वह मुझसे गुम हो गया है। मैं इसके लिए तुमसे बहुत-बहुत क्षमा-प्रार्थी हूँ।"

"वह अन्दर कुछ कागज़ देख रहा है।" उसकी पत्नी बोली, "अभी आ जाएगा।"

"तो तुम्हें वह मिल गया?" पोलिटिकल सेक्रेटरी रिकार्ड छाँटता हुआ अपनी पत्नी से बोला, "शुक्रिया! बहुत-बहुत शुक्रिया! तुमने मेरे सर से एक बोझ उतार दिया, नहीं तो मैं हमेशा के लिए नीलिमा के सामने शर्मिन्दा रहता।" और कुछ रिकार्ड छाँटकर उन्हें रेडियोग्राम में लगाते हुए उसने नीलिमा से कहा, "नीलिमा, तुमने देखा, मेरी पत्नी कितनी अच्छी है! मैं जब भी किसी के पति को गुम करता हूँ, यह फ़ौरन उसे ढूँढ़कर ले आती है। मैं कितनी ही बार इसका तजरबा कर चुका हूँ। यह लो, वह रहा तुम्हारा पति!"

हरबंस उधर से आया और आकर चुपचाप मेरे साथवाली कुरसी पर बैठ गया। वह कुछ घबराहट में था क्योंकि बैठते हुए उसका एक पैर मेरे जूते पर पड़ गया। बैठते ही उसने सिगरेट सुलगा ली और पीछे को टेक लगाकर थोड़ा लम्बा हो गया।

रेडियोग्राम पर ऑर्केस्ट्रा आरम्भ हो गया था। पोलिटिकल सेक्रेटरी ऑर्केस्ट्रा की धुन के साथ-साथ घुटने हिलाता हुआ रिकार्ड छाँट रहा था। उसकी पत्नी कुछ देर के लिए उठकर बाहर चली गयी और लौट आयी। कुछ देर में बैरा एक ट्रे में शराब की बोलतें और गिलास ले आया।

"नीलिमा, तुमने मेरी पत्नी के सामने हमारे टैरेस की कुछ प्रशंसा की कि नहीं?" पोलिटिकल सेक्रेटरी बोला, "एक चीज़ मैं तुम्हें बता दूँ। यह सिर्फ़ उन्हीं लोगों की प्रशंसा करती है जो इसके टैरेस की प्रशंसा करते हैं।"

"वह टैरेस है ही इतना अच्छा कि कोई उसकी प्रशंसा किये बिना रह नहीं सकता।" नीलिमा ने कहा।

"इसका मतलब है कि तुम मेरी पत्नी को पहली बार मिलने पर ही अच्छी तरह जान गयी हो।" पोलिटिकल सेक्रेटरी फिर हँसा, "तुम्हें इन्सान की खूब पहचान है, यह मैं मान गया।" और उसने अपने गिलास को ऊँचा उठाकर कहा, "टू द टैरेस!"

सब लोगों ने अपने-अपने गिलास होंठों से लगा लिये। पोलिटिकल सेक्रेटरी सहसा गिलास रखकर उठ खड़ा हुआ। "संगीत और शराब के साथ तीसरी चीज़ नृत्य।" वह बोला, "नीलिमा, तुम मेरी पार्टनर बनना स्वीकार करोगी? देखो, तुम मुझे इनकार नहीं कर सकतीं। आओ...!"

नीलिमा भी अपना गिलास रखकर उठ खड़ी हुई और वह उसे साथ लेकर नाचने लगा। उसकी पत्नी ने हरबंस के पास जाकर अपना हाथ उसकी तरफ़ बढ़ा दिया। "आओ हरबंस, मैं तुम्हारी पार्टनर बनकर तुम्हारे साथ नाचूँगी," उसने कहा।

मगर हरबंस नहीं उठा। वह जिस तरह ढीला-सा बैठा था, उसी तरह बैठा रहा। "मैं नाचना नहीं जानता।" वह धीरे-से बोला।

"क्या?" पोलिटिकल सेक्रेटरी ने नीलिमा के साथ ग़लीचे पर चक्कर काटते हुए कहा, "तुमने इतने साल लन्दन में रहे और तुमने नाचना नहीं सीखा? नहीं, मैं यह बात नहीं मान सकता। नीलिमा इतना अच्छा नाचती है, तो यह कैसे हो सकता है कि तुम नाचना जानते ही नहीं? तुम्हारी यह बात

मैं नहीं सुनूँगा। आज तुम्हें ज़रूर नाचना पड़ेगा। डार्लिंग, इसे हाथ से पकड़कर वहाँ ले आओ। देखें यह कैसे नहीं नाचता! और मिस्टर गुलाटी, आप भी उठिए। मिसेज़ गुलाटी नाचना जानती हैं, मुझे पता है। हमारा 'न्यू हैरल्ड' का दोस्त और ये कलाकार, इन बेचारों के लिए यहाँ कोई पार्टनर नहीं हैं, इसलिए ये सिर्फ़ बैठकर देखेंगे। आइए मिस्टर गुलाटी, प्लीज़..."

मिस्टर गुलाटी मिसेज़ गुलाटी को लेकर उठ खड़े हुए और बहुत सावधानी से धीरे-धीरे हिलने लगे। पोलिटिकल सेक्रेटरी की पत्नी ने हरबंस को भी हाथ से पकड़कर उठा लिया। हरबंस उसके साथ पहले चक्कर में ही लडख़ड़ा गया। पोलिटिकल सेक्रेटरी ने सहसा नीलिमा का हाथ छोड़ दिया और हरबंस का हाथ अपने हाथ में लेकर उसे जल्दी-जल्दी चक्कर देने लगा। हरबंस का चेहरा कानों तक सुर्ख हो रहा था और उसका एक भी पैर सीधा नहीं पड़ रहा था। पोलिटिकल सेक्रेटरी उसे जिस तरफ़ को भी चक्कर देता था, वह उसी तरफ़ को लुढ़क जाता था। आख़िर उसने अपना हाथ छुड़ा लिया और कठिनाई से अपने को सँभाले हुए अपनी कुरसी पर लौट आया। पोलिटिकल सेक्रेटरी इस पर खिलखिलाकर हँसा और उसने फिर नीलिमा का हाथ थाम लिया। हरबंस का सुर्ख चेहरा कुरसी पर आकर भी काफ़ी देर ठीक नहीं हुआ और उसकी साँस काफ़ी तेज़-तेज़ चलती रही। पोलिटिकल सेक्रेटरी नीलिमा के साथ तेज़ क़दमों से नाचने लगा। मिस्टर और मिसेज़ गुलाटी तब भी मशीन के पुरजों की तरह लगभग एक ही जगह पर हिले जा रहे थे...।

भाग-4

सुषमा से मुझे 'ला बोहीम' में मिलना था। बात चूँकि लोगों की ज़बान पर पहुँच गयी थी, इसलिए मैं इस बार उससे खुलकर बात कर लेना चाहता था। मैं जानता था कि सुषमा भी इसकी प्रतीक्षा में है कि कब मैं उससे इस विषय में बात करता हूँ। पिछले कुछ दिनों में हम जब-जब भी मिले थे तो हमेशा हमें इस तरह लगता रहा था जैसे कि अगली बात हम उसी विषय में करने जा रहे हैं। आँखों से और चेहरे के भावों से वह बात न जाने कितनी बार कही जा चुकी थी! मगर मुँह पर आते-आते बात शायद इसलिए रुक जाती थी कि अगर मन के किसी कोने में अब भी उस विषय में कुछ सोचना बाकी है, तो अगली बार मिलने तक वह और सोच लिया जाए। सुषमा के नाम के साथ थोड़ा इतिहास जुड़ा हुआ है, यह मैं अच्छी तरह जानता था। लोग उसके पुराने मित्रों में कई-एक लोगों की चर्चा करते थे। मगर इस बात को सोचकर मेरे मन में कोई दुविधा नहीं थी। मैं सोचता था कि इस तरह का इतिहास किसके जीवन में नहीं होता! क्या मेरे अपने जीवन में इस तरह का कोई इतिहास नहीं था? और जितने लोगों को मैं जानता था, उनमें कौन ऐसा था जो इस तरह के इतिहास से बिल्कुल बचा हुआ था? फ़र्क़ इतना ही तो था कि कुछ लोगों के इतिहास की चर्चा सिर्फ़ थोड़े-से लोगों में और सिर्फ़ एक फुसफुसाहट के रूप में होती थी और सुषमा के इतिहास की लोग खुलकर चर्चा कर लेते थे। और इसका कारण भी तो सुषमा का अपना खुलापन ही था।

वह कभी अपने मित्रों के सम्बन्ध में बात करते हुए किन्तु-परन्तु का प्रयोग नहीं करती थी। जितना कुछ लोगों के मुँह से जाना जा सकता था, उससे कहीं ज़्यादा उसने खुद ही मुझे बता दिया था। लोग कहते थे कि सुषमा लोगों के घर तोड़ती है, वह 'होम-ब्रेकर' है। मगर मैं जानता था कि वह घर तोडऩा नहीं, घर बनाना चाहती है। अपने लिए घर बनाने और उसमें रहने की उसे कितनी चाह है, यह बात उसके शब्दों से ही नहीं, सारे हाव-भाव से प्रकट होती थी। मैं यह जानता था कि वह मेरे ऊपर जो इतना निर्भर करने लगी है, उसके पीछे भी मूल भावना यही है। यह बात ठीक थी कि उसने अपने आकर्षण के प्रभाव को कई लोगों पर आज़माने का प्रयत्न किया था। यह उसके लिए एक खेल की तरह था। उसने मुझसे कहा था कि इस खेल को ख़तरनाक हद तक उसने कभी नहीं जाने दिया। लोग उसे जो भी कहें, उसने आज तक किसी का घरेलू जीवन नष्ट नहीं किया। "जो

लोग इतनी कच्ची ज़मीन पर खड़े हैं कि कोई भी लडक़ी उनकी तरफ़ अपनी उँगली बढ़ाये, तो वे उसे पकडक़र चल सकते हैं उनके साथ कुछ खिलवाड़ करने में अच्छा नहीं लगता?” उसने हँसकर कहा था, “मैं कई बार सिर्फ़ यही देखना चाहती थी कि कौन आदमी जो ऊपर से बहुत बनता है, वास्तव में कितने डगमग क़दमों से चल रहा है।”

मैंने एक बार ख़ास तौर पर हरबंस के बारे में पूछा, तो उसने थोड़ी-सी बात कहकर टाल दिया था। “वह तुम्हारा दोस्त है।” उसने कहा, “इसलिए ज़्यादा तुम उसी से पूछ लेना। मैं सिर्फ़ इतना जानती हूँ कि उस जैसे आदमी के साथ मेरी मित्रता हो ही नहीं सकती थी।”

मैंने उस बात को ज़्यादा तूल नहीं दिया। यह जानते हुए कि हरबंस मेरा मित्र है, वह उसके बारे में ज़्यादा बात कर भी कैसे सकती थी? मेरे मन में अगर दुविधा थी, तो वह अपनी बात सोचकर ही थी। क्या मैं सुषमा जैसी लडक़ी के साथ विवाहित जीवन की ज़िम्मेदारी उठाने के लिए तैयार था? मेरे मन में इसके विपक्ष में दलील कोई नहीं थी, फिर भी न जाने क्यों एक हिचक-सी थी। मैं अपने से पूछता था कि क्या मेरे मन में सुषमा के लिए उस तरह की भावना है जैसी कभी किसी और के लिए थी?

मगर मैं इस सवाल को दिमाग़ से निकाल देना चाहता था। भावना की नापजोख इस तरह कैसे हो सकती हैर और बरसों पहले की मन:स्थिति के साथ मैं आज की मन:स्थिति की तुलना कर ही कैसे सकता था? इस तरह पैमाना लेकर बैठने से क्या ज़िन्दगी कभी चलती है? गुज़रे हुए दिन गुज़र गये थे और मुझे अपने लिए आज की और आनेवाले कल की व्यवस्था करनी थी। अपनी इस दुविधा से निकलने के लिए मैंने उन दिनों की सारी बात सुषमा को बता भी दी थी। इस पर वह सिर्फ़ एक बार हँस दी थी और उसने कहा था, “शुक्ला सचमुच बहुत अच्छी लडक़ी है। मैं उसे अब भी बहुत प्यार करती हूँ।”

मेरे मन में एक हल्की-सी दुविधा और भी थी। सुषमा के अपने बने हुए विचार थे। वह हर विषय पर इतने अधिकारपूर्ण ढंग से बात करती थी और इतने सधे ढंग से अपनी बात रखती थी कि उसके साथ बहस करके उसके मत को बदलना लगभग असम्भव प्रतीत होता था। उसके बहुत से विचार ऐसे थे जिनसे मैं दिल से सहमत नहीं हो सकता था, मगर मैं अपने पक्ष का प्रतिपादन उतनी अच्छी तरह नहीं कर पाता था जितनी अच्छी तरह वह अपने पक्ष का प्रतिपादन करती थी। इसका एक कारण शायद यह भी था कि मैं उसकी बात धैर्य के साथ सुन लेता था। और वह मेरी बात सुनते हुए एकदम अधीर हो उठती थी। वह जब अधीर होकर बात करती थी, तो उसकी बातों में एक चामत्कारिक-सा प्रभाव आ जाता था। जीवन के सम्बन्ध में उसकी दृष्टि बहुत ही व्यक्तिवादी थी जिससे मुझे चिढ़ होती थी। एक बार बात-बात में उसने कहा था, “मैं इन्सान हूँ, तो मैं ठीक से जीऊँ क्यों नहीं? हम सब जानते हैं कि जीने की अपनी शर्तें हैं। हमें जीना है तो हमें उन शर्तों का पालन करना ही चाहिए। ठीक से जीना है, तो ठीक से पालन करना चाहिए।”

“मगर इन्सान जीने की शर्तों को बदल भी तो सकता है।” मैंने कहा, “अगर ऐसा न होता, तो हम आज भी आदिम काल की शर्तों पर ही ज़िन्दगी बिता रहे होते।”

“समय के साथ शर्तें बदल जाती हैं, यह मैं मानती हूँ, मगर उनके बदलने-बदलने में लाखों-करोड़ों आदमियों की ज़िन्दगियाँ तबाह हो जाती हैं। उन्हें ज़्यादा से ज़्यादा इतना सन्तोष मिल सकता है कि वे इतिहास में जीते हैं। और इतिहास में भी नाम बनकर नहीं, केवल एक घटना बनकर। और कई बार तो घटना बनकर भी नहीं, केवल एक परिस्थिति बनकर। उस तरह जीने में इन्सान का अपना क्या रह जाता है?”

“और इस तरह जीने में इन्सान का अपना क्या होता है?”

“क्यों? बहुत कुछ है जो अपना होता है। मुझे खाने-पहनने का शौक है, घूमने का शौक है, अच्छा संगीत सुनने का शौक है। ये सब शौक पूरे होते हैं, तो मुझे अपने जीवन का कुछ अर्थ नज़र आता है। बाकी बातें किताबों में पढने के लिए तो ठीक हैं, उन्हें अपने पर लागू करना बहुत मुश्किल है। और जो लोग इस तरह का दावा करते हैं, तुम समझते हो कि वे सचमुच अपने व्यक्ति को भूलकर जीते हैं? फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि कुछ लोग ज़िन्दगी में एक तरह का धोखा बनाये रखना चाहते हैं और मैं अपने को उस धोखे से मुक्त रखना चाहती हूँ। हमारे आसपास जो लोग बहुत-बहुत सिद्धान्तों की बातें बघारते हैं, तुम उनमें से किसी को भी देख लो। यह बहुत साफ़ नज़र नहीं आता कि उसकी सैद्धान्तिक ज़िन्दगी और व्यक्तिगत ज़िन्दगी में एक बहुत बड़ी खाई है?”

“अगर कुछ लोगों की ज़िन्दगी में इस तरह की खाई है, तो इसका यह मतलब तो नहीं कि इस तरह की खाई रखे बग़ैर जिया ही नहीं जा सकता...।”

“नहीं जिया जा सकता सूदन, बिल्कुल नहीं जिया जा सकता।” वह हठ के साथ बोली, “जो आदमी आज इस तरह जीने की कोशिश करेगा, उसे ज़िन्दगी दो दिन में बुहारकर एक तरफ़ कर देगी। तुम ज़िन्दगी में यह ख़तरनाक कोशिश करके देखो, तो तुम्हें खुद पता चल जाएगा और इसके बाद एक स्नेहपूर्ण स्पर्श के साथ उसने कहा, “मगर मैं यह भी कभी नहीं चाहूँगी कि तुम इस तरह की कोशिश करो। एक प्रयोग करने-करने में अपनी ज़िन्दगी नष्ट कर देना, यह कहाँ की अक्लमन्दी है! यह ज़्यादा अच्छा नहीं कि इस विषय में मग़ज़पच्ची करने की बजाय हम लोग चलकर कोई अच्छी-सी पिक्चर देखें? ‘प्लाज़ा’ में ‘एराउंड द वर्ल्ड इन एटी डेज़’ तुमने देख ली है?”

“नहीं, अभी नहीं देखी।” मैंने कहा।

“मैं एक बार देख आयी हूँ।” वह बोली, “मगर तुम्हारे साथ एक बार फिर देखना चाहूँगी। तुम इस वक़्त चल सकोगे?”

“हाँ-हाँ, क्यों नहीं!”

“तो आओ चलें। यह बहस-मुबाहिसा किसी और दिन करेंगे।”

मैंने धीरे-धीरे अपने मन की रुकावट पर भी काबू पा लिया था। साथ-साथ जीवन बिताने की यह एक अनिवार्य शर्त कैसे थी कि पति-पत्नी के विचारों में साम्य हो ही? सुषमा अपनी तरह से सोचती थी, तो ठीक था। उसके अपने विचार थे। मेरे विचार उससे अलग थे, तो क्या यह ज़रूरी था कि वह भी मेरे विचारों को अपने ऊपर ओढ़ ले? और आगे चलकर उसके विचार बदल भी तो सकते थे। और न भी बदले, तो क्या था? विवाहित जीवन में दो व्यक्तियों को एक-दूसरे के विचारों का सम्मान नहीं करना चाहिए?

‘ला बोहीम’ के एक अँधेरे कोने में बैठे हुए यही बातें फिर बार-बार मेरे मन में उठ रही थीं। सुषमा अपने सफ़ेद कोट में बहुत अच्छी लग रही थी। उतनी अच्छी वह मुझे पहले कभी नहीं लगी थी। सोने के छोटे-छोटे गोल टॉप्स उसके लम्बे साँवले चेहरे पर बहुत खिल रहे थे। वह बात करते समय अपनी गरदन सीधी करती, तो उसकी लचक से मेरे शरीर में एक सिहरन-सी भर जाती। मुझे लग रहा था कि उसकी गरदन में उतनी लचक पहले मैंने कभी नहीं देखी। वह और दिनों की अपेक्षा बहुत प्रसन्न भी नज़र आ रही थी।

“तो?” हम दोनों जितने फ़ासले पर बैठे थे उतने फ़ासले से हम हाथ बढ़ाकर एक-दूसरे को छू भी सकते थे और कभी-कभी प्लेट पकड़ाते समय तो वह फ़ासला और भी कम प्रतीत होता था। मगर

अचानक बीच में खामोशी का एक व्यवधान आ जाता और उसमें वह फासला काफ़ी बड़ा लगने लगता। फ़ासला कम होता था, तो मैं केवल उसी को देखता था। फ़ासला बढ़ जाता था, तो मुझे दूसरी बातों का भी ध्यान आने लगता था।

हम लोग खाना खा चुके थे। खाने के लिए मैंने जो 'डिशें' मँगवायी थीं, खाते समय मुझे खुद उनके नाम याद नहीं रहे थे। मैंने जान-बूझकर कुछ अपरिचित डिशों का ऑर्डर दिया था; कुछ तो सुषमा को प्रभावित करने के लिए और कुछ अपने-आपको ज़िन्दगी के एक और ही स्तर पर महसूस करने के लिए। बैरा आकर प्लेटें उठाने लगा, तो मैंने उससे कॉफ़ी लाने के लिए कह दिया। बैरा फिर भी झुका रहा, "कौन-सी कॉफ़ी सर? इटालियन फ़िल्टर, बेल्जियन फ़िल्टर, या...?"

"बेल्जियन फ़िल्टर।" मैंने बिना यह जाने कि इटालियन फ़िल्टर और बेल्जियन फ़िल्टर में क्या फ़र्क है, बहुत सरसरे ढंग से कह दिया और सुषमा की तरफ़ मुडक़र कहा, "तो हाँ...?"

हम लोगों को साथ-साथ बैठे लगभग पौन घंटा हो गया था। मगर जिस विषय पर मुझे बात करनी थी, उस विषय पर मैं तब तक नहीं आ सका था। वह जब भी मुसकराती थी, तो मुझे लगता था कि वह आशा कर रही है कि मैं अब उस विषय में बात करूँगा और मैं यह सोचकर टाल जाता था कि शायद यह नहीं, इसके बाद आनेवाला कोई क्षण उस बात के लिए ज़्यादा उपयुक्त होगा। हम दोनों आँखों ही आँखों में लगातार एक-दूसरे की टोह ले रहे थे और प्रतीक्षा कर रहे थे। खाना खाते समय जो एक बत्ती जल रही थी, कॉफ़ी आ जाने पर सुषमा ने उसे भी स्विच दबाकर बुझा दिया, जिससे हमारे वाली मेज़ बिल्कुल अँधेरे में घिर गयी। रिकॉर्ड पर हल्का वाद्य संगीत वातावरण के रहस्यमय प्रभाव को और भी बढ़ा रहा था। अँधेरे में सुषमा की बड़ी-बड़ी आँखें बहुत भावपूर्ण लग रही थीं और उनमें पहले से कहीं ज़्यादा चमक आ गयी थी। उसने बेल्जियन फ़िल्टर के ढक्कन उठाकर रख दिये और कॉफ़ी में चीनी मिलाने लगी। इन सब चीज़ों के बारे में वह नि:सन्देह मुझसे कहीं ज़्यादा जानती थी।

सवाल हम दोनों की आँखों में था जिसे टालते हुए हम 'ला बोहीम' की नेवाड़ी छत और फ़ानूसदार बत्तियों के बारे में, पिछले दिनों देखे हुए नृत्यों और नाटकों के बारे में और एक-दूसरे की टिप्पणियों और लेखों के बारे में बातें कर रहे थे। सुषमा को यह जानकर आश्चर्य हुआ था कि अपने पत्र में दिल्ली की गलियों के विषय में लेख मैंने लिखा था। उसे वह लेख बहुत पसन्द आया था। "उस लेख से सचमुच यह लगता था कि किसी ने उन गलियों में जाकर उन्हें बहुत पास से देखा है।" उसने कहा, तुमने उसमें जो एक बुड्ढे मुसलमान सितारवाले की बात लिखी थी, वह टच बहुत ही अच्छा था। क्या सचमुच ऐसा कोई शख्स तुम्हें वहाँ मिला था?"

मैंने कहना चाहा कि मैं उस शख्स से मिला ही नहीं, उसे बहुत पास से जानता रहा हूँ; बल्कि जिस घर में वह रहता है, उसी घर में कई महीने रहा भी हूँ, मगर यह बात मुझे उस समय की मानसिक स्थिति के अनुकूल नहीं लगी। मैं अपने प्रस्ताव की भूमिका के रूप में अपने को उस पुरानी ज़िन्दगी की याद नहीं दिलाना चाहता था। मैं जानता था कि वह एक ऐसा विषय है जो मेरे मन को सीधी पटरी से हटाकर गुमराह कर देता है। मैं उस समय गुमराह नहीं होना चाहता था, इसलिए मैंने उससे इतना ही कहा कि मैंने जो कुछ लिखा था कल्पना से नहीं लिखा था, हालाँकि मेरे ख़याल में सारा अध्ययन बहुत सतही और अधूरा था।

"यह सिर्फ़ तुम्हारी विनम्रता है, नहीं तो यह स्टडी तो मेरे ख़याल में...।" मैं जानता था कि वह जो कुछ कह रही है, उसका सीधा सम्बन्ध उस विषय से न होकर, जिसकी वह बात कर रही है, एक और ही विषय से है जिसकी बात अभी आरम्भ होने को है। मेरे लेखों की प्रशंसा वह उसी तरह कर रही थी जैसे हम किसी का घर किराये पर लेने के लिए जाएँ तो पहले उसके बच्चे की प्रशंसा करते हैं।

"तो..."

हम दोनों में जैसे एक खेल चल रहा था जिसमें 'तो' कहकर गेंद एक तरफ़ से दूसरी तरफ़ फेंक दी जाती थी। दूसरा कुछ देर उधर से इधर की बातें करता था और फिर 'तो' के साथ गेंद उधर से इधर कर देता था।

"तुमने कहा था कि आज तुम कुछ गम्भीर बात करना चाहते हो।" आख़िर सुषमा ने ही उस विषय की ओर संकेत किया। मुझे खुशी हुई कि खेल का पहला दौर मेरे ही हाथ में रहा है।

"यह हल्का-हल्का संगीत कितना अच्छा लग रहा है!" मैंने अपनी जीत का मज़ा लेते हुए कहा, "दिल्ली में यह अपनी तरह की एक ही जगह है। मन होता है कि ऐसे और भी कई रेस्तराँ यहाँ हों।"

"यह तो है ही," वह अपने में कुछ सिमट गयी। कुछ देर हम जैसे संगीत सुनने के लिए चुप रहे। उसके सफ़ेद कोट का आगे को उभरा हुआ भाग जल्दी-जल्दी हिल रहा था। उसकी साँस कुछ तेज़-तेज़ चल रही थी। जब रिकॉर्ड बदल गया, तो उसने कहा, "मैं भी एक बात तुम्हें बताना चाहती हूँ, मगर अभी नहीं बताऊँगी। तुम पहले अपनी बात कर लो, बाद में बताऊँगी।"

"नहीं, पहले तुम अपनी बात बताओ।"

"नहीं, पहले तुम बात कर लो।"

"मैं तो सिर्फ़ तुमसे मिलने का बहाना चाहता था। बात कुछ भी नहीं थी।"

"पहले तो मुझसे मिलने के लिए जैसे तुम बहाने की तलाश करते हो!"

वह मुसकरायी, तो उसका चेहरा थोड़ा लाल हो गया जिससे वह और भी सुन्दर लगने लगी। जाने उसकी कॉफ़ी में चीनी ठीक से नहीं मिली थी, या वैसे ही वह अपनी कॉफ़ी को चम्मच से हिलाने लगी। उसकी पतली-सी उँगली में रूबी की अँगूठी चमक रही थी। मैंने हाथ बढ़ाकर उस उँगली को हल्के से छू दिया और कहा, "तुम्हारी यह अँगूठी बहुत सुन्दर है!"

"शुक्रिया!" वह बोली, "वैसे कोई खास अच्छी तो नहीं है।"

"मुझे बहुत अच्छी लग रही है।"

"तो तुम्हें उतार दूँ?"

"मुझे पूरी आ जाएगी?"

"तुम्हें नहीं तो तुम्हारी पत्नी को पूरी आ जाएगी।" कहते हुए उसने अँगूठी उतार दी और अपनी हथेली पर रखकर मेरी तरफ़ बढ़ा दी। मैं पल-भर उसके हाथ को अपने हाथ में लिये रहा और उसकी आँखों में देखता रहता। "मेरी कोई पत्नी होगी, तभी तो उसे पूरी आएगी," मैंने कहा।

"तुम रख लो," वह बोली, "जब होगी, तब उसे पहना देना।"

"और तब तक?"

"तब तक इसे अपने सन्दूक में रख छोडऩा।"

"इतनी कीमती चीज़ मेरे सन्दूक में रहेगी, तो मेरे लिए रात को सोना मुश्किल हो जाएगा।" मैंने कहा और अँगूठी उसकी हथेली से उठाकर उसकी उँगली में पहना दी। "और सन्दूक की जगह यह

यहीं ज़्यादा अच्छी लगती है।” अँगूठी पहनाते हुए मैंने महसूस किया कि उसकी उँगलियों का दबाव मेरी उँगलियों पर कुछ बढ़ गया है। अँगूठी पहना चुकने के बाद भी पल-भर हमारी उँगलियाँ आपस में उलझी रहीं। सुषमा जानती थी और मैं जानता था कि वही क्षण शायद हमारे लिए निर्णय का क्षण है।

“तुम्हारा ब्याह होगा, तो मैं यह अँगूठी अपनी तरफ़ से तुम्हारी पत्नी को उपहार में दे दूँगी।” वह बोली।

“और अगर मैं ब्याह से पहले ही यह उसे देना चाहूँ...?”

“तो तुम मुझसे माँग लेना।”

“और अगर मैं चाहूँ कि तुम्हीं इस अँगूठी को पहने रहो...?”

उसके सफ़ेद कोट का उतार-चढ़ाव पहले से भी तेज़ हो गया था। उसने कॉफ़ी की प्याली उठायी और ज़रा ऊपर तक ले जाकर फिर नीचे रख दी। उसकी उँगलियाँ जैसे इतनी अशक्त हो गयी थीं कि कॉफ़ी की प्याली का भार भी नहीं सँभाल सकती थीं। उसके चेहरे पर लालिमा की तहें गहरी होती जा रही थीं, जैसे साफ़ पानी में बार-बार एक रंग छिटक जाता हो और इससे पहले कि वह घुलकर विलीन हो जाए, उसमें और रंग आ मिलता हो। रंग के उस आक्रमण से थककर उसने पीछे टेक लगा ली। कुछ क्षणों के लिए वह प्रसिद्ध पत्रकार सुषमा श्रीवास्तव की जगह एक बहुत साधारण लडक़ी हो गयी। जाने सचमुच ऐसा था, या अँधेरे में मेरी कल्पना को ऐसा लग रहा था!

“मेरा ख़याल है अब हमें गम्भीर होकर बातें करनी चाहिए।” आखिर उसने अपनी थकान से संघर्ष करते हुए कहा।

“तुम्हें यह क्योंकर लगा कि अब तक हम गम्भीर होकर बातें नहीं कर रहे थे?”

मैं फिर मुसकराया। उसने भी मुसकराने की चेष्टा की, मगर अपनी थकान में ठीक से मुसकरा नहीं सकी।

“तुम आज बिल्कुल दूसरी तरह के मूड में हो।” उसने कहा।

“किस तरह के मूड में?”

“बिल्कुल और ही तरह के मूड में। मैं सोचती थी कि जाने ऐसी कौन-सी गम्भीर समस्या आ खड़ी हुई है जिसके बारे में तुम बात करना चाहते हो!”

मैंने अपना हाथ उसकी तरफ़ बढ़ाया, तो उसने चुपचाप अपना हाथ मेरे हाथ में दे दिया। मैं पल-भर उसकी उँगलियों को सहलाता रहा। फिर मैंने कहा, “क्या हम सचमुच एक गम्भीर समस्या के बारे में ही बातचीत नहीं कर रहे हैं?”

“तुम तो शरारत करते हो।” वह बोली।

“इसमें शरारत क्या है?”

“यह शरारत नहीं तो और क्या है?” कहते हुए उसने अपना हाथ छुड़ा लिया।

“तो तुम बताओ इस विषय में गम्भीर बात और किस तरह से की जाती है?”

“मुझे अभी विषय का ही नहीं पता, तो मैं तुम्हें यह कैसे बताऊँ?”

"तुम सच कहती हो कि तुम नहीं जानतीं कि हम किस विषय में बात कर रहे हैं?"

वह थोड़ा मुसकरायी और एक हाथ को दूसरे हाथ से सँभालती हुई थोड़ा आगे की तरफ़ झुक गयी।

"तुम यह गम्भीर होकर कह रहे हो?"

"बिल्कुल गम्भीर होकर कह रहा हूँ।"

"जितना तुम मुझे जानते हो, उसके बाद तुम्हारे मन में कहीं कोई शंका तो नहीं है?"

"मेरे मन में कोई शंका नहीं है। तुम मुझे अपने मन की बात बताओ।"

"मेरे मन की बात क्या तुम पहले से ही नहीं जानते?"

"फिर भी क्या कुछ बातें ऐसी नहीं हैं जो हमें और विस्तार से जान लेनी चाहिए?"

"जैसे?"

"जैसे कि हम लोग इसके बाद अपनी ज़िन्दगी को कैसी रूपरेखा बनाकर रहेंगे, कहाँ रहेंगे, किस तरह रहेंगे...?"

"हाँ-हाँ। इसी बारे में तो मैं तुम्हें कुछ बताना चाहती थी। मैंने समझा...तुम दूसरी बात के बारे में कह रहे हो।"

"दूसरी कौन-सी बात के बारे में?"

"एक-दूसरे के विषय में और विस्तार से जानने के बारे में।"

"मैं तुमसे एक बात पूछूँ?"

"पूछो।"

"तुम यह निश्चय हारकर एक समझौता करने के रूप में तो नहीं कर रहीं?"

वह पल-भर कुछ सोचती रही। जैसे मेरे शब्दों की तह में जाना चाहती हो। फिर बोली, "ऐसा होता, तो मैं तुमसे साफ़ कह देती। यूँ तो किसी आदमी को पूरी तरह उसके साथ रहकर भी नहीं जाना जाता...।"

"मगर क्या...?"

"मगर मैं इतना कह सकती हूँ कि जितनी बार मैं तुमसे मिली हूँ, मुझे लगा है कि तुम दूसरे लोगों से काफ़ी अलग हो और जिस तरह विश्वास और भरोसे के साथ मैं तुमसे बात कर सकती हूँ, उस तरह और किसी से नहीं कर सकती। आज तो खास तौर पर मुझे लग रहा था कि...।"

"क्या लग रहा था?"

"लग रहा था जैसे मैं अपने सबसे घनिष्ठ मित्र से बात कर रही हूँ।"

संगीत की एक लहर उधर की चमकती हुई मेज़ों के पास से भटकती हुई हमारे आसपास के अँधेरे में से होकर गुज़र गयी। उसके बाद कई एक लहरें साथ-साथ चली आयीं, जैसे कि कुछ देर से वे दूर ठिठकी हुई थीं, एक जगह स्तब्ध होकर हमें देख रही थीं और अब उन्होंने अपने आगे का बाँध

तोड़ दिया था और तेज़ी से हमें चारों ओर से घेर लेने के लिए बढ़ आयी थीं। मुझे महसूस होने लगा कि उन लहरों में एक उन्माद है जो मेरे अन्दर भी प्रतिध्वनित हो रहा है। मगर उस प्रतिध्वनि में भी मेरे अन्दर की एक ध्वनि डूब नहीं पायी थी—बहुत गहरे से ऊपर को उठती हुई ध्वनि जो कि एक घायल होकर गिरे हुए पक्षी की तड़प की तरह थी—उस तड़प की तरह जो भूनकर और सजाकर प्लेट में रख दिये जाने पर भी उसके अन्दर से मिट नहीं पाती और छुरी से कटते हुए हर रेशे के अन्दर से बोल उठना चाहती है। वह तड़प किस चीज़ की थी? एक पुरानी कुचली हुई भावना की या किसी और चीज़ की?

मगर संगीत की लहरों के वेग में वह तड़प धीरे-धीरे डूबती जा रही थी। मैं उन लहरों में इस तरह खो रहा था कि उनकी लय उस समय मेरे विचारों की भी लय हो गयी थी। वह लय ही मेरे लिए सच थी और वह तड़प—वह एक झूठ था जो मेरे अन्दर से मुझे छलना चाहता था। मगर मैं इतना असावधान, इतना एडोलेसेंट नहीं था कि उसे अपने पर छा जाने देता। मेरा विवेक, मेरा तर्क, मेरा इतने वर्षों का अनुभव और उन सबसे ऊपर सुषमा का सहज व्यवहार, बहुत कुछ था जो मुझे उस अनुभव से बचाये रख सकता था। उस तरह के अनुभव में अपने को खो देने की किशोर स्थिति से मैं बहुत आगे आ चुका था। मैं अब उतना कच्चा नहीं था जितना दस वर्ष पहले था। मैं जानता था कि मैं जीवन में अबाध सुख की कामना नहीं कर सकता। मैं सुख को सुख के और दुख को दुख के रूप में पहचानता अवश्य था, उन दोनों से पैदा होनेवाले दर्द को भी जानता था, मगर सुख और दुख का दर्द अब कभी मेरे मन को उसकी सम्पूर्णता में नहीं छा सकता था। सुख और दु:ख के हर अनुभव में मेरे अन्दर का वयस्क पत्रकार सदा मुझे सचेत रखता था और जब भी मेरा मन भटकने लगता, तो मुझे बाँह से पकडक़र ठीक सडक़ पर ले आता था।

“तुम सच-सच बताओ तुम्हें कैसा लग रहा है?” उसने पूछा।

“मुझे?” मैंने वयस्क भाव से हँसकर कहा, “मुझे जैसा लग रहा है, वह मैं शब्दों में प्रकट नहीं कर सकता।”

इससे उसकी आँखों में एक ऐसा भाव उमड़ आया कि कई पल मैं सिर्फ़ उसकी तरफ़ देखता रहा। उसके कोट का उतार-चढ़ाव पहले से कुछ हल्का पड़ गया था। उसने एक बार अपने खुश्क हुए होंठों पर ज़बान फेरी और एकटक मेरी तरफ़ देखते हुए कॉफ़ी का प्याला उठाकर मुँह से लगा लिया।

“तो?” कुछ देर इधर-उधर भटककर हम फिर उसी ‘तो’ वाले कोर्ट में पहुँच गये।

“मेरा ख़याल है अब यहाँ से चला जाए।” वह बोली।

“अब कहाँ चलने का इरादा है?”

“यहाँ से मेरे यहाँ चलो। मुझे तुमसे जो बात कहनी है, वह वहीं चलकर बताऊँगी। तुम्हें अपना कमरा भी दिखा दूँगी। आज तक तुमने मेरा कमरा तो देखा ही नहीं। और बात वहीं बैठकर करेंगे। तुम्हें कहीं जाने की जल्दी तो नहीं है?”

“नहीं, मुझे क्या जल्दी होगी? मगर तुम पहले कहतीं, तो कॉफ़ी वहीं चलकर पीते।”

“अब भी तो पी सकते हैं। मेरे पास अपना पर्क्युलेटर है।”

“पर्क्युलेटर से ज़्यादा बड़ी बात यह है कि तुम अपने हाथ से बनाओगी।”

इस पर वह खुलकर हँस दी। उसके दाँत बहुत छोटे-छोटे और सफ़ेद थे, खूब तीखे और चिकने, जैसे सान पर तेज़ किये गये हों। “कितनी पुरानी बातें हैं,” वह बोली, “फिर भी कितनी

अच्छी लगती हैं! वैसे सभी पुरुष इस तरह की बातें कहते हैं।"

"यह तुमने कैसे सोच लिया कि मैं सभी पुरुषों में से नहीं हूँ?"

"लगते तो नहीं हो।"

"सच?"

वह फिर एक बार हँस दी। मैंने बैरे से बिल लाने के लिए कह दिया।

कॉन्सीक्यूशन-हाउस में पहली मंज़िल पर उसका कमरा था। वैसे बड़े कमरे के साथ एक छोटा कमरा भी था। हर चीज़ बहुत साफ़, उजली और करीने से रखी हुई थी।

"तुम बहुत ढंग से रहती हो।" मैंने उससे कहा, "कभी मेरा कमरा देखो, तो तुम्हें लगेगा कि वह कमरा नहीं, एक गोदाम है।"

"ऐसा कैसे हो सकता है?" वह बोली, "तुम यूँ ही मुझे बना रहे हो।"

"मैं बना नहीं रहा, सच कह रहा हूँ।" मैंने कहा, "तुम कभी चलकर देखो, तो खुद ही कहोगी।"

"मैं यह बात मान ही नहीं सकती।"

"तुम नहीं मानना चाहो, तो मैं ज़बरदस्ती तो नहीं मनवा सकता, मगर असलियत वही है जो मैं तुमसे कह रहा हूँ।"

"अब यूँ ही बात मत किये जाओ। तुम्हारे जैसा कल्चर्ड आदमी अपने कमरे को गोदाम बनाकर रहता होगा!"

"हो सकता है मैं उतना कल्चर्ड नहीं हूँ जितना तुम समझती हो।"

"अच्छा ठीक है, मैं मान लेती हूँ। आज तो तुम जो कुछ भी कहोगे, मैं सब मान लूँगी।"

मैंने सोफ़े पर बैठकर अपनी टाँगें सामने की तिपाई पर फैला दीं। "तुम्हें एतराज तो नहीं है?" मैंने मुसकराकर पूछा।

"मैं जानती हूँ तुम यह सब क्यों कर रहे हो।" वह कोट उतारती हुई बोली, "मगर मुझे तुम्हारी किसी बात पर एतराज नहीं है।"

"वैसे तुम्हें यह अच्छा नहीं लगता न?"

"तुम्हें अच्छा लगता है?"

मैंने अपनी टाँगें समेट लीं। कोट उतार देने पर उसके शरीर का उभार उतना सुडौल नहीं रहा जितना कोट पहने हुए लगता था। शायद उसका ब्लाउज़ एक साइज़ ढीला था। मैंने उसके चेहरे की तरफ़ देखा, तो वहाँ भी हल्की-हल्की लकीरें खिंच आयी थीं। शायद इसलिए कि वह पैदल वहाँ तक आने से थक गयी थी, या शायद इसलिए कि उसे मेरे व्यवहार से कुछ निराशा हुई थी। एक कारण यह भी हो सकता था कि घर के वातावरण में आकर हर चेहरा अपना ऊपरी लिबास उतारकर अपने को वैसे ही ढीला छोड़ देता है। मगर सिर्फ़ कोट उतार देने से किसी के आकार-प्रकार में

इतना फ़र्क़ पड़ सकता है, यह बात उस समय मुझे कुछ विचित्र-सी लगी।

"मैं कॉफ़ी रख दूँ, अभी आती हूँ।" कहकर वह पीछे के छोटे कमरे में चली गयी। जब वह लौटकर आयी, तो उसने नाइट सूट के साथ नीला धारीदार ड्रेसिंग गाउन पहन रखा था और बालों की पिनें निकालकर उन्हें बहुत ढीले-ढाले ढंग से लपेट लिया था। ड्रेसिंग गाउन में उसके शरीर की सब गोलाइयाँ छिप गयी थीं और ढीले बालों से उसका चेहरा एक सियामी गुड़िया के चेहरे जैसा लग रहा था।

"मुझे कुछ देर लग गयी।" उसने आकर कहा, "कॉफ़ी अभी दो-चार मिनट में हुई जाती है। मेरा ख़याल है मैं कॉफ़ी ले आऊँ, तो एक ही बार आकर बैठूँ।"

जब तक वह कॉफ़ी लेकर आयी, तब तक मैं उसके कमरे की साज-सजावट को देखता रहा। एक तरफ़ ताँबे का हंसों का जोड़ा रखा था। दूसरी तरफ़ प्लास्टर ऑफ़ पैरिस की स्याह मूर्ति थी—दो अस्पष्ट आकृतियों के सम्मिलन का छायाभास देती हुई। दीवार पर लगे चित्रों में कहीं दो पेड़ थे और कहीं दो जिराफ़। बिस्तर के पास तिपाई पर डचेस ऑफ़ विंडसर की आत्मकथा रखी थी 'द हार्ट हैज़ इट्स रीज़न्स'।

"तुम आजकल डचेस की आत्मकथा पढ़ रही हो?" उसने कॉफ़ी प्यालों में डाल दी, तो मैंने पूछा।

"हाँ," वह बोली, "मैं पहले भी एक बार पढ़ चुकी हूँ। मुझे यह पुस्तक बहुत अच्छी लगती है।"

"तुम जब कॉफ़ी बना रही थीं, तो जानती हो मैं क्या देख रहा था?"

"क्या देख रहे थे?"

"देख रहा था कि तुमने अपने कमरे की सजावट के लिए जितनी चीज़ें चुनी हैं, उनमें सब तरह के जोड़े इकट्ठे कर रखे हैं। पेड़, पशु, पक्षी और इन्सान, सबके जोड़े यहाँ हैं।"

उसने एक बार आश्चर्य के साथ कमरे की सब चीज़ों पर नज़र दौड़ायी और हँसकर बोली, "मैंने इस नज़र से इन चीज़ों को कभी नहीं देखा।"

"और मैं हैरान हो रहा था कि फिर भी तुमने आज तक अपने लिए इस तरह की अकेली ज़िन्दगी क्यों चुन रखी है।"

"मैंने यह ज़िन्दगी चुन रखी है?" उसके स्वर में कुछ कटुता आ गयी जिससे उसके चेहरे की लकीरें और स्पष्ट हो उठीं, "मैं कब से इस ज़िन्दगी से तंग आ चुकी हूँ।" उसने अपने सिर को झटक लिया जिससे उसका ढीला जूड़ा खुल गया। उसने अपने सारे बालों को दाएँ कन्धे पर ले लिया।

"मगर तुम चाहतीं, तो तुम बहुत पहले ही इस ज़िन्दगी को नहीं बदल सकती थीं?"

"पहले तो खैर मैं इस तरफ़ ध्यान ही नहीं देती थी।" वह बोली, "मगर एक-डेढ़ साल से जब से मैंने इस विषय में सोचना शुरू किया है, तब से मुझे लगता रहा है कि...।" वह सहसा रुककर बहुत गम्भीर दृष्टि से मेरी तरफ़ देखने लगी।

"हाँ-हाँ...।"

"मुझे लगता रहा है कि अपने आसपास जितने भी पुरुषों को मैं जानती हूँ, वे सब के सब...।"

"वे सब-के-सब क्या हैं? दरिन्दे?"

"यह तो बहुत कोमल शब्द हैं।" वह बोली, "दरिन्दों में तो फिर भी एक-दूसरे के लिए कुछ भावना

होती होगी।” उसकी आँखें उस समय एक आईने की तरह हो गयी थीं जिसमें मैं अपना चेहरा देखने का प्रयत्न कर रहा था कि मैं उसे क्या नज़र आ रहा हूँ। क्या वह आँखों ही आँखों से मेरे अन्दर भी उस वनमानुस को पहचानने का प्रयत्न कर रही थी जिसके बारे में वह मुँह से शिकायत कर रही थी।

“अगर तुम्हें यही लगता रहा है, तो क्या अब तुमने इस चीज़ को स्वीकार कर लिया है या...?”

“स्वीकार कर सकती, तो मेरे मन में इतनी कड़वाहट न रहती।” वह बोली।

“मगर मुझे अपने मन में कहीं यह विश्वास भी रहा है कि यही सचाई नहीं है।”

“तो आज तुम क्या सोचती हो?”

वह हँस दी, “तुम क्या मुझसे अपनी तारीफ़ सुनना चाहते हो?” गरम कॉफ़ी ने उसके होंठों से लिपस्टिक के रंग को काफ़ी हद तक हटा दिया था जिससे उन पर एक अस्वाभाविक-सा रंग उठ आया था।

“न जाने पुरुषों के हृदय में स्त्रियों को लेकर इतनी कड़वाहट क्यों नहीं होती?” मैंने कहा।

“अभी उतना नहीं जानती...” मैंने उसके लिए वाक्य पूरा कर दिया।

“तुम अभी यहाँ आये नहीं कि आते ही इस तरह की बातें करने लगे?” वह सहसा उठती हुई बोली, “मैं आज के दिन तुमसे कोई ऐसी बात नहीं सुनना चाहती जिससे मेरा मन उदास हो। मैं चाहती हूँ कि हम सचमुच गम्भीरतापूर्वक कुछ बातें कर लें।”

“तुम मुझे क्या बताना चाहती थीं?”

“मैं अभी तुम्हें बताती हूँ। यह रोशनी तुम्हारी आँखों को चुभती तो नहीं है?”

“नहीं तो...।”

“मगर मेरी आँखों को चुभती है। तुम्हें बुरा न लगे, तो मैं हल्की रोशनी जला दूँ?”

“हाँ-हाँ, क्यों नहीं?”

उसने बीच की रोशनी बुझाकर कोने की तरफ़ का ज़ीरो बल्ब जला दिया। कमरे के वातावरण में एक रूमानी अलसता फैल गयी। वह आकर कुरसी पर बैठी, तो मुझे लगने लगा जैसे छत और दीवारें भी ज़रा पास-पास को सिमट आयी हों। मुझे याद हो आया कि हरबंस ने मेरे साथ अपने विषय में बातें की थीं, तो उसने भी अपने चारों तरफ़ इसी तरह झुटपुटा-सा कर लिया था। क्या वास्तव में अँधेरा जिस तरह की आत्मीयता को जन्म देता है, वह उजाले में नहीं बन सकती? अँधेरे में शायद इन्सान दबे पैरों अपने अन्दर उतरता जाता है, उतरता जाता है; जैसे वह किसी ग़ैर के घर में चोरी के लिए दाख़िल हुआ हो और अपने अन्दर से सब कुछ बाहर निकाल लाता है। और उजाला हो, तो वह उस चोर गली की तरफ़ मुँह करते भी कतरा जाता है।

कमरे की वह रूमानी अलसता सुषमा के चेहरे के गम्भीर भाव के लिए बहुत उपयुक्त पृष्ठभूमि की तरह लग रही थी। वह लेटने की तरह कुरसी पर नीचे को सरक गयी और उसकी बाँहें कुरसी की बाँहों पर इस तरह ढीली हो गयीं जैसे शरीर के साथ उनका कोई सम्बन्ध ही न रहा हो।

“तुम नहीं जानते मधुसूदन कि मैं अब तक कितनी थक चुकी हूँ।” वह बोली। “मैं पहले इस बात का बहुत पक्षपात करती रही हूँ कि एक लडक़ी को बिल्कुल स्वतन्त्र जीवन बिताना चाहिए। किसी

भी व्यक्ति के साथ बँधकर उसके शासन में रहना मुझे बहुत गलत लगता था। और तुम जानते हो कि हर पुरुष किसी न किसी रूप में स्त्री पर शासन करना चाहता है। मैं सोचती थी कि मैं एक अपवाद बन सकती हूँ। पुरुषों के शासन से बचकर उन्हें अपने शासन में रख सकती हूँ। मैंने इसका प्रयोग करना चाहा, तो वह प्रयोग मुझे काफ़ी हद तक सफल भी लगा। मुझे लगा कि मैं जिस किसी को चाहूँ, अपने इशारे पर नचा सकती हूँ। मैंने कुँआरी रहकर ज़िन्दगी काटने वाली लड़कियों के रूखे चेहरे देखे थे और मुझे लगता था कि उन्हें वास्तव में जीना नहीं आता। मगर बहुत जल्द मुझे लगने लगा कि मैं जिसे अपना शासन समझती हूँ, वह भी शासन नहीं, एक माँग है, और वह माँग सदा मुझी को हीन करती है जिससे दूसरा अपने को जाने क्या समझने लगता है! क्योंकि मुझे यह स्थिति स्वीकार्य नहीं थी, इसीलिए मैं अपनी ऊँचाई बनाये रखने के लिए सदा अपनी माँग से लड़ती रही हूँ। मैं जानती हूँ कि लोग मेरे बारे में कई तरह की बातें करते हैं, मगर सच यह है कि मैंने आज तक अपने को किसी पुरुष के सामने हीन नहीं होने दिया; किसी को अपनी कमजोरी का फ़ायदा नहीं उठाने दिया। मैं सोचती रही हूँ कि एक दिन मैं या तो उस माँग से ऊपर उठ सकूँगी, या कोई ऐसा उपाय ढूँढ़ लूँगी जिससे मैं अपने को हीन किये बिना उसे पूरी कर सकूँगी। मगर सच बात यह है कि दोनों में से कोई भी बात नहीं हुई और मैं आज तक अपने से लड़ती हुई जहाँ की तहाँ खड़ी हूँ। मैं आर्थिक रूप से किसी पर निर्भर नहीं रहना चाहती थी, इसलिए मैंने आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त की; अकेली रहना और खुद अपने लिए कमाना सीखा। पुरुषों में स्त्रियों के प्रति जो संरक्षणात्मक भाव रहता है, वह मुझे बरदाश्त नहीं था, इसलिए मैंने ऐसा काम चुना जिसमें मैं अपने को किसी भी पुरुष के बराबर सिद्ध कर सकूँ। मैंने एक पत्रकार के रूप में किसी पुरुष से कम काम नहीं किया और कम अनुभव प्राप्त नहीं किया। मगर फिर भी इधर काफ़ी अरसे से मुझे लग रहा है कि मेरी सफलता में ही कोई चीज़ ऐसी है जो मुझे तोड़ रही है। मैंने अपने को टूटने से बचाने के लिए भी काफ़ी संघर्ष किया है। मगर अब ज़्यादा संघर्ष भी मेरे बस का नहीं रहा। मुझे किसी-किसी समय लगता है कि मैं अन्दर से चाहती हूँ कि मैं टूट जाऊँ। यह परिस्थितियों के कारण है या अपने अन्दर की ही किसी कमजोरी के कारण, मैं नहीं जानती। मैं बस इतना जानती हूँ कि मैं अपने वर्तमान से बाहर आना चाहती हूँ। इसलिए मैं सोच रही थी कि दो-तीन साल के लिए विदेश चली जाऊँ, तो शायद उससे मेरे अन्दर की समस्या कुछ हल हो जाए। मगर उसमें भी मुझे एक डर लगता था। और उस डर से बचने के लिए ही मैं चाहती थी कि अगर जाना हो, तो अपने को यहीं से सुलझाकर जाऊँ। नहीं तो यह न हो कि...।"

उसके आत्मविश्वास की तह में इतनी थकान छिपी होगी, इसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। "क्या न हो?" मैंने अपने प्याले को सॉसर में घुमाते हुए पूछा।

"यही कि वहाँ जाकर भ्रम का आखिरी शीशा भी टूट जाए और मुझे महसूस हो कि मैं एक सुनसान जगह से बचने के लिए दूसरी उससे भी सुनसान जगह पर पहुँच गयी हूँ। मैं अब रिस्क नहीं लेना चाहती। मुझे कई बार ज़िन्दगी इतनी डरावनी लगती है कि मैं उससे बचकर एक छोटे-से कोने में दुबक रहना चाहती हूँ। एक पत्रकार के रूप में तुमने भी महसूस किया होगा कि ज़िन्दगी का सारा ढाँचा—युद्ध, राजनीति और बड़े-बड़े भयानक अस्त्र—यह सब कुछ कितना भीषण और कितना अमानुषिक है! मैं इस सबको बस रोज़ी का साधन मानना चाहती हूँ और अपने लिए एक छोटा-सा घर बनाकर रहना चाहती हूँ जहाँ से मुझे ज़िन्दगी की दीवारें इस तरह हिलती नज़र न आयें। मैं अपने आसपास छोटे-छोटे सुख के साधन जुटाकर और सब कुछ भूल जाना चाहती हूँ। मेरे अन्दर बहुत महत्त्वाकांक्षा रही है, मगर अब मुझे उस महत्त्वाकांक्षा से भी डर लगता है। मैं उन्नति करना चाहती हूँ, उतनी ही जितनी कि कोई भी कर सकता है, मगर उससे पहले मैं अपने लिए सुख चाहती हूँ, सुख जो एक छोटे-से घर मे ही मिल सकता है, जहाँ मैं एक छोटा-सा बाग लगा सकूँ और एक-एक पौधे को सींचकर बड़ा कर सकूँ, उसकी हर नयी पत्ती को देखकर खुश हो सकूँ और किसी से कह सकूँ कि देखो आज उस पौधे में एक नयी पत्ती निकली है। मैं कभी इस तरह की भावुकता का मज़ाक उड़ाया करती थी, मगर अब मुझे लगता है कि मैं अपने अन्दर वह सभी कुछ

चाहती हूँ जिसका कि मैं मज़ाक उड़ाती थी।"

वह बोलते-बोलते थककर चुप हो गयी। उसकी बाँहें उसी तरह निर्जीव-सी पड़ी थीं। बल्कि उसका सारा शरीर ही निर्जीव-सा लग रहा था। उसकी आँखों में एक कातरता थी—उस कबूतर की-सी कातरता जो घायल होकर पड़ा हो और अपनी तरफ़ बढ़ते हुए हाथों को देखकर सोच रहा हो कि वे उसे बचानेवाले हाथ हैं या झिंझोड़ देनेवाले हाथ हैं।

"तुम इस समय सचमुच बहुत थकी हुई लग रही हो," मैंने कहा।

"मैं लगभग एक-डेढ़ साल से इसी तरह थकी हुई महसूस कर रही हूँ।" वह अपने को थोड़ा सँभालने की चेष्टा करती हुई बोली, "ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हैं, मुझे लगता है कि मैं अपनी बेबसी में एक डरावनी घाटी में नीचे-नीचे उतरती जा रही हूँ। मैं जितना चाहती हूँ कि उस रास्ते से लौट चलूँ, उतना ही अपने को घाटी के नज़दीक पहुँचते हुए पाती हूँ।"

"इस तरह की स्थिति में अक्सर लोग अपने मन को बहलाने के लिए धर्म और ईश्वर की बात करने लगते हैं। नहीं?"

"मैं इन सब ढकोसलों से नफ़रत करती हूँ," कहते हुए वह कुछ उत्तेजित हो उठी और उत्तेजना से उसकी निर्जीवता बहुत कुछ कम हो गयी। "तुम इनमें विश्वास करते हो?"

"मैं इन चीज़ों के बारे में कभी सोचता ही नहीं, विश्वास करने की तो बात ही अलग है।" मैंने कहा।

"क्या तुम समझते हो कि जीवन में कोई ऐसा भी मूल्य है जिस पर आदमी अपने मन को स्थिर रख सके?" वह उसी कटुता के साथ बोली, "कोई भी ऐसी चीज़ है जिसका दामन पकडक़र आदमी खड़ा रह सके? मुझे लगता है कि जितने लोग इस तरह की बातें करते हैं वे या तो अपने को धोखा देना चाहते हैं, या दूसरों को। इस तरह उन्हें ज़िन्दगी बिताने के लिए एक अच्छा स्वाँग भी मिल जाता है।"

"तो तुम्हें लगता है कि जीवन में किसी तरह का कोई मूल्य है ही नहीं?"

"बिल्कुल नहीं। अगर कोई मूल्य है तो इतना ही कि हर इन्सान अपने लिए थोड़ा-बहुत सुख जुटाकर किसी तरह जी लेना चाहता है,जैसे मैं चाहती हूँ, तुम चाहते हो और हमारे आसपास सब लोग चाहते हैं।"

"मगर हर इन्सान के अन्दर स्नेह, सहानुभूति और सौन्दर्य की जो एक भूख होती है...।"

"ये सब कोरे शब्द हैं जिनका कभी अर्थ रहा होगा, आज कोई अर्थ नहीं है।"

"मगर हर इन्सान दूसरे पर निर्भर तो रहना चाहता ही है...।"

"हाँ, मगर अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और सुख के लिए ही। अन्दर से हर इन्सान बहुत छोटा और बहुत स्वार्थी है। और आज ही नहीं, सदा से ऐसा रहा है। मुझे किसी के मुँह से ये खोखले शब्द सुनना अच्छा नहीं लगता। तुम्हारे मुँह से तो बिल्कुल ही नहीं।"

"तो इसका तो यह मतलब है कि जीवन में तुम किसी तरह की आस्था का कोई स्थान ही नहीं मानतीं?"

"वह मैं नहीं जानती।" कहते हुए उसने पल-भर के लिए आँखें मूँद लीं, "मैं कितना चाहती रही हूँ कि जीवन में मुझे किसी तरह की आस्था मिल जाये, मगर उसकी जगह जो कुछ मिल रहा है, वे हैं कोरे शब्द। सदियों से लोग एक-दूसरे को छलने के लिए इन झूठे शब्दों का प्रयोग करते आये हैं

और अब भी करते जा रहे हैं। मैं पहले अपने लिए इनमें एक शब्द ढूँढना चाहती थी। मगर अब मैं इन सब शब्दों से अपना पिंड छुड़ाना चाहती हूँ। ये शब्द केवल हमारे सुख में बाधा ही डाल सकते हैं। मुझे इस तरह के सब शब्दों से नफ़रत है। मैं अपने लिए अब एक छोटा-सा घर चाहती हूँ, बस!"

कुछ देर हम दोनों चुप रहे। कमरे की छत और दीवारें धीरे-धीरे और पास घिर आयी थीं। अँधेरा कन्धों पर उठाये हुए हल्के बोझ की तरह लग रहा था। सुषमा शायद मेरे चेहरे में खोज रही थी कि जो कुछ वह चाहती है, क्या वह उसे इस सामने बैठे हुए व्यक्ति से मिल सकता है?

"तुम सहसा उदास क्यों हो गये?" उसने अपनी कुहनियों पर झुककर पूछा।

"नहीं, मैं उदास नहीं हूँ।" मैंने अपने को झटककर थोड़ा सचेत कर लिया।

"मैं तुम्हें अपने साथ लायी थी कि तुम्हें एक खुशी की बात बताऊँगी।" वह बोली, "और उसकी जगह मैंने अपनी बातों से तुम्हें उदास कर दिया है। मगर यही तो मैं समझ नहीं पाती कि जो समय हमें सुख की खोज में बिताना चाहिए, उसे हम दुख को टटोलने में क्यों गँवा देते हैं? तुम हाथ देखना जानते हो?" कहते हुए उसने अपनी हथेली मेरे सामने फैला दी।

"नहीं," मैंने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया। फिर पूछा, "तुम हस्त-रेखाओं में विश्वास करती हो?"

"कभी करती थी।" उसने कहा, "अब किसी चीज़ में भी नहीं करती। तुम करते हो?"

"नहीं। मैं पहले भी नहीं करता था। मगर तुम विश्वास नहीं करतीं तो तुमने मुझसे पूछा क्यों था?"

"मैं अपना हाथ तुम्हारे हाथ में देने के लिए कोई बहाना चाहती थी।"

हमारे हाथों की उँगलियाँ आपस में उलझ गयीं और काफ़ी देर तक उलझी रहीं। फिर हल्के से दबाव से मैंने उसे अपनी तरफ़ खींच लिया, तो वह काफी आगे तक झुक आयी। मैंने उसका हाथ छोड़ दिया और धीरे-से उसके चेहरे को अपने दोनों हाथों में ले लिया, "तुम इस समय बहुत सुन्दर लग रही हो।" मैंने कहा।

"यह इसलिए कि मैं इस समय तुम्हारे बहुत पास हूँ और तुम्हारे हाथ आसानी से मुझ तक पहुँच सकते हैं।"

इससे उसके चेहरे पर मेरे हाथों का दबाव कुछ कम हो गया और मैं थोड़ा पीछे को हट गया।

"तुम तो इतनी-सी बात से पीछे हटने लगे।" कहते हुए उसने अपने दोनों हाथ मेरे हाथों पर रखकर उन्हें अच्छी तरह अपने चेहरे के साथ दबा लिया। "तुम्हारे हाथ बहुत गरम हैं।" उसने कहा।

"तुम्हारा चेहरा ठंडा है, शायद इसलिए तुम्हें ऐसा लग रहा है।"

"शायद," कहकर उसने मेरे हाथों को और भी दबा लिया। कुछ क्षण इसी तरह बीत जाने के बाद उसने फुसफुसाने के स्वर में कहा, "मधु!"

मेरा शरीर रोमांचित हो उठा। बचपन के बाद पहली बार किसी ने मुझे इस नाम से सम्बोधित किया था। "तुम तो बिल्कुल बच्ची-सी लग रही हो।" मैंने कहा।

"मुझे अब जीवन में इतना ही चाहिए कि किसी के सामने हमेशा इस तरह बच्ची-सी बनी रहूँ।"

मेरे होंठ आगे को झुक गये। उसकी गरम साँस मेरी साँस से टकराने लगी।

“तुम हो ही बिल्कुल बच्ची-सी।” मैंने कहा और कुछ क्षणों के लिए जीरो बल्ब की रोशनी भी आँखों से ओझल हो गयी। दीवारों ने जैसे बहुत पास आकर हमें ऊपर से ढक लिया और हम एक अँधेरे गुम्बज में एक-दूसरे के स्पर्श में खोये रहे। जब मेरे होंठ उसके होंठों से हटे, तो मुझे लगा जैसे उनकी जड़ें वहीं रह गयी हों और मैंने केवल उन्हें ऊपर से तोडक़र अलग कर लिया हो। मुझे यह भी महसूस नहीं हुआ कि इस बीच मेरे हाथ उसके नाखूनों से छिल गये हैं। एक बहुत तेज़ साँस फिर मुझे अपने में लपेट लेने के लिए बहुत पास-पास आ रही थी। मैं उस साँस के पाश में खिंचता जा रहा था। “ज़िन्दगी सचमुच कितनी अच्छी हो सकती है मधु, अगर हम...” उसने फिर फुसफुसाकर कहा और अँधेरा पहले से भी स्याह होकर घिर आया। जड़ों से उखड़े हुए फूल फिर अपनी जड़ों से जा मिले और बीच की तिपाई भी हमारे बीच से हट गयी। कबूतर के पंखों का एक नरम-नरम बोझ मेरे ऊपर लद गया और मैं उस बोझ के नीचे अपने को बिल्कुल भूलने लगा। कुछ देर लगता रहा जैसे अँधेरे की जगह हम गहरे पानी में डूबे हों और वह पानी अपनी गहराई के हल्के बोझ से हमें सहलाता हुआ ऊपर से गुज़रता जा रहा हो और पानी में तैरती हुई मछलियाँ शरीर से टकरा-टकरा जाती हों और साँसों की रस्सियाँ हाथ-पैरों को कसती जा रही हों। एक लहर गुज़रने से पहले ही दूसरी लहर उमड़ आती हो, फिर तीसरी, और पानी हमें ऊपर-ऊपर अपनी सतह की तरफ़ उठाये लिये जा रहा हो। “मधु!” पाश की तरह कसती हुई साँसें धीरे-धीरे कह रही थीं, “मैं जीवन में अब अपने छोटे-से सुख के अलावा और कुछ नहीं चाहती, कुछ नहीं, बिल्कुल कुछ नहीं...।”

“तुम अपने को इतनी बेबस क्यों समझती हो शमी?” मैंने कहा, “तुममें तो इतना आत्म-विश्वास है, इतनी सामर्थ्य है।”

“वह सब झूठ है।” वह बोली, “मैं अब यहाँ से चली जाना चाहती हूँ, बस। मगर अकेली नहीं, तुम्हें साथ लेकर। यही बात थी जो मैं तुम्हें बताना चाहती थी।”

“मगर तुम कहाँ जाने की बात कर रही हो?”

उसने देश का नाम लिया, तो मैं एकदम चौंक गया। मेरी आँखों के सामने सहसा पोलिटिकल सेक्रेटरी का चेहरा घूम गया। “मुझे तीन साल के लिए वहाँ से नौकरी का ऑफ़र मिला है।” वह बोली, “मैंने उनसे कहा था कि मैं शायद शादी करके ही यहाँ से जाना चाहूँ। उन लोगों ने मुझे प्रॉमिस किया है कि मेरे हस्बैंड के लिए भी वे वहाँ नौकरी की व्यवस्था कर देंगे...।”

एकाएक न जाने कैसे गुम्बज की दीवारें टूट गयीं, अँधेरे में उठती हुई लहरें रुक गयीं और ज़ीरो बल्ब फिर अपनी जगह पर जल उठा।

“क्या बात है, मधु?” सुषमा ने बिना ज़रा भी हिले-डुले पूछा।

“कुछ नहीं।” मैंने कहा, “मेरा सिर कुछ चकरा रहा है। मैं थोड़ा पानी पिऊँगा।”

“मैं अभी तुम्हें पानी ला देती हूँ,” कहकर वह कुछ अनमने भाव से मुझसे अलग हो गयी। कुछ ही क्षणों में कमरे की बीच की बत्ती जल उठी, तो जैसे सभी कुछ बदल गया। लहरों और मछलियों की दुनिया से मैं सहसा कॉन्सीक्यूशन हाउस के पहली मंज़िल के कमरे में पहुँच गया। वही ताँबे की मूर्तियाँ और वही दीवारों के चित्र—या अभी-अभी केवल उन चित्रों में एक की वृद्धि ही नहीं हुई थी? मगर वे चित्र जितने स्थायी थे, क्या यह चित्र भी उतना स्थायी हो सकता था?

वह पानी का गिलास ले आयी, तो मुझे उसकी आँखों से लगा कि वह मुझे एक सन्देहपूर्ण दृष्टि से देख रही है। उसका ड्रेसिंग गाउन उसके शरीर पर नहीं था; जब वह मेरे पास से उठकर गयी थी, तब भी नहीं था। वह उसने कब उतार दिया था, यह मैं सोचकर भी नहीं सोच सका। नाइट सूट और बिखरे हुए बालों से वह उस समय कनॉट प्लेस के किसी शो-केस की आकृति जैसी लग रही

थी—उसका मानवीय रूप उसके अंगों की कोमलता तक ही सीमित था। उसने गिलास मुझे देकर कुरसी पर बिखरा हुआ अपना नाइट गाउन उठा लिया और बाँहें फैलाकर उसे पहनने लगी।

"क्षमा करना।" मैंने कहा, "मुझे अचानक ही एक जलन-सी महसूस होने लगी थी। न जाने क्यों? शायद बहुत ज़्यादा कॉफ़ी पीने की वजह से...!"

"अच्छा?" मगर बुझे हुए स्वर में उसके 'अच्छा' कहने में एक व्यंग्य भी था और अविश्वास भी।

मैंने पानी पीकर गिलास रख दिया और अपने दोनों हाथों की उँगलियाँ आपस में उलझा लीं, "तुमको ज़रूर बुरा लगा है।" मैंने कहा।

"नहीं, मुझे क्यों बुरा लगता?" वह बहुत दूर से तटस्थता के साथ बोली, "यह सब बहुत ही स्वाभाविक है।"

"क्या स्वाभाविक है?"

"मेरा मतलब है कि कई बार आदमी को इस तरह की जलन या घुटन का अनुभव होने लगता है। इसमें अस्वाभाविक कुछ नहीं है।"

"मगर मैंने घुटन की बात तो नहीं कही थी।"

"हाँ, तुमने सिर्फ़ जलन की बात कही थी। मुझे अफ़सोस है मैंने अपनी तरफ़ से एक और शब्द जोड़ दिया।"

"तुम मुझसे नाराज़ हो गयी हो!" उसके चेहरे पर ऐसी जड़ता भी आ सकती है, यह भी मेरे लिए एक नया अनुभव था। उसकी इस समय की निर्जीवता कुछ समय पहले की निर्जीवता से कितनी भिन्न थी!

"नहीं, मैं नाराज़ क्यों हूँगी? वह एक क्षण की कमज़ोरी थी जो क्षण बीतने पर दूर हो गयी।"

"तुम मुझे ग़लत समझ रही हो।" मेरा मन हुआ कि उसे बता दूँ कि मेरी अनुभूति में न्यूनता नहीं आयी थी, परन्तु मुझे सहसा एक ऐसा चेहरा दिखायी दे गया था जिसने मेरे लिए उस अनुभूति का रूप बिल्कुल बदल दिया था। मेरा यह भी मन हुआ कि जिस तरह कुछ देर पहले वह मुझसे अपने बारे में बात कर रही थी, उसी तरह मैं उससे अपने बारे में बात करने लगूँ और जो-जो बातें मेरे मन में उठ रही हैं, वे सब उसे बता दूँ और कहूँ कि हमें एक छोटा-सा घर बनाकर रहना है, तो क्यों हम यहीं रहकर ऐसा नहीं कर सकते? मगर यह सब कहने के लिए मैं उसकी आँखों में जो भाव देखना चाहता था, उस भाव का वहाँ स्पर्श भी नहीं था।

"स्त्रियाँ हमेशा ही पुरुषों को ग़लत समझती हैं।" उसने कहा।

"हमेशा तो नहीं, मगर कभी-कभी बहुत ग़लत समझती हैं।"

वह चुप रहकर कुछ देर सूनी आँखों से दीवार की तरफ़ देखती रही। फिर सहसा जैसे अपने को समेटती हुई बोली, "मुझे लगता है मुझे जितनी दूर तक जाना चाहिए था, मैं उससे बहुत आगे चली गयी थी।"

"अर्थात्?" मैं जानता था कि वह क्या कह रही है, मगर मैं चाहता था कि किसी तरह हम लोगों से पहले की-सी सहजता लौट आये।

"अर्थात् कुछ नहीं। तुम्हें और पानी ला दूँ?" उसके चेहरे ने एक बहुत ही शिष्ट और अभिजात रूप

ग्रहण कर लिया था।

“नहीं।”

“तो...?”

“मेरे ख़याल में उचित यह होगा कि हम फिर किसी समय मिलकर इस बारे में बात करें। इस मन:स्थिति में शायद मैं अपनी बात तुम्हें ठीक से समझा नहीं सकूँगा।”

“ठीक है।” वह बोली, “तुम्हें जब भी सुविधा हो, तुम फ़ोन कर लेना। संक्षेप में बताने की बात हो, तो चाहे फ़ोन पर ही बता देना।”

मुझे लगा कि यह मुझे जाने के लिए संकेत है। मगर न जाने क्यों मेरा मन उठने और जाने को नहीं हो रहा था। शायद मैं जाने से पहले अपनी स्थिति स्पष्ट करना चाहता था जो मैं नहीं कर पा रहा था। मगर संकेत इतना स्पष्ट था कि और बैठना भी ठीक नहीं लगता था।

“तुम्हें इस वक़्त आराम की ज़रूरत है।” मैंने उठते हुए कहा, “इस समय मैं और रुककर तुम्हें परेशान नहीं करूँगा। पहले ही मैंने तुम्हें काफ़ी परेशान कर दिया है।”

“क्यों?” वह उसी रूखे आभिजात्य के साथ बोली, “मेरे लिए तो यह खुशी की बात थी कि आज की शाम तुम्हारे साथ इतनी अच्छी बीत गयी। मैं तो बल्कि समझ नहीं पा रही कि तुम्हें किस तरह धन्यवाद दूँ, खाना खिलाने के लिए भी और यहाँ आने के लिए भी।”

अगर मैं अपने मन से चल सकता, तो उसकी बाँह पकडक़र उससे कहता कि सुषमा अपने को इस लबादे में लपेटकर मुझसे बात न करो; तुम्हारा वह कमजोर व्यक्तित्व तुम्हारे इस अभिजात व्यक्तित्व की अपेक्षा कहीं अधिक मानवीय और स्वाभाविक था; वह व्यक्तित्व इसकी अपेक्षा कहीं अधिक सबल और सजीव भी था; तुम क्यों नहीं अपने उसी रूप में बनी रहतीं और चलते समय मुझसे उसी तरह बात कर सकतीं? मगर ज़ीरो बल्ब की रोशनी में मैं जितने अधिकार के साथ उससे बात कर रहा था, उसका सौवाँ हिस्सा अधिकार भी उस समय मुझे उस पर नहीं लग रहा था।

“तुम्हारा मन इस समय दूसरी तरह का हो गया है।” मैंने कहा, “मैं दो-एक दिन में फिर किसी समय तुमसे बात करूँगा। तुम नीलिमा के शो में तो आओगी?”

क्षण-भर के लिए अपने आभिजात्य से बाहर निकलकर उसने होंठ बिचका दिये।

“कह नहीं सकती कि आऊँ या न आऊँ। हो सकता है कि उसे कवर करने के लिए आ भी जाऊँ।”

“तुम्हें ज़रूर आना चाहिए।” मैंने कहा, “एक तरह से उसका यह पहला ही शो है और हमें उसे हतोत्साहित नहीं करना चाहिए।”

उसका भाव ऐसा हो गया जैसे उसने अन्दर ही अन्दर एक बार हँस लिया हो।

“तो तुम भी आजकल उसकी वकालत कर रहे हो?” उसने कहा।

“क्यों? इसमें वकालत की क्या बात है?”

“मैं यह भूल ही गयी थी कि वे लोग तुम्हारे घनिष्ठ मित्र हैं।”

“मेरी उनसे मित्रता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, मगर...।”

“अच्छा है वे लोग किसी से तो मित्रता रख सकते हैं, वरना...।” मुझे लगा कि उसे यह सब कहने में एक तरह का प्रतिशोध लेने का सुख मिल रहा है।

“वरना क्या?”

“मैं जितना उन्हें जानती हूँ उससे मेरी तो राय यही थी कि अपने अलावा उन लोगों को दुनिया में और किसी चीज़ से मतलब नहीं है।”

“तुम समझती हो कि तुम उन्हें इतना पास से जानती हो?”

“मैं उनमें से एक को ही जानती हूँ। पति को। तुमने उसके बारे में एक बार पूछा भी था। पत्नी को तो मैंने सिर्फ़ देखा ही है। मुझे तो नहीं लगता कि उसमें वह चीज़ है...।”

“क्या चीज़?”

“जो एक कलाकार में होनी चाहिए।”

“अर्थात्?”

“अर्थात् वह सुरुचि, कोमलता, भावना, अनुभूति...।”

“मगर बिना उसका प्रदर्शन देखे तुम कैसे कह सकती हो?”

“मेरी अपनी राय है। मुझे ऐसा लगता है।”

“ख़ैर, मैं इस समय इतना ही कहूँगा कि तुम उस दिन ज़रूर आओ और जो भी राय बनानी हो, उसका शो देखकर ही बनाओ। पहले से मन में पूर्वाग्रह हो, तो हम कभी किसी का सही मूल्यांकन नहीं कर सकते।”

“पूर्वाग्रह दोनों तरह का हो सकता है।” वह बोली, “पक्ष में भी और विपक्ष में भी। तुम कैसे कह सकते हो कि तुम्हारे मन में पूर्वाग्रह नहीं है?”

“इसका पता तुम्हें मेरी टिप्पणी से चल जाएगा।”

“तो ठीक है।” वह बोली, “मैं उस दिन आऊँगी।”

“उस दिन ही और बात भी करेंगे...।” मैंने उसके कन्धे को हल्के से छुआ कि शायद मेरे चलते समय वह अपना तनाव कुछ छोड़ दे, मगर उसका कन्धा ज़रा भी ढीला नहीं हुआ। मैंने अपना हाथ हटा लिया।

“तुम्हें नीचे तक पहुँचा आऊँ?” उसने पूछा।

“नहीं।” मैंने कहा, “तुम्हें कपड़े बदलने पड़ेंगे। तुम बैठो।”

“सुनो।” मैं दरवाज़े से निकलने लगा, तो उसने कहा। मैं रुक गया। क्षण-भर हम चुपचाप एक-दूसरे की तरफ़ देखते रहे।

“मैं समझती थी कि हम लोग साथ-साथ बाहर चल सकेंगे। मगर मैं तुम्हारा मन जितना समझ सकी हूँ, वह ठीक ही समझा है न?”

“देखो, तुम इस वक़्त यह बात न पूछो। उस दिन मिलेंगे, तो बात करेंगे।”

“तुम समझते हो कि बात करने को कुछ बाकी है?”

“सभी कुछ बाकी है।”

“अच्छा, गुड नाइट!”

“गुड नाइट!”

मैं कॉन्सीक्यूशन हाउस के गेट से बाहर निकला, तो मुझे अपना सिर बहुत भारी लग रहा था। यह भारीपन एक मर्ज़ था जिसका जब तब मेरे ऊपर दौरा हो जाता था। बात करते-करते, चलते-चलते, अनायास, बिना कारण यह भारीपन मुझे छा लेता था। उस स्थिति में अपने आसपास का विवेक मिट जाता था, अपने अन्दर और बाहर सब कुछ पथराया हुआ सा लगता था; सडक़, खम्भे, तारे और आकाश सब एक कब्रिस्तान की तरह हो जाते थे। मुझे हर चीज़ से वितृष्णा और विरक्ति होने लगती थी। एक-एक क़दम चलना मेरे लिए बोझ बन जाता था। मैं नहीं समझ पाता था कि यह भारीपन क्या है? क्या यह एक ऐसा रोग था जो टिकिया खाने से ठीक हो सकता था? या इस रोग का इलाज़ किसी भी तरह सम्भव नहीं था? सडक़ से कई-कई गाडिय़ाँ गुज़र रही थीं और मुझे अपने पथराये हुए मन में कई एक ख़ाके नज़र आ रहे थे—पत्थर पर बनी हुई लकीरों की तरह। गाँव का पोखर, कीचड़ में डुबकियाँ लेते हुए सूअर, अलमारी में रखी हुई तसवीरोंवाली किताब, अमृतसर का कंजरियोंवाला बाज़ार, क़स्साबपुरा की गली, पोलिटिकल सेक्रेटरी का कमरा, हरबंस के घर की दीवारें, कबूतर के पंखों का बोझ, एक दूर के देश की तरफ़ उड़ाकर ले जाता हुआ हवाई जहाज़, एक सजा हुआ छोटा-सा घर, नीले परदोंवाली गाड़ी, सुगन्धित तम्बाकू के सिगरेट, मुसकराकर बातें करते हुए लोग, टेलीप्रिंटर पर आती हुई ख़बरें, सम्पादक का चेहरा, अपने कमरे की खिडक़ी, वहाँ से दिखायी देते हुए बत्तियों के झुरमुट और...और फिर वही पोखर, वही कीचड़ से लथपथ सूअर और ताई की झिडक़ी, “तू नहीं मानेगा कीचड़ से खेले बिना, मधू! सूअर के बीच एक सूअर तू भी है...!”

सुबह अभी नींद नहीं खुली थी कि बीच की मंज़िल के किरायेदारों के लडक़े ने आकर दरवाज़ा खटखटाया। दरवाज़ा खोला, तो उसने पतंग की खपची मुँह में चबाते हुए कहा, “अंकलजी, नीचे कोई आपसे मिलने के लिए आयी है।”

“मुझसे मिलने के लिए!” मुझे आश्चर्य हुआ कि सुबह-सुबह वहाँ मुझसे कौन मिलने के लिए आ सकती है। मगर फिर सोचा कि हो सकता है नीलिमा आयी हो कि मैं चलकर एक बार उसकी प्रैक्टिस देख लूँ। एक ख़याल यह भी आया कि सम्भव है सुषमा ही दफ़्तर से मेरा पता पूछकर चली आयी हो। मैंने जल्दी-जल्दी अपने कपड़ों की सलवटें ठीक कीं, बालों में कंघी की, एक बार आईना देखा और नीचे चला गया। मगर नीचे पहुँचते ही मैं एकदम अचकचा गया। घर के सामने सडक़ के उस तरफ़ ठकुराइन और निम्मा खड़ी थीं। सडक़ के नीचे पाइप बिछाने के लिए सडक़ बीच से खोदी गयी थी। बीच की खाई को पार करने के लिए पतला फट्टा हमारे घर से थोड़ा हटकर रखा था।

“भाभी, तुम!” मैंने उन पर नज़र पड़ते ही कहा।

“हाँ भैया! तुम्हारा घर ढूँढऩे में हम लोग इतनी परेशान हुई हैं कि क्या कहूँ! अब भी मालूम नहीं था कि ठीक जगह पहुँच गयी हैं या नहीं।...ठहरो, पहले उधर से हम लोग पार कर लें।” कहते हुए उसने निम्मा का हाथ पकड़ लिया।

“चल मरी, अभी उधर से घूमकर आना पड़ेगा।”

बहुत सँभल-सँभलकर पैर रखते हुए उन लोगों ने आगे-पीछे फट्टे को पार किया। मैं उन्हें लाने के लिए कुछ क़दम आगे चला गया।

“मैंने सोचा था कि करोलबाग़ में किसी बड़े बँगले में रहते होगे।” ठकुराइन पास आकर बोली, “मुझे क्या मालूम था कि तुम इतनी ऊँची पहाड़ की चोटी पर चढक़र रहते हो! पहले डर लगे कि किसी बोतलोंवाली मोटर के नीचे ही न आ जायें। फिर आगे यह मरी नहर आ गयी। तुमने भी जगह ली तो कहाँ!”

हम लोग सेहन में आ गये, तो मैंने पूछा, “मगर तुम्हें इस जगह का पता कैसे चला! मैं तो उस दिन तुम्हें बताकर नहीं आया था।”

“यह तुम कुछ मत पूछो भैया!” ठकुराइन अपनी चादर को ठीक से सँभालती हुई बोली, “पहले कल अरविन्द भैया के दफ़्तर में जाकर पूछा, तो उन्होंने तुम्हारा पहलेवाले अख़बार का पता बता दिया। वहाँ गयी, तो एक खद्दरपोश आदमी ने बताया कि हाँ दस साल पहले तो हमारे पास ही काम करते थे, अब किसी दूसरे अख़बार में काम करते हैं। मगर उस भले आदमी ने इतना किया कि वहीं से तुम्हारे अख़बार में टेलीफ़ोन करके तुम्हारा घर का पता पूछ दिया। कल का सारा दिन इसी में गया। आज सवेरे जल्दी निकल आयी थी कि तुम घर से चले न जाओ, मगर घंटा-भर घूम-घूमकर अब तुम्हारा मकान मिला है। यहाँ की चढ़ाई चढ़ते-चढ़ते तो हम दोनों का दम निकल गया।”

निचली मंज़िल की बबुआइन ग़ौर से देख रही थी कि बरसातीवाले बाबू के यहाँ ये कौन मेहमान आयी हैं। ठकुराइन घर की धुली हुई मैली धोती के ऊपर उसी तरह की मैली चादर ओढ़े थी।

निम्मा अपेक्षाकृत साफ़ सलवार-कमीज़ पहने थी, मगर उसमें भी ऊपर से नीचे तक इस तरह सलवटें पड़ी थीं जैसे दिनों के बाद वे कपड़े बन्द ट्रंक में से निकाले गये हों। वह कुछ घबरायी हुई-सी थी और अपनी माँ के कहे हुए हर शब्द को बहुत उत्सुकतापूर्वक सुन रही थी। पैरों में उसने चमड़े की गुरगाबी पहन रखी थी जिसका कीचड़ बहुत खरोंचने पर भी पूरा नहीं उतरा था। बरसाती में रहने वाले कुँआरे आदमी के पास इस तरह के वेश में एक स्त्री और एक लडक़ी के आने का बबुआइन जाने अपने मन में क्या अर्थ लगा रही थी!

“आओ भाभी, ऊपर चलें, वहीं चलकर बात करेंगे।” मैंने कहा और चुपचाप सीढिय़ाँ चढऩे लगा।

ऊपर कमरे में आते ही ठकुराइन थकी-सी चारपाई पर बैठ गयी। निम्मा एक मोढ़े की पीठ पकड़े खड़ी रही।

“तुम्हें जगह ढूँढने में सचमुच बहुत तकलीफ़ हुई होगी।” मैंने कहा, “मैं तो यह सोच भी नहीं सकता था कि तुम इस तरह परेशान होती हुई यहाँ आओगी।”

“हाँ भैया, तुम क्यों कभी हमारे आने की बात सोचोगे?” ठकुराइन न जाने क्या सोचकर चारपाई से उठ खड़ी हुई और कमरे के चारों मोढ़ों में से सबसे टूटे हुए मोढ़े पर बैठ गयी, “तुम्हें हमसे मुराद नहीं, मगर हमें तो भैया तुमसे मुराद है ही। देख लो ज़मीन सूँघती हुई किसी तरह पहुँच ही गयी।”

निम्मा उसी तरह खड़ी थी। मैंने उससे बैठने को कहा, तो वह चुपचाप मोढ़े पर बैठ गयी। ठकुराइन इस तरह मेरे चेहरे की तरफ़ देख रही थी जैसे अभी-अभी उसने मुझे कोई जुर्म करते पकड़ा हो। मैंने अपने लिए भी एक मोढ़ा खींच लिया और उस पर बैठते हुए कहा, “तुम्हारे चेहरे से तो लगता है भाभी, जैसे तुम किसी वजह से मुझसे नाराज़ हो। यह क्या इसीलिए है कि मैंने तुम्हें अपना पता लिखकर कार्ड नहीं डाला!”

“तुम क्या कार्ड डालते भैया!” ठकुराइन बोली, “और भाभी बेचारी तुमसे क्या नाराज़ होगी! अगर उसे कोई दु:ख है तो उसका रोना रोकर भी वह क्या करेगी! दु:ख तो गाँठ में बाँधकर उसने जनम ही लिया था। आज तो मैं तुम्हारे पास एक दरखास लेकर आयी हूँ अगर तुम मंजूर करो तो!”

निम्मा चुपचाप ज़मीन की तरफ़ देखने लगी। अपनी ख़ामोशी में वह बिल्कुल बच्ची-सी लग रही थी।

“हाँ-हाँ, बताओ, क्या बात है!” मैंने कहा। सोचा कि वह फिर वही लडक़ी के लिए लडक़ा ढूँढने की बात कहेगी। साथ ही मुझे समय का भी ध्यान हो आया कि बातचीत में पन्द्रह-बीस मिनट से ज़्यादा लग गये तो समय पर तैयार होकर दफ़्तर कैसे पहुँचूँगा।

“पहले तुम यह बताओ कि हम लोगों के घर की रपट तुमने ही की थी?” ठकुराइन मेरे चेहरे पर आँखें स्थिर किये हुए बोली।

“रपट? कैसी रपट?”

“मैं तो घर में सबसे कहती थी कि यह काम मधुसूदन भैया का नहीं हो सकता। वे ऐसा काम कर ही नहीं सकते। मगर सब लोग मुझसे यही कहते थे कि यह काम तुम्हीं ने किया है। तुम्हीं उस दिन वह मरी तसवीरोंवाली मशीन लिये हुए हमारे घर आये थे। तुम एक बार सौंह खाकर कह दो कि तुमने रपट नहीं की, तो मैं जाकर अच्छी तरह सबका मुँह तोड़ दूँ...।”

“मगर भाभी कुछ समझ भी आये कि तुम किस रिपोर्ट की बात कर रही हो। मुझे आखिर तुम लोगों की किस बात की रिपोर्ट करनी थी? और कोई बात होती भी तो क्या तुम समझती हो कि मैं जाकर तुम लोगों की रिपोर्ट करता?”

“तो इसका मतलब है कि तुमने नहीं की।” ठकुराइन कुछ आश्वस्त होकर बोली, “तब तो मैं सब लोगों से ठीक ही लड़ी थी कि यह काम मधुसूदन भैया का नहीं हो सकता। अब मैं जाकर पूछूँगी सबसे। और तो और, राँड गोपाल की माँ भी सबमें शामिल हो गयी। कहती थी कि यह काम बस तुम्हारा ही हो सकता है।”

“मगर तुम यह भी बताओ कि बात क्या है?”

“बात तो बहुत ज़बरदस्त है भैया!” ठकुराइन मोढ़े पर आगे को सरक आयी। “किसी मुंडीकाटे ने

सरकार में इस बात की रपट कर दी है कि हमारा मुहल्ला शहर का सबसे गन्दा मुहल्ला है और कि वहाँ जाने कैसी-कैसी बुराई फैल रही है! सब झूठ बातें, बिल्कुल झूठ! जाने बीच के किसी दुश्मन का काम है या किसका! मुए को सबसे ज़्यादा बैर हमारे घर से ही न था। सितारवाले मियाँ का नाम लिखकर उसने हमारे घर का अता-पता भी दे दिया है। तीन दिन हुए कमेटीवाले हमारे मुहल्ले की जाँच करने आये, तो हमें पता चला। गली में जितने सब्जीवाले बैठते थे, मरों ने सबको उठा दिया और नालियों में जाने क्या काली-सी दवाई डाल गये हैं! कहते थे कि दो-चार दिन में ओवरसियर साहब आएँगे और मुहल्ले के जो-जो घर गिरने की हालत में हैं, उन्हें गिरवा देंगे। हमारे घर के लिए वे कहते थे कि यह तो बिल्कुल ही कंडम है, इसलिए इसे सबसे पहले गिराया जाएगा। कोई कहता था कि सितारवाले मियाँ का काम है। मरा आप मरने को है और मरते-मरते घर के सब लोगों की मिट्टी पलीद कर जाना चाहता है। मगर उस दिन से उसे जिस तरह गश आ रहा है उससे मैं कहती हूँ कि नहीं, यह काम उसका नहीं हो सकता।”

यह सब सुनते हुए मैं अन्दर कटा जा रहा था। लेख लिखते समय मैंने यह नहीं सोचा था कि उसका ऐसा असर भी हो सकता है। जहाँ यह बात खुशी की थी कि स्थानीय अधिकारियों पर अख़बार में छपी बात का कुछ असर होता है, वहाँ यह बात बहुत परेशान करनेवाली थी कि कहीं सचमुच ही मेरी वजह से उन लोगों के घर न गिरा दिये जायें। उस वजह से अपने ऊपर आनेवाला जो लांछन था वह मुझे और भी परेशान कर रहा था।

“हम लोगों को तो तीन रातों से नींद ही नहीं आयी।” ठकुराइन बोली, “कुछ सूझ ही नहीं पड़ता कि किस दुश्मन ने यह दुश्मनी की है। हममें से किसके साथ किसी का ऐसा बैर हो सकता है? होगा तो किसी का मियाँ के साथ ही बैर होगा। लोगों को मियाँ पर इतना गुस्सा आ रहा था कि कल गोपाल ने उसके नाम की तख्ती उखाडक़र चूल्हे में जला दी कि जब ओवरसियर साहब घर की पहचान के लिए आएँगे तो हम कह देंगे कि यहाँ इस नाम का कोई आदमी नहीं रहता। क्यों भैया, यह हो भी तो सकता है कि खुद उसी ने अपना घर गिरवाने के लिए सरकार को लिखा हो। उसकी सरकार में चलती तो बहुत है!”

“ऐसी बात नहीं है, भाभी!” मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि ठकुराइन को किस तरह सारी स्थिति समझाऊँ। “इसमें इबादत अली ने कुछ नहीं किया। उसे इस बुढ़ापे में क्यों यह सूझेगी कि अपना घर गिरवाये...!”

“अरे, तुम उसे नहीं जानते भैया!” ठकुराइन कुछ सोचती हुई-सी अपना घुटना खुजलाने लगी, “वह बुड्ढा मरा ऐसा कमजात है कि उसका कुछ पता भी नहीं कि जाते-जाते हम लोगों से अपना सारा बैर निकाल ले। उसे हमसे इस बात की दुश्मनी तो है ही कि हम उसकी मरज़ी के खिलाफ उस घर में रहते हैं और उसकी लडक़ी हमीं लोगों की वजह से घर छोडक़र गयी है। इधर कई दिनों से उसे दिल का ऐसा दौरा पड़ता है कि कुछ पता नहीं कि वह कब अपना बोरिया समेट ले।” और थोड़ा आगे को झुककर वह कुछ रहस्यपूर्ण ढंग से बोली, “घर में मरदों ने तो यह सोच रखा है कि अगर यह उस बुड्ढे का काम हुआ, तो रातोंरात उसका बोरिया बनाकर जुमना जी में डाल आएँगे और कह देंगे कि पता नहीं कि वह घर छोडक़र कहाँ चला गया है। वे कहते हैं कि अगर वह हमसे इस तरह दुश्मनी कर सकता है, तो हमें उसका किस बात का लिहाज है। ज़्यादा से ज़्यादा हिन्दू-मुसलमानों का झगड़ा ही तो होगा, हो जाए!” और यह कहते-कहते वह एक बार सिहर गयी, “मगर भैया, अगर सचमुच झगड़ा हुआ, तो जिनके घर में मरद हैं, उन्हें तो उतना डर नहीं। तुम मुझे बताओ, हम माँ-बेटी क्या करेंगी, कहाँ जाएँगी? मुझे तो अपने लिए हर तरफ़ आफत ही आफत नज़र आती है।”

यह जानते हुए भी कि ठकुराइन जो कुछ कह रही है, उसमें ज़्यादा उसके मन का वहम ही है और ऐसी स्थिति शायद पैदा कभी नहीं होगी, मुझे यह ज़रूरी लग रहा था कि मैं इबादत अली के

सम्बन्ध में उसकी ग़लतफ़हमी दूर कर दूँ। दूसरी तरफ़ मुझे यह समझ नहीं आ रहा था कि उसे पूरी बात समझाऊँ किस तरह! एक पत्रकार के रूप में अपना फ़र्ज पूरा करने के लिए मैंने जो काम किया था, उसे करते हुए यह मैंने कब सोचा था कि वैयक्तिक स्तर पर मुझे उसे और ही तरह से झेलना पड़ेगा? पूरी बात बता देने पर एक डर यह भी था कि अगले दिन सारा मुहल्ला ठकुराइन के साथ आकर मेरे घर पर धरना न दे दे। यह सारी स्थिति मुझे बहुत नाटकीय और दुखदाई लग रही थी कि मैं तो अपने कर्तव्य से प्रेरित होकर एक लेख लिखता हूँ और उसके परिणामस्वरूप मेरे ही परिचित लोगों को बेघर-बार होना पड़ता है और उसके लिए पिटाई बुड्ढे इबादत अली की होती है। मुझे ठकुराइन को असलियत बता देने के सिवा कोई चारा नज़र नहीं आया।

“इसमें ग़रीब इबादत अली का कोई कसूर नहीं है भाभी।” मैंने कहा, “यह जो भी कार्रवाई हुई है, वह किसी रिपोर्ट की वजह से नहीं हुई। बात असल में यह है कि मैंने दिल्ली के कुछ इलाकों की गन्दगी के बारे में एक लेख लिखा था...।”

“तो तुमने ही लिखा था?” ठकुराइन सहसा तमक उठी। निम्मा भी, जो तब तक कमरे के बिखरे हुए सामान को उड़ती नज़रों से देख रही थी, सहसा इस तरह मुझे देखने लगी जैसे उनके घर में चोरी करके भागा हुआ चोर सहसा पकड़ लिया गया हो। “मुझे नहीं पता था भैया कि तुम हम लोगों के साथ इस तरह की बेमुरव्वती करोगे। तुमने और किसी का नहीं, तो कम से कम मेरा और इस लडक़ी का ही कुछ ख़याल किया होता कि हम ग़रीब बेघर-बार होकर कहाँ जाएँगी? मैं तो फिर भी जैसे-तैसे बख़त काट लूँ, मगर इस डेढ़ गज़ की घोड़ी को बताओ कहाँ ले जाकर रखूँ? तुमने तो लिख दिया और अपना नाम कर लिया, मगर हम गरीबों की सोचो अब क्या हालत होगी। सरकार हमको धक्का देकर घर से निकाल देगी, तो हम किसके घर में जाकर रहेंगी और किसके सिर चढक़र बैठेंगी? मैं तो पहले ही रात-दिन इसकी रखवाली करने में मरी जाती हूँ। फिर तो यही एक रास्ता रह जाएगा कि इसे साथ लेकर किसी कुएँ की शरण ले लूँ या तुम्हारे घर के सामने आ बैठूँ। तुमने हमारे साथ अच्छी की!”

“भाभी, तुम बात को ग़लत समझ रही हो।” मैं अपनी सफ़ाई देने की चेष्टा करने लगा, “बात दरअसल में इस तरह नहीं है। बात यूँ है कि...।”

“मैं तुम्हारी कोई बात नहीं सुनूँगी।” ठकुराइन रोष के साथ बीच में ही बोल उठी, “भाभी ने जितने दिन तुम्हें घर में रखा, बिल्कुल अपने सगों की तरह ही रखा और अपने सगों की तरह ही खिलाती-पिलाती रही। चाहे तुमसे पैसा लेकर ही खिलाया, मगर खिलाया तो उसी प्यार के साथ जो प्यार आज के ज़माने में लोगों को अपने सगों से भी नहीं होता। भाभी अगर ग़रीब न होती, तो तुमसे कभी एक पैसा भी न लेती। मगर तुम्हें भाभी को उसका यही बदला देना था? तुम बताओ तुमने अपने मुहल्ले के बारे में वे सब बातें क्यों लिखीं? आज चाहे नहीं, मगर कभी तो वह तुम्हारा अपना ही मुहल्ला था। तुमने हम लोगों के बारे में यह लिख दिया कि हम नालियों की गन्दगी में रहते हैं और हमारी लड़कियाँ जाने क्या-क्या करती फिरती हैं! कमेटीवाले जो आये थे, वे हँस-हँसकर हमसे पूछ रहे थे कि हमें बताओ मियाँ की लडक़ी का क्या किस्सा था। हाय, यह भी कोई लिखने की बात थी? वह मरी जैसी भी थी, तुम उसके बाप के दिल से तो पूछकर देखो कि उसके चले जाने से उसे कैसा लगता है!”

“भाभी, मैंने ऐसी कोई बात नहीं लिखी।” ठकुराइन के गुस्से के सामने मेरी स्थिति सचमुच एक मुजरिम की-सी हो गयी थी, “और जो कुछ मैंने लिखा था, वह उस एक मुहल्ले के बारे में ही नहीं, दिल्ली के और भी कई ऐसे इलाकों के बारे में लिखा था...।”

“तुम यह बताओ कि तुमने बीच में हमारे मुहल्ले का नाम लिखा था कि नहीं?”

“मुहल्ले का नाम किसी सिलसिले में बीच में आ गया होगा...।”

“आ गया होगा क्या? तुमने बीच में इबादत अली के घर का पता दिया था कि नहीं?”

“इबादत अली का नाम भी वैसे ही बीच में आ गया था, नहीं तो...।”

“नहीं तो क्या? तुमने सारी दुनिया के सामने हमारी मिट्टी पलीद कर दी और यह सब झूठ लिखकर! तुम्हें पता है कि अपनी इज़्ज़त-आबरू के लिए वहाँ सब लोग किस तरह अपनी जान सुखाकर रहते हैं और तुमने लिख दिया कि...।”

ठकुराइन का गुस्सा इतना बढ़ गया था कि शायद वह उस समय और भी कितना कुछ कह जाती। मैं सहसा मोढ़े से उठकर उसके कन्धे दबाने लगा, “भाभी, तुम मेरी बात तो सुनो।” मैंने कहा, “मैंने सचमुच कोई कसूर नहीं किया और न ही मैंने कोई ऐसी बात लिखी है। मैंने तो बल्कि जो बात लिखी थी, वह इससे बिल्कुल उल्टी थी...।”

“तो फिर कमेटीवाले वहाँ कागज लिखने क्यों आये थे? वे क्यों कहते थे कि ओवरसियर साहब आकर हमारे घर की जाँच करेंगे और उसे गिरवा देंगे?”

“पहले तुम शान्त हो जाओ भाभी, फिर मैं तुम्हें सारी बात समझाता हूँ।” कहकर मैं उसके कन्धे दबाता रहा। ठकुराइन पहले तो कुछ सकपकायी फिर सहसा हँस दी। उसके हँसने से निम्मा के होंठों पर हल्की-सी हँसी की रेखा आ गयी।

“पहले ऐसा काम करते हो, और फिर इस तरह भाभी की खुशामद करते हो,” ठकुराइन बोली।

“मैं पहले नीचे जाकर अपने दफ़्तर में फ़ोन कर दूँ कि मुझे आने में देर हो जाएगी, फिर आकर तुम्हें पूरी बात बताता हूँ।” मैंने कहा और ठकुराइन के आक्रोश से बचने के लिए झट नीचे चला गया। नीचे से मैंने दफ़्तर में फ़ोन किया और पास के दुकानदार से विटारोज़ की दो बोतलें ले लीं। बबुआइन ने मुझे बोतलें ले आते देखा, तो उसकी आँखों का कठोर भाव और भी कठोर हो गया।

मैंने बोतलें ले जाकर ठकुराइन के सामने रखीं, तो उसका चेहरा हँसी से फैल गया। अब इतनी सरदी में हमें यह ठंडा पानी पिलाओगे!” उसने कहा।

“अगर घर की तरह घर होता तो तुम्हें चाय ही पिलाता।” मैंने कहा, “मगर इस हालत में...।”

“तो तुमसे कहा किसने है कि तुम इस हालत में रहो?” ठकुराइन अब बहुत मीठे गुस्से के साथ बोली, “क्यों नहीं अपने लिए कोई लेडी-वेडी ले आते जो तुम्हारे घर को घर बना दे?”

लेडी-वेडी शब्द का उच्चारण ठकुराइन ने इस तरह किया कि निम्मा सहसा खुलकर हँस दी। मैंने बोतलें खोलकर उन दोनों को दे दीं। ठकुराइन अपनी हँसी को रोकती हुई बोली, “और क्या! किसी भले घर की लडक़ी से तुम्हारा गुज़ारा थोड़े ही होगा? तुम्हें तो चाहिएगी बस ऐसी कि...।”

“तुम्हें इतनी ही फिक्र है तो कोई ढूँढ़ क्यों नहीं देतीं!” मैंने सोचा कि इस तरह बात बदल जाएगी, तो मैं ठकुराइन के सामने अपनी बेगुनाही की बात अच्छी तरह रख सकूँगा।

“मैं तुम्हें आज ही ढूँढ़ देती हूँ, तुम करनेवाले बनो,” ठकुराइन बोली, “तुम्हारे लिए क्या लड़कियों की कमी है?”

“मुझे तो सख्त कमी नज़र आती है।” मैंने हँसकर कहा, “कोई लडक़ी मुझसे बात ही नहीं करती।”

“हाँ, वह आप ही तो बात करेगी तुमसे! जिसके आगे-पीछे कोई नहीं होगा, वही आकर तुमसे अपने आप बात करेगी।”

“तो बताओ फिर कैसे होगा?” मैंने अपना चेहरा गम्भीर बनाकर कहा, तो ठकुराइन सचमुच गम्भीर

हो गयी, “तुम्हें सचमुच करना हो, तो बात करो।” वह बोली, “ऐसे छेडख़ानी कर रहे हो तो बात दूसरी है।”

“नहीं छेडख़ानी नहीं कर रहा, बिल्कुल सच कह रहा हूँ।”

“तो बताओ किसी सीधी-सादी लडक़ी से करोगे या विलायत की मेम ही लाओगे।”

“विलायत की मेमें तो सुना है भाभी कि घर में आदमी को गुलाम बनाकर रखती हैं और...।”

“तो सीधी-सादी लडक़ी एक तो यह तुम्हारे सामने बैठी ही है। बोलो, करोगे इससे ब्याह?”

मैं एकदम चौकन्ना हो गया कि बात कहाँ की कहाँ पहुँच गयी! मैं नहीं जानता था कि हँसी की बात को ठकुराइन इतनी गम्भीरता से ले लेगी। निम्मा अपने हाथ की बोतल वहीं रखकर सहसा उठकर खिडक़ी के पास चली गयी। मेरा सोच-विचार सहसा गुम हो गया और मुझे गुस्सा भी आया कि ठकुराइन ने लडक़ी के सामने यह क्या बात कर दी।

“बोलो?” ठकुराइन ऐसे स्वर में बोली कि कुछ देर मेरी ज़बान तालू के पास अटकी रही। मैं बहुत कठिनाई से अपना मुँह खोल पाया। “इस बात को छोड़ो भाभी।” मैंने कहा, “अभी मैं अपना ही गुज़ारा नहीं कर पाता, तो ब्याह करके क्या करूँगा! मैं तो ऐसे ही बात कर रहा था।”

“बस!” ठकुराइन का स्वर फिर तीखा हो गया। “वह मुँह से कहने की ही बात थी न कि कोई सीधी-सादी लडक़ी हो, तो ब्याह कर लूँगा? साफ क्यों नहीं कहते कि ब्याह करूँगा तो किसी बालकटी सोनपरी से ही? मेरे बस की बात होती, तो मैं तुम्हारे लिए ऐसी भी ढूँढक़र ला देती। मगर यह मेरे बस की बात ही नहीं है।”

ठकुराइन ने जिस ढंग से यह कहा उससे मैं अन्दर ही अन्दर शरम से पानी हो गया। मैं अब चाहने लगा कि किसी तरह बात को पहले के विषय पर ला सकूँ, तो अच्छा है।

“मैं तुम्हें उस लेख के बारे में बता रहा था।” मैंने कहा, “वह लेख मैंने लिखा था कि इस शहर में जहाँ-जहाँ गन्दगी है, सरकार उसे दूर करने के लिए कोई क़दम उठाये।” और मैं काफ़ी घुमा-फिराकर और काफ़ी विस्तार के साथ ठकुराइन को बताने लगा कि उस लेख में मैंने क्या-क्या लिखा था और यह सब लिखने में मेरा उद्देश्य क्या था। जब मैं अपनी सारी दिमाग़ी पूँजी ख़र्च कर चुका तो ठकुराइन ने आहिस्ता से सिर हिला दिया। “झूठ बात है,” वह बोली, “पहले तो ये बातें लिखकर हम लोगों की जान नाक में कर दी, और अब ऊपर से यह लीपापोती कर रहे हो। तुम मुझे जितनी अनजान समझते हो, मैं उतनी अनजान नहीं हूँ।”

मैंने फिर उसे समझाना चाहा कि सरकार उनके लिए नये घर का प्रबन्ध किये बिना उनके पुराने घर को नहीं गिरा सकती और मैं इस बारे में पूछताछ करके थोड़े ही दिनों में उसे पूरा पता दूँगा। मगर ठकुराइन का अविश्वास उसी तरह बना रहा। “अब भैया इन बातों से हमें ठगो नहीं।” वह बोली, “मैं नहीं जानती थी कि तुम भी दस साल में इस तरह बिल्कुल बेपत के हो जाओगे और मुँह से कुछ कहोगे, करोगे कुछ।”

“अब भाभी, मैं तुम्हें किस तरह अपनी बात का विश्वास दिलाऊँ?” मैंने हताश होकर अपने हाथ आपस में उलझा लिये।

“भाभी को विश्वास दिलाने की क्या ज़रूरत है, भैया?” ठकुराइन अपनी चादर को ठीक से कन्धे पर समेटती हुई बोली, “तुम उसके लिए अच्छा करो, तो ठीक है और बुरा करो, तो ठीक है। उनके जाने के बाद इतने दिन हो गये दुनिया की मार सहते हुए। अब और पड़ेगी, तो और सह लूँगी। जहाँ बस न हो वहाँ आदमी कर क्या सकता है?”

"माँ, अब घर नहीं चलोगी?" कहती हुई निम्मा सहसा खिडक़ी के पास से हट आयी। मैंने देखा कि उसका चेहरा तमतमाया हुआ है और उसकी आँखों के कोरों में आँसू अटक रहे हैं जो उसके सँभालने पर भी नीचे गिर आने को हैं। मुझे उस समय पहली बार यह लगा कि वह लडक़ी बच्ची नहीं है, सचमुच बड़ी हो गयी है। तनकर खड़ी होने की वजह से वह शरीर के लिहाज़ से भी बच्ची नहीं लग रही थी। उसने जिस तरह उपेक्षा की नज़र से मुझे देखा, उससे क्षण-भर के लिए मुझे खुरशीद की आँखों का भाव याद हो आया और मैं उसके चेहरे से नज़र हटाकर दूसरी तरफ़ देखने लगा।

"हाँ, चल ही रही हूँ।" ठकुराइन चादर समेटकर उठती हुई बोली, "आज तो मरी, जाने को वह घर है, कल को वह घर भी नहीं रहेगा तो मुझसे कहाँ चलने को कहेगी?"

निम्मा की आँखों में रुके हुए आँसू सहसा नीचे बह आये। उसके साथ ही उसका चेहरा फिर बच्चों का-सा हो गया। उसने झट अपना मुँह मोड़ लिया और कमरे से बाहर चली गयी।

"अच्छा भैया, खुश रहो। भाभी के दिल से तो हमेशा तुम्हारे लिए असीस ही निकलेगी।" ठकुराइन ने रुलाई रोकने के लिए आँखों को झपकते हुए कहा, "कभी तुम्हें हमारी याद आ जाए, तो यह सोच लिया करना कि तुम्हारी खुशी से ही हमारी भी खुशी है। तुम्हारी भाभी के पास धन होता, तो वह तुम्हें खुशी देने के लिए अपनी तरफ़ से भी कुछ करती। मगर भगवान ने तो उसे ऐसी जगह मारा है जहाँ उसे पानी भी न मिले। देने को मेरे पास खाली असीस के सिवा क्या है? या यह अपनी जान है जो चाहकर भी किसी को दी नहीं जाती। यह जान भी अब इस लडक़ी की अमानत है। जितने दिन जीना है, अब बस इसी के लिए जीना है...।"

मैं ठकुराइन के साथ कमरे से बाहर निकला, तो निम्मा हमसे पहले ही जल्दी-जल्दी सीढिय़ों से उतर गयी। ज़ीने से उतरते हुए मैंने ठकुराइन से कहा, "भाभी, देखो तुम इस तरह दुखी होकर यहाँ से न जाओ। मेरी अपनी भी कुछ मजबूरियाँ हैं। और जहाँ तक घर का सवाल है, तुम यह विश्वास रखो कि तुम्हारा घर गिराने कोई नहीं आएगा।"

"सब विश्वास ही विश्वास है भैया।" ठकुराइन बोली, "यह मरा विश्वास ही खाकर तो ज़िन्दगी काट रहे हैं।"

"मैं उस बारे में पूरा पता करके तुम्हें कार्ड लिखूँगा, या किसी दिन खुद ही वहाँ आऊँगा," मैंने कहा।

"यूँ ही झूठी बात क्यों कहते हो?" ठकुराइन बोली, "तुम जो कार्ड लिखोगे और जैसे हमारे घर आओगे, वह मुझे सब पता है। और अगर आओगे, तो भैया, हमारे सिर-आँखों पर! भाभी के रहते, वहाँ कोई तुमसे एक बात भी कह जाए, तो कहना। मैं तो जाकर सबसे यही कहूँगी कि वह तुम्हारा काम नहीं है, क्या जाने किसने अख़बार में छपा दिया है! और तुम कभी आ ही जाओ, तो तुम भी किसी को यह न बताना कि तुम्हीं ने यह खेल किया था। नहीं तो सब जने मुझसे कहेंगे कि यह राँड भी इसमें शामिल है जो हमसे झूठ बोलती है...।"

हम जब तक नीचे पहुँचे, तब तक निम्मा खाई पार करने के फट्टे पर पहुँच गयी थी। उसने जल्दी-जल्दी फट्टे को पार किया, तो एक बार पैर सीधा न पडऩे से थोड़ा लडख़ड़ा गयी, मगर किसी तरह सँभलकर उस पार पहुँच गयी।

"तुम कहो तो मैं चलकर तुम्हें घर तक पहुँचा आऊँ।" मैंने ठकुराइन से कहा।

"नहीं भैया, तुम कहाँ चलोगे!" ठकुराइन खाई की उभरी हुई मिट्टी पर सँभल-सँभलकर पैर रखती हुई बोली, "हम लोग आते बखत पहुँच गयीं, तो जाते बखत क्या नहीं पहुँच पाएँगी? इस घर का तो रास्ता भी नहीं पता था, उस घर की तो पैर अपने-आप टोह ले लेते हैं। तुम अब चलो, जाकर

बैठो, पहले ही आकर तुम्हारा इतना टैम बरबाद कर दिया है। तुम भी कहोगे कि ये चुड़ैलें सुबह-सवेरे कहाँ से आ मरीं!”

“अम्माँ, अब तुम चलोगी कि नहीं?” निम्मा उधर से उतावले स्वर में बोली। मुझसे नज़र मिलते ही उसने मुँह दूसरी तरफ़ कर लिया और सीधी चल दी। उसकी चाल से भी न जाने क्यों मुझे फिर खुरशीद की याद हो आयी।

उन्हें छोडक़र मैं ऊपर जाने लगा, तो बबुआइन फिर अपने चौखट के पास खड़ी थी, उसकी लडक़ी दहलीज़ लाँघकर बाहर आने लगी, तो उसने उसे बाँह पकडक़र रोक लिया और कहा, “चल अन्दर!”

मैं ढीले पैरों से सीढिय़ाँ चढक़र ऊपर पहुँचा और एक पिटे हुए मोहरे की तरह चारपाई पर सीधा पड़ गया।

धूपछाँह मौसम बूँदाबाँदी में, बूँदाबाँदी वर्षा में और वर्षा रात तक ओलों में बदल गयी थी। मैं हरबंस के पास उसकी बैठक के कमरे में बैठा था। ओलों के गिरने की आवाज़ के अलावा वातावरण में बिल्कुल खामोशी छायी थी, एक मनहूस-सी खामोशी जैसे कि वह खामोशी एक समुद्र हो, आकाश के ओर-छोर तक फैला हुआ समुद्र, जिसे अपने में डूबी हुई दुनिया की हलचलों से कोई वास्ता न हो और जो बरसते हुए बादलों के नीचे बेबस पड़ा हो। कभी ओले तेज़ हो जाते थे और खिड़कियों से टकराने लगते थे। कोई-कोई ओला रोशनदान से उछलकर कमरे में आ गिरता था और फ़र्श की दरी पर पड़ा-पड़ा कुछ देर सवालिया नज़र से हमारी तरफ़ देखता रहता था और फिर दरी के रेशों में ही कहीं डुबकी लगा जाता था। जब ओलों का ज़ोर कम होता, तो हवा का हहराता हुआ झोंका खिडक़ी के किवाड़ों को थपथपाकर उस खामोशी को एक झटका दे जाता।

मैं चुपचाप बैठा हरबंस के चेहरे के उतार-चढ़ाव को देख रहा था। हरबंस हाथ और टाँगें फैलाये दीवार पर बैठा था जैसे अभी-अभी उसे उठकर वहाँ से चले जाना हो। बाँके थोड़ी देर पहले सुलगती हुई अँगीठी रख गया था और मैं उस पर हाथ ताप रहा था। अँगीठी आयी थी, तो हरबंस ने एक गहरी नज़र से उसे देखते हुए कहा था, “यह भी उसी लडक़ी ने भिजवायी है। वह होती, तो क्या यह बात वह कभी सोच भी सकती थी?” ‘उसी लडक़ी’ से मतलब था शुक्ला से और ‘वह’ से मतलब था नीलिमा से। जिस समय मैं आया था उसी समय से मैंने लक्ष्य किया था कि नीलिमा की अनुपस्थिति में घर की सारी व्यवस्था शुक्ला ने सँभाली हुई है। उसने न सिर्फ़ घर का सारा सामान ठीक-ठिकाने से रख दिया था, बल्कि बाँके के साथ मिलकर रसोईघर में खाना भी बनवा रही थी। मुझे देखकर उसके मुरझाये हुए चेहरे पर खुशी की एक लहर दौड़ गयी थी और उसने कहा था, “तो आप आ गये हैं! मैं तो दोपहर से ही आपकी राह देख रही थी। भापाजी उधर अपने पढऩे के कमरे में हैं।”

“अब उसकी तबीयत कैसी है?” मैंने पूछा तो उसके चेहरे पर जाने क्यों बहुत रूखा-सा भाव आ गया।

“उनकी तबीयत ठीक नहीं है।” वह बोली, “मुझसे वे बात ही नहीं करते, इसलिए बाँके ही उनके कमरे में आता-जाता है। आप अगर हो सके तो आज की रात उनके पास रह जाएँ। किसी को तो रात को उनके पास होना ही चाहिए। रहने को तो मैं ही रह जाती, मगर...।” और अपनी सूनी-सी आँखों को आग की तरफ़ से हटाकर उसने कहा, “मैं सावित्री दीदी को और हर चीज़ के लिए माफ़ कर सकती हूँ मगर आज भापाजी के पास न आने के लिए कभी माफ़ नहीं कर सकती। इसका तो

मतलब है कि उनके दिल में...।"

"मैं भी सुबह उसके पास गया था।" मैंने कहा, "मगर वह उसी तरह अपनी ज़िद पर अड़ी हुई है।"

"तो वे अड़ी रहें अपनी ज़िद पर!" कहते हुए शुक्ला की गरदन जिस तरह तन गयी, वह ढंग बिल्कुल नीलिमा जैसा था, "इससे किसी का नुक़सान होगा, तो उन्हीं का होगा। भापाजी की देखभाल तो किसी न किसी तरह हो ही जाएगी; वह सारी उम्र बैठकर पछताती रहेंगी। मैंने भी सोच लिया है कि न तो अब खुद ही उन्हें बुलाने जाऊँगी, और न ही किसी और को भेजूँगी। उन्हें अकेली रहना है, तो रहें अकेली और अगर किसी और के साथ घर बसाना है, तो...।"

"छि:!" मैंने कहा, "तुम भी ऐसी बे-सिर-पैर की बातें करने लगीं?"

"मैं बे-सिर-पैर की बातें नहीं कर रही।" वह बोली, "उनके स्वभाव को मैं और लोगों से ज़्यादा जानती हूँ। बल्कि जितना वे खुद जानती हैं, उससे भी ज़्यादा जानती हूँ। उन्हें ज़िन्दगी में जो कुछ मिला है उसकी वे परवाह नहीं करतीं, और जो कुछ नहीं मिला, उसी के पीछे भटकती हैं। मगर मैं विश्वास के साथ कह सकती हूँ कि वे भापाजी के साथ रहकर सुखी नहीं रह सकीं, तो सुख पाना उनके लिए बदा ही नहीं है। वे ज़िन्दगी-भर एक मृगतृष्णा के पीछे भटकती रहेंगी और इसी तरह छटपटाती रहेंगी।" शुक्ला का जूड़ा ढीला हो रहा था, शायद दिन-भर की व्यस्तता के कारण। उसके बालों की कई लटें उसके चेहरे पर आ गयी थीं। उसकी फ़िरोज़ी रंग की काँजीवरम् की साड़ी भी बहुत ढीले-ढाले ढंग से बँधी हुई थी जिससे उसका शरीर कुछ फूला-फूला-सा लग रहा था। जाने आग की वजह से या वैसे ही उसका चेहरा पहले से कहीं चिकना लग रहा था। मेरे मन में सहसा यह बात उठ आयी कि शायद थोड़े दिनों में वह माँ बननेवाली है। उसी क्षण, शायद मेरी आँखों के भाव को पढक़र, वह थोड़ा लजा गयी और उसके चेहरे की चिकनाहट में हल्की-सी सुरखी घुल-मिल गयी जिससे मेरा अनुमान निश्चय में बदल गया। बाँके ने हरबंस के कमरे में ले जाने के लिए कॉफ़ी बना ली थी। मैंने कॉफ़ी की ट्रे उसके हाथ से ले ली और कहा, "तुम रहने दो, मैं ले जाता हूँ।" जब मैं ट्रे लेकर वहाँ से चलने लगा, तो शुक्ला का सुर्ख चेहरा आग की तरह ही दमक रहा था।

हरबंस अपने पढऩे के कमरे में उसी पलंग पर लेटा हुआ था जिस पर एक बार मैंने रात काटी थी। अपने रूखे उलझे हुए बालों और दिन-भर की बढ़ी हुई दाढ़ी के कारण वह सचमुच बहुत बीमार लग रहा था। मुझे देखते ही वह एक झटके के साथ सीधा उठ बैठा और अपनी टाँगों पर फैले हुए कम्बल को हटाता हुआ बोला, "आओ, मैं तुम्हारा ही इन्तज़ार कर रहा था। मैंने सोचा था कि शायद तुम कुछ जल्दी आओगे।"

मैंने ट्रे रख दी और एक ही साँस में पूरा ब्यौरा दे दिया कि सुबह से अब तक मैं किस तरह व्यस्त रहा हूँ। सिर्फ़ नीलिमा के पास जाने की बात मैंने नहीं बतायी। उसके पलँग के नीचे ह्विस्की की बोतल रखी थी जो तीन-चौथाई से ज़्यादा खाली थी। उसके साथ ही सोडा की कई खाली बोतलें रखी थीं। तिपाई पर कुछ फ़ाइलें रखी हुई थीं, जिनमें अस्त-व्यस्त लिखे हुए कुछ कागज़ थे। मैंने बैठते हुए एक सरसरी नज़र उन कागज़ों पर डाली, तो मुझे यह पहचानने में देर नहीं लगी कि वे वही कागज़ हैं जिन पर कभी उसने एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया था और जो तब से अब तक उसी तरह उलझे हुए रखे थे। उसने जल्दी से उन फ़ाइलों को बन्द कर दिया और बिस्तर से उठ खड़ा हुआ। "चलो साथ के कमरे में चलकर बैठते हैं।" उसने कहा, "कल रात से यहाँ पड़े-पड़े मेरा जिस्म और दिमाग़ बिल्कुल ज़ंग खा गये हैं।" और उसने खुद की ही कॉफ़ी की ट्रे उठा ली। हम दोनों बैठक के कमरे में आ गये, उसने खुद ही कॉफ़ी बनायी और एक प्याली मेरी तरफ़ बढ़ा दी।

"तुम कल से अब तक बहुत सुस्त पड़ गये हो।" मैंने कहा। मैंने जान-बूझकर यह नहीं कहा कि वह कल से काफ़ी अस्वस्थ लग रहा है।

"शायद बिस्तर में पड़े रहने की वजह से ऐसा लग रहा हो।" वह बोला, "वैसे मैं बिल्कुल ठीक हूँ।"

"इसका मतलब है कि तुम पड़े-पड़े बहुत कुछ सोचते रहे हो।"

उसने सिर्फ़ कन्धे हिला दिये और कॉफ़ी के घूँट भरता रहा। फिर क्षण-भर बाद स्वयं ही बोला, "हाँ, कुछ सोचता भी रहा हूँ। और कुछ क्यों, कई कुछ सोचता रहा हूँ। तुम्हें पता है कि सावित्री घर छोडक़र चली गयी है?"

"मुझे पता है वह बीजी के घर पर है।"

"एक बार जब वह पहले छोडक़र गयी थी, तो मैंने महसूस किया था कि उसे नहीं जाना चाहिए था। मगर इस बार मैं बहुत सोच-सोचकर इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि उसने जाकर शायद ठीक ही किया है। वह न जाती, तो हम लोग ज़िन्दगी-भर साथ रहकर उसी तरह कुढ़ते रहते। उसने अच्छा किया जो खुद ही निश्चय कर लिया। अगर यही निश्चय मुझे करना पड़ता, तो मेरे मन को ज़्यादा तकलीफ़ होती। अब मैं ज़्यादा साफ़ मन से अपने रास्ते पर लौट सकता हूँ।"

मैं उसका मतलब समझकर भी जान-बूझकर अनजान-सा उसकी तरफ़ देखता रहा। वह बताने लगा कि किस तरह जब पिछली रात को वे लोग लौटकर घर आये, तो पहले कुछ देर दोनों में कोई बातचीत नहीं हुई और उन्होंने चुपचाप बैठकर खाना खाया। खाना खाने के बाद नीलिमा ने उसके बहुत पास आकर उसकी आँखों में देखते हुए कहा, "तो तुम्हें आज मुझसे बहुत निराशा हुई है न?"

"अगर सच पूछती हो, तो मुझे बहुत निराशा हुई है।" वह बोला, "मैंने तुमसे कहा था कि तुम्हें अभी कुछ दिन और इन्तज़ार करना चाहिए।"

इस पर नीलिमा भडक़ उठी और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगी कि वह अपनी इन्हीं बातों से आज तक उसकी ज़िन्दगी नष्ट करता आया है; कि वह उसे बहुत छोटा और बहुत स्वार्थी आदमी समझती है; और कि उस दिन के शो को ख़राब करने की पूरी ज़िम्मेदारी उसी पर है। उसने जान-बूझकर अगर समय पर धोखा न दिया होता, तो आज वह दुनिया के सामने इस तरह ज़लील न होती। "मैं नहीं जानती थी कि तुम जान-बूझकर मेरे साथ इस तरह की हरकत करोगे।" वह कहती रही, "अगर तुममें ज़रा भी इन्सानियत का माद्दा होता, तो तुम मुझसे पहले ही कह देते कि तुम इस शो की सफलता नहीं चाहते। तुम अपने को बिल्कुल अलग रखते, तो भी सब कुछ ठीक हो सकता था। मगर तुमने जान-बूझकर ढोंग रचा, गुप्ता से झूठ बोला, मुझसे झूठ बोला और समय पर आकर हमें धोखा दे दिया। मैं तुम्हें इतने बरसों से अच्छी तरह जानकर भी पूरी तरह नहीं जान सकी थी। मैं नहीं जानती थी कि कोई इन्सान इतना नीचे तक भी जा सकता है। तुमने यूरोप में एम्प्रेसारियो के साथ मिलकर सारे ग्रुप को जिस तरह ख्वार किया था, उसकी भी वजह ठीक से मुझे अब समझ आ रही है। तुम्हारे लिए मैं सिर्फ़ औरत का शरीर हूँ, तुम्हारी वासना-पूर्ति का साधन, और तुम यह बरदाश्त नहीं कर सकते कि मैं इससे ज़्यादा कुछ बन सकूँ। तुम खुद एक असफल आदमी हो, इसलिए तुम मुझे भी अपनी तरह असफल बनाकर रखना चाहते हो। मगर मैं असफल चाहे रहूँ, तुम्हारे घर में अब नहीं रहूँगी। मुझे अफ़सोस है कि मैंने यह फ़ैसला बहुत पहले ही क्यों नहीं कर लिया। मगर अब समय हाथ से निकल गया है, इसलिए मैं मन मारकर चुपचाप तुम्हारे पास नहीं बैठी रहूँगी। मैं तुम्हारा घर छोडक़र जा रही हूँ और इसी समय जा रही हूँ। अगर तुम ज़रा भी इन्सान हो तो तुम मुझे रोकने या वापस बुलाने की कोशिश मत करना। मेरी तरफ़ से तुम्हें खुली छुट्टी है कि तुम जो जी चाहे करो, जिसे चाहे घर में रखो और जैसे चाहे अपनी ज़िन्दगी बिताओ। हम आज तक भी एक-दूसरे के लिए अजनबी थे, मगर इस बात को मानना नहीं चाहते थे। अब आगे के लिए इतना ही फ़र्क़ होगा कि हम इस बात को मानकर रहेंगे। अच्छा यही होगा कि आज के बाद न तुम मेरा चेहरा देखो और न ही मैं तुम्हारा चेहरा देखूँ। हमें आज से समझ लेना चाहिए कि हम एक-दूसरे के लिए मर चुके हैं।"

नीलिमा बोल रही थी और वह अपना सिर हाथ में पकड़े चुपचाप पलँग पर बैठा था। उसे बार-बार एक ही बात सूझ रही थी कि वह उसे बाँहों से पकड़ ले और उसके मुँह पर हाथ रखकर उसका मुँह बन्द कर दे। मगर वह यह भी नहीं कर सका और चुपचाप बैठा रहा। बोलते-बोलते नीलिमा के मुँह से झाग आने लगा, तो उसे उस पर दया भी आयी, मगर उसने बिना कुछ कहे चुपचाप ह्विस्की की बोतल लाकर खोल ली। नीलिमा दूसरे कमरे में चली गयी, तो उसने एक गिलास में ह्विस्की डालकर बाँके के हाथ उसके लिए भी भेज दी। मगर उसने गिलास बाँके से लेकर ज़मीन पर पटक दिया और जल्दी-जल्दी अपने कपड़े वगैरह बाँधकर खुद ही टैक्सी लाने भी चली गयी। जब उसने अपना सामान टैक्सी में रख लिया और सोये हुए अरुण को उठाकर बाहर जाने लगी, तो बाँके घबराया हुआ शुक्ला को बुलाने चला गया। मगर शुक्ला के आने से पहले ही वह वहाँ से चली गयी थी।

“तब से ही मैं इस लडक़ी को देख रहा हूँ।” हरबंस हाथ और टाँगें फैलाये कॉफ़ी का घूँट भरकर बोला, “कल रात से अब तक इसने क्या नहीं किया? मैं दरवाज़ा अन्दर से बन्द करके शराब पी रहा था और यह बाहर इस तरह बेचैन-सी घूम रही थी जैसे इसी के साथ कोई दुर्घटना हुई हो। मुझे इसने आवाज़ नहीं थी, खुद दरवाज़ा भी नहीं खटखटाया, इसलिए कि मैं इसके साथ बात नहीं करता, इसलिए कि मुझे इसका बुरा न लगे। मगर इसकी हर हल्की से हल्की आहट और फुसफुसाहट मेरे कानों में पड़ती रही है। बाँके जब भी दरवाज़ा खटखटाता था, तो मुझे पता चल जाता था कि यह दरवाज़े के पास ही खड़ी है। कभी-कभी तो मुझे महसूस होता था जैसे यह बन्द दरवाज़े से अन्दर चली आयी हो और मेरे सामने खड़ी होकर खामोश आँखों से मुझे देख रही हो। कोई व्यक्ति पास न होते हुए भी इतना पास हो सकता है, यह मैंने पहली बार महसूस किया। मुझे लग रहा था कि मेरे अन्दर की ही कोई कमज़ोरी उभरकर बाहर आ रही है और मैं इसकी उपस्थिति की बात भूल जाना चाहता था। मेरा शरीर और मन जैसे एक पहाड़ के शिखर से नीचे को झूलकर रुका हुआ था। मैं उस स्थिति से बचने के लिए, उसे भूलने के लिए, लगातार पीता रहा, पीता रहा। मगर मुझसे महसूस होता था कि जो चीज़ मुझे गिरने से बचाये हुए है, वह शराब नहीं है, एक ऐसा हाथ है जो छुए बिना मुझे कसकर पकड़े हुए है। मुझे मन में एक आभार का अनुभव भी हो रहा था और उस अनुभव से मुझे कुछ बुरा भी लग रहा था। मैं अनुभव से बचना चाहता था, मगर...।”

वह बिल्कुल निढाल-सा बैठा था और उसकी आँखें बाहर की बजाय अन्दर की तरफ़ झाँकने लग रही थीं। ओलों का तूफ़ान बीच में ज़ोर से खिडक़ी से टकराता और फिर धीमा पड़ जाता था। वह एक कड़वी चीज़ को निगलने की तरह कुछ देर आँखें बन्द किये और माथे पर बल डाले बैठा रहा और फिर बोला, “आधी रात को मेरी तबीयत बहुत ख़राब हो गयी। पहले कै हुई, फिर सिर चकराने लगा और सारे शरीर से जान निकलती हुई-सी लगने लगी। तब शायद रात के दो या ढाई बजे थे। बाँके ने तब ज़ोर-ज़ोर से दरवाज़ा खटखटाया जिससे दरवाज़े की चटखनी अपने आप खुल गयी। बाँके अन्दर आया, तो भी मुझे लगा कि यह लडक़ी बाहर दरवाज़े के पास खड़ी है। बाँके ने बत्ती जलायी, तो यह जल्दी से दरवाज़े के पास से हट गयी। उस नीम बेहोशी की हालत में भी मेरे मन में एक डर-सा समा गया कि सुरजीत को पता चलेगा कि यह आधी रात को अकेली इस घर में रही है, तो वह क्या सोचेगा और इसके साथ क्या सलूक करेगा? मैं यह नहीं मान सकता कि वह सुरजीत को बताकर उस समय यहाँ आयी होगी और उसने इसे आने दिया होगा। यह बात सोचकर मेरी आँखों के सामने अँधेरा गहरा होने लगा और फिर मुझे सुबह तक होश नहीं आया कि मैं कहाँ पड़ा हूँ और कैसे पड़ा हूँ। सुबह जब मेरी आँखें खुलीं, तो मैं दो तकियों के बीच बिस्तर पर पड़ा था। कमरे की सब चीज़ें ठीक-ठिकाने से रखी थीं जैसाकि नीलिमा के रहते हुए कभी नहीं होता था। बाँके ऊँघता हुआ अपने कम्बल में लिपटा दहलीज़ के पास बैठा था मगर रसोईघर में चूल्हा जल रहा था और केतली में चाय का पानी उबल रहा था।”

तभी बाँके उधर से कम्बल और गरम पानी की बोतल लिये हुए आ गया। “साहब, छोटी बीबीजी

कह रही हैं आप लेट जायें।" उसने दोनों चीज़ें हरबंस को देते हुए कहा। हरबंस ने एक आज्ञाकारी बच्चे की तरह दोनों चीज़ें ले लीं और गद्दी बाँह के नीचे रखकर कुहनी के बल लेट गया। "और आप साहब, खाना कब खाएँगे?" बाँके ने मुझसे पूछा।

"मैं खाना यहाँ से जाकर ही खाऊँगा।" मैंने कहा, "तुम मेरे लिए कुछ मत बनाओ। इनके लिए जो कुछ बना हो, वह इन्हें खिला दो।"

"इनके लिए सूप और आपके लिए खाना तैयार हो चुका है।" बाँके बोला, "आप जब कहेंगे, तभी मैं ले आऊँगा। आपके लिए धुला हुआ कुरता-पाजामा भी निकालकर रख दिया है। छोटी बीबीजी कह रही हैं आप रात को यहीं रहेंगे।"

"नहीं, देखो बात यह है...", मैं कहने लगा। मगर उसी समय ड्योढ़ी के दरवाज़े के पास से शुक्ला की थकी हुई-सी आवाज़ सुनायी थी, "बाँके, इनसे कहो कि ये भी सावित्री दीदी की तरह न हो जाएँ। रात को किसी को तो भापाजी के पास रहना ही चाहिए।"

बाँके ने एक बार उधर देखा और फिर मेरी तरफ़ मुडक़र बोला, "तो जी, आपको पाजामा-कुरता दे दूँ, या...?"

"अभी रहने दो।" मैंने कहा, "अगर मैं रह गया तो मैं सोने से पहले तुमसे ले लूँगा।" बाँके के दाँत निकल आये और दरवाज़े पर झुकी हुई छाया दरवाज़े के पास से हट गयी।

शुक्ला के मुँह से सावित्री दीदी का ज़िक्र सुनते ही हरबंस के चेहरे का भाव कुछ बदल गया था। बाँके चला गया, तो वह पल-भर हाथ से अपने माथे को दबाये रहा।

"सिर में दर्द है क्या?" मैंने पूछा।

"नहीं, दर्द नहीं है, एक जकड़-सी है।" वह बोला, "मुझे कल से एक बहुत अजीब-सा अनुभव हो रहा है। मुझे पहली बार लग रहा है कि यह घर घर है और यहाँ जो जैसे होना चाहिए, वैसे ही हो रहा है। यह कितना बड़ा व्यंग्य है कि जो कुछ मैं नीलिमा से चाहता रहा हूँ, वह सब कुछ उसकी अनुपस्थिति में हो रहा है; और इसलिए सब कुछ होते हुए भी मेरे मन का खालीपन ज्यों का त्यों है, बल्कि पहले से भी बढ़ गया है।"

"तुम इसके लिए नीलिमा को ही दोषी नहीं ठहरा सकते।" मैंने कहा, "दोष बहुत-कुछ तुम्हारा अपना भी है। तुम उससे वह कुछ माँगते हो जो वह नहीं दे सकती और जो वह दे सकती है...।"

"वह मुझे कुछ नहीं दे सकती।" कहता हुआ वह गरम पानी की बोतल पीठ के पीछे रखकर सीधा बैठ गया। "इतने बरसों में मैं इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि न वह मुझे कुछ दे सकती है और न मैं उसे कुछ दे सकता हूँ। इसलिए उसने अलग रहने का निश्चय कर लिया है, यह अच्छा ही है, नहीं तो वही चख़-चख़ ज़िन्दगी-भर बनी रहती। वह दस साल पहले जो कुछ मुझे नहीं दे सकती थी, वह आज भी नहीं दे सकती और दस साल और गुज़र जाते, तो भी न दे पाती।"

हवा की लहर एक गूँज के साथ आयी और निकल गयी। उस गूँज के बाद भी वातावरण में एक छटपटाहट-सी बनी रही, जैसे हवा जाते-जाते उसमें कई कुछ तोड़ और बिखेर गयी हो। कुछ क्षण भीगे हुए आकाश की तिप-तिप करती ख़ामोशी बनी रही और फिर एक वैसी ही गूँज उठ आयी।

"तुम्हें कल तो कम से कम उसका उत्साह नहीं तोडऩा चाहिए था।" मैंने कहा, "यह क्या ठीक था कि वहाँ से आते ही तुमने कह दिया कि तुम्हें उसके प्रदर्शन से निराशा हुई है?"

हरबंस पल-भर सीधी नज़र से मुझे देखता रहा। फिर बोला, "तुम्हारी इस बीच नीलिमा से

मुलाकात हुई है?"

"मैं सुबह उससे मिल चुका हूँ।" मैंने कहा।

उसकी पीठ में शायद बहुत दर्द हो रहा था, क्योंकि उसने अपने पीछे बोतल को फिर ठीक किया और पल-भर फ़र्श की तरफ़ देखता हुआ कुछ सोचता रहा। फिर आँखें उठाकर बोला, "बात यह है मधुसूदन कि मैंने कभी उसे धोखे में नहीं रखना चाहा और शायद यही मेरी सबसे बड़ी कमज़ोरी है। मुझे सबसे बड़ा दु:ख इस बात का है कि वह आज तक मुझ पर विश्वास नहीं कर सकी। वह यही समझती है कि मैं अपने हीन भाव से जकड़ा हुआ हूँ, इसीलिए उसे ऊपर नहीं उठने देना चाहता। कल रात को उसने जो कुछ कहा, उसने मेरे अन्दर के घाव को और भी गहरा कर दिया है।"

"मगर उसका गिला भी तो बेजा नहीं था। तुम टिकटों की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर नहीं लेना चाहते थे, तो तुमने उससे पहले ही क्यों नहीं कह दिया?"

"तो तुम भी समझते हो कि मैंने जान-बूझकर ऐसा किया है?" उसकी आँखों का भाव बहुत व्यथापूर्ण हो उठा, "तुम्हारा भी यही ख़याल है कि मैं अपनी हीनता की भावना से पीड़ित हूँ और उसे धोखा दे रहा हूँ? मगर न तुम जानते हो, न वह जानती है, और न कोई और ही जानता है कि मेरे अन्दर क्या गुज़र रही है। मैं परसों टिकट देने के इरादे से ही पोलिटिकल सेक्रेटरी के यहाँ गया था।"

"तो फिर तुम उसे बिना टिकट दिये ही क्यों लौट आये? उसने जब खुद तुमसे कहा था कि...।"

"हा-हा!" वह अपने ख़ास लहजे पर आकर बोला, "यही बात है जिसे मेरे आसपास के लोगों में से कोई समझना नहीं चाहता। वह आदमी मेरे ऊपर इतना मेहरबान क्यों है? और आज ही नहीं, बहुत दिनों से वह मेरे लिए कुछ न कुछ करने की कोशिश करता रहता है। आखिर क्यों?"

"तुम इसकी क्या वजह समझते हो?"

"वजह बहुत साफ़ है, मधुसूदन! तुम्हें मैंने बताया था कि वे लोग मुझे एक बहुत अच्छी नौकरी ऑफ़र कर रहे हैं।"

"हाँ, यह तो बताया था, मगर यह नहीं बताया था कि वह नौकरी कैसी है और तुम्हें उसे लेने में एतराज़ क्या है?"

"नौकरी बहुत अच्छी है।" वह बोला, "और सीधे तौर पर देखा जाए, तो मुझे उसे लेने में कोई एतराज़ नहीं होना चाहिए। भारतीय संस्कृति केन्द्र के सेक्रेटरी की जगह खाली है और वही जगह मुझे ऑफ़र की जा रही है।"

"अरे!" मैं एकदम चौंक गया, "भारतीय संस्कृति केन्द्र के सेक्रेटरी की जगह और वह ऑफ़र तुम्हें ये लोग कर रहे हैं? इनका भारतीय संस्कृति केन्द्र के साथ क्या सम्बन्ध है?"

'क्या सम्बन्ध है?" वह थोड़ा आवेश के साथ बोला, "तुम दिल्ली में रहते हुए भी नहीं जानते कि क्या सम्बन्ध है? भारतीय संस्कृति केन्द्र की स्थापना किसके पैसे से हुई है? उसकी नीति का संचालन किन लोगों के हाथ में है? शची को उसकी प्रधानता स्वीकार करने के लिए तुम्हें पता है कितना पैसा दिया जाता है?"

"मगर...।" मैं भौंचक्का-सा उसके चेहरे की तरफ़ देखता रहा।

"मगर क्यों?"

"मगर भारतीय संस्कृति केन्द्र तो भारतीय कला और संस्कृति को प्रोत्साहित करने का ही काम करता है। उनके कार्यक्रमों में तो ऐसा कुछ नहीं होता जिसका दूर से भी राजनीति के साथ किसी तरह का सम्बन्ध हो...।"

हरबंस ने हताश भाव से कन्धे हिलाये और पल-भर चुप रहा। फिर बोला, "तुम पत्रकार हो और जानते हो कि राजनीति में बफ़र स्टेट क्या अर्थ रखती है। साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी इस तरह की बफ़र स्टेट अपना अर्थ रखती है। भारतीय संस्कृति केन्द्र का काम सिर्फ़ इतना ही है कि वह साहित्यिकों और कलाकारों की एक ऐसी बफ़र स्टेट बनाये रखे जिसकी कम से कम दूसरे पक्ष के साथ सहानुभूति न हो। राजनीतिक दृष्टि से यह काम तुम्हारे ख़याल में कम महत्त्वपूर्ण है? इसी काम के लिए ये लोग 'कल्चर' नाम के अँग्रेज़ी साप्ताहिक को पैसा दे रहे हैं, इसीलिए कुछ लोगों को हर साल विदेश-यात्रा के लिए भेजते हैं। ये सबके सब उस बफ़र स्टेट को बनाये रखने के साधन हैं। इसके लिए किसी आदमी का नाम उपयोगी है, कोई आदमी दूसरी तरह से उपयोगी सिद्ध हो सकता है, इसलिए उसे हथियाने की कोशिश की जाती है। मुझे भारतीय संस्कृति केन्द्र के सेक्रेटरी का पद किसलिए दिया जा रहा है?"

"किसलिए दिया जा रहा है?"

"तुम्हें यह समझ नहीं आता कि मैं भी एक उपयोगी आदमी हूँ? मैं आज जिस पद पर काम कर रहा हूँ, उस पद को ध्यान में रखते हुए...तुम्हें कुछ भी समझ नहीं आता कि मैं किस तरह उपयोगी हूँ?"

अँगीठी की आँच मुझसे बरदाश्त नहीं हो रही थी, इसलिए मैंने अपनी कुरसी बदल ली।

"तो तुम समझते हो कि...।"

"मैं ही नहीं समझता, बात ही दरअसल यह है। मैं अपने को धोखे में रखना चाहूँ, तो कुछ भी कह सकता हूँ। मेरे मन में कई बार यह आया है कि जब दुनिया इसी रास्ते पर चल रही है, तो मैं भी क्यों न चलूँ! जब मेरे बदलने से दुनिया नहीं बदल सकती, तो मैं ही क्यों एक फिसलनवाले रास्ते को अपनाऊँ? मैंने कितनी ही बार अपने मन को मनाया है कि एक बार जाऊँ और चुपचाप बिन्दुओंवाली रेखा पर हस्ताक्षर करके लौट आऊँ। परसों भी मैं गया था, तो मेरे मन में अनिश्चय बना हुआ था। मगर वहाँ जाते ही उसने पहली बात इसी विषय में आरम्भ की, तो कोई चीज़ मेरे अन्दर से उठकर गले की तरफ़ आने लगी। मुझसे यह बरदाश्त नहीं हुआ कि मैं भी अपने को उसी पंक्ति में देखूँ जिसमें 'कल्चर' का सम्पादक है, सुषमा श्रीवास्तव है और हमारे परिचितों में कई और लोग हैं...।"

सुषमा का नाम बीच में आ आने से अचानक मेरे होंठ सूखने लगे। "तुम सुषमा के बारे में यह कैसे कह सकते हो कि वह भी इन्हीं लोगों में से है?" मैंने कुछ कठिनाई के साथ कहा।

"हा-हा!" वह बोला, "क्या मैं नहीं जानता? सुषमा कुछ दिन मेरे साथ भी घूमती रही है। एक बार मुझे लगा था कि मैं उससे अच्छी इंटलेक्चुअल मित्रता प्राप्त कर सकता हूँ। मगर बहुत जल्दी मुझे पता चल गया कि मैं कितने बड़े धोखे में हूँ। सुषमा ने उन्हीं दिनों करनाल में अपने पिता को नया मकान बनवाकर दिया था। उसके पिता की आर्थिक हालत क्या थी, मैं जानता हूँ। मैंने उससे पूछा कि अचानक वे लोग इतने अमीर कैसे हो गये, तो उसने मेरा हाथ दबाकर उत्तर दिया कि इस तरह के सवाल किसी से नहीं पूछने चाहिए।

मेरा सिर चकरा रहा था। मैंने कुरसी की दोनों बाँहों को पकडक़र अपने को सँभाले हुए कहा, "मगर तुमने यह बात मुझे पहले क्यों नहीं बतायी?"

"मैं सोचता था कि तुम्हारा उसके साथ इतना उठना-बैठना है, तुम्हें सब पता होगा। और जब मैं ही अपने मन में अपने लिए तय नहीं कर पा रहा था तो मुझे तुमसे कुछ कहने का अधिकार ही क्या था?"

मेरा शरीर और दिमाग़ बिल्कुल खाली हो गये थे। मेरी छाती में एक गोला-सा अटक रहा था। मैं खोयी हुई आँखों से चुपचाप उसकी तरफ़ देखता रहा तो वह बोला, "कल जाते ही उस आदमी ने मेरे साथ जब वह बात छेड़ दी, तो न जाने क्यों मेरे लिए वहाँ बैठना और उससे बात करना भी मुश्किल हो गया। उसके चेहरे पर जो रहस्यमय मुस्कराहट थी, वह मुझसे बरदाश्त नहीं हुई। यह कहकर कि मैं अभी दो मिनट में आ रहा हूँ, मैं उसके पास से उठकर चला आया और फिर लौटकर उसके पास नहीं गया। मैंने नीलिमा से कहा था कि मेरा उस आदमी से झगड़ा हो गया है। मगर सच बात यह है कि मेरा उससे कोई झगड़ा नहीं हुआ। अब सोचता हूँ तो लगता है, सचमुच उससे झगड़ा करके ही आया होता तो ज़्यादा अच्छा था। तब मुझे अपने मन के किसी कोने में यह आशंका तो न रहती कि शायद अब भी मैं किसी वक़्त जाकर बिन्दुओंवाली रेखा पर हस्ताक्षर कर आऊँ...।"

"मधुसूदन भाई!" दरवाज़े के चौखट के पास से शुक्ला की थकी हुई आवाज़ फिर सुनायी दे गयी। मैं उठकर ड्यौढ़ी में आ गया, तो वह थोड़ा गुस्से के साथ बोली, "देखिए, सारी रात भापाजी की तबीयत ख़राब रही है और अब भी ये लगातार बातें किये जा रहे हैं। कल को क्या ये अस्पताल ही जाना चाहते हैं? आप इन्हें बातें करने से रोकिए और कहिए कि थोड़ा-सा सूप पीकर सो जाएँ। मैं आपका खाना भी भेज रही हूँ। रात काफ़ी हो गयी है और वैसे भी इतनी सरदी है,आप लोगों को अब चुपचाप सो जाना चाहिए।" उसका जूड़ा बिल्कुल खुल गया था जिससे उसके बाल कन्धों पर बिखर आये थे। उस रूप और अपने अधिकारपूर्ण स्वर के कारण वह सचमुच घर की मालकिन लग रही थी।

"मैं अभी जाकर उसे बातें करने से रोक देता हूँ।" मैंने कहा, "तुम खाना भेज दो।" मैं कमरे में आया, तो हरबंस तब अपनी बाँह आँखों पर रखकर सीधा लेट गया था। वह ज़रा भी नहीं हिला-डुला, तो मुझे लगा कि वह अचानक ही सो गया है। "तुम्हें नींद आ गयी?" मैंने पूछा।

"नहीं।" उसने बाँह हटाकर आँखें खोल लीं, "बाँके से कह दो कि सूप ले आये, और क्षण-भर बाद उसने इतने धीमे स्वर में, कि मैं भी उसे कठिनाई से ही सुन सकता था, कहा, "और सुनो मधुसूदन, तुम रात को यहीं रहना, चले नहीं जाना।"

"ठीक है नहीं जाऊँगा, मगर...।"

"मगर-अगर कुछ नहीं। मैं तुम्हें बता नहीं सकता कि मुझे कैसा लग रहा है।...यह लडक़ी कल से जिस तरह का व्यवहार कर रही है, उससे मुझे अपने से ही डर लगता है।"

"क्यों, डर कैसा लगता है?"

"मुझे डर लगता है कि अगर मैं...अगर मैं अकेला घर में रहा और यह इसी तरह सब कुछ करती रही, तो न जाने...।"

ओलों का तूफ़ान तो थम गया मगर तूफ़ानी हवा रात-भर चलती रही। हरबंस अपने बेडरूम में सोया था और मैं उसी पलँग पर था जिस पर मैंने एक रात पहले काटी थी। जाने उस पलँग में ही ऐसी कुछ बात थी या क्या कि मैं जिस करवट भी लेटता वही करवट मुझे अस्वाभाविक लगती।

गली के लैम्प की रोशनी रोशनदान के शीशे से छनकर कमरे में आती हुई, बहुत बुझी-बुझी और उदास लग रही थी। लैम्प-पोस्ट के आगे का पेड़ हिलता था, तो वह रोशनी भी इधर से उधर सरकने लगती थी, जैसे वह अपने से भाग रही हो। सडक़ से गुज़रती हुई गाडिय़ों की रोशनियाँ कभी-कभी दीवार को उजला कर देती थीं। दीवार एकदम सफ़ेद हो जाती थी, अलमारियों में रखी हुई किताबों की जिल्दें चमक उठती थीं और फिर सब कुछ अँधेरे में गुम हो जाता था। मेरे मन में आनेवाले दिनों की एक तसवीर भी उसी तरह उभरकर अँधेरे में गुम हो जाती थी। डिफेंस कॉलोनी या जोरबाग़ का एक घर। आँगन में उगे हुए कैक्टस, पाम और मोरपंखी के पौधे। सरपत के सहारे उठे हुए स्वीटपीज़, दुधमुँहें बच्चों की तरह मुसकराते हुए। लॉन की घास पर चलते समय पैरों में उठती हुई एक कोमल चुनचुनाहट! गार्डन चेयर पर बैठकर आकाश की ओर ताकती हुई सुषमा पीछे से आकर कन्धे पर हाथ रख देती है। उसकी कोमल बाँहें धीरे-धीरे गले को कस लेती हैं और आँखों के पास आयी हुई आँखें स्वीट-पीज़ की तरह मुसकरा उठती हैं। फिर घर की दूब शिमला, कश्मीर और नैनी की मखमली दूब में बदल जाती है। पहाड़ की चोटी से दिखायी देते हुए बादल के टुकड़े सूर्यास्त के समय कई-कई रंगों में नहा लेते हैं। घाटी से खच्चरों की घंटियों की आवाज़ सुनायी देती है। सुषमा की कोमल उँगलियाँ मेरी उँगलियों में कसती जाती हैं। हवा में उड़ते हुए रेशमी बाल और उलझी हुई बाँहों के दूधिया कैक्टस! हवा के हर झोंके के साथ कैक्टसों में फूल उग आते हैं, कबूतरों के पंखों की तरह कोमल-कोमल फूल। शरीर सेमल के-से स्पर्श से ढकता जाता है और रोम-रोम में चुभते हुए काँटे बहुत मीठे लगते हैं। वातावरण की नमी गरम-गरम साँसों से गरमा जाती है। उसके बाद मरमरी प्यालों में गरम-गरम चाय। वातावरण की महक शरीर में और शरीर की महक वातावरण में भर जाती है। सुगन्ध का स्वर हृदय की धडक़नें तेज़ कर देता है। आधी-आधी रात तक नाइट लैम्प के सुरमई उजाले में बेमतलब की बातें होती हैं। आँखें खुलती हैं, तो बन्द हो रहना चाहती हैं। 'ला बोहीम' किसी अँधेरे कोने में आधी रात तक क्लासिक्स के विषय में बातचीत चलती है। ज़िन्दगी बहुत हल्के-हल्के क़दमों से आगे बढ़ती है। आपस से हल्की-हल्की बातचीत पार्टियों में हल्की-हल्की चुस्कियाँ, दोस्तों के हाथ हल्की-हल्की मुसकराहटें, सब कुछ हल्का और कोमल...।

हवा खिडक़ी को झटका दे जाती, दीवार उजली होकर स्याह पड़ जाती और मैं करवट बदल लेता। करवट के साथ ही ज़िन्दगी भी बदल जाती। दो छोटे-छोटे कमरों का घर। सुबह-सुबह बरतन मलने और कमरे बुहारने की आवाज़। ठकुराइन का झाइयों से लदा हुआ चेहरा। टूटे हुए मोढ़े पर बैठकर अख़बार पढ़ते हुए निम्मा चाय की प्याली लेकर पास आ खड़ी होती है। चाय पर पत्तियाँ तैर रही हैं। निम्मा की आँखें सहमी हुई हैं, जैसे उसे हवा से भी डर लग रहा हो कि वह अभी उसे डाँट देगी। उसकी पतली-पतली बाँहें देखने में भी चुभती-सी लगती हैं। बाँह को हाथ में पकड़ते ही वह एक घोंघे की तरह अपने में सिमट जाती है और बाँहों में कस लेने पर इस तरह विस्मय के साथ देखती है जैसे उसके साथ कोई बहुत ही रहस्यमय घटना घटित हो रही हो। वह नीचे को झुकती जाती है, झुकती जाती है, यहाँ तक कि उसका दुबला शरीर भी बाँहों के लिए बोझ बन जाता है। उसके हाथों से राख और प्याज़ की और कपड़ों से पसीने की गन्ध आती है। चेहरा ऊपर उठाने पर उसकी आँखें आँसुओं से भीगी नज़र आती हैं। गली में सब्ज़ीवाले ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाते हैं। ऊपर से इबादत अली की सितार का स्वर सुनायी देता है। दिन-भर के काम से थका हुआ सिर तकिये पर रखते ही नींद आने लगती है। पड़ोस के घर से किसी बच्चे के रोने और प्याज़ से दाल के छोंकने की आवाज़ सुनायी देती है...।

मैं करवट बदलकर सीधा हो जाता। अँधेरे का रंग सुरमई और उजला सुरमई होकर फिर गहराने लगता। आनन्द पर्वत की वही बरसाती। वही रोज़-रोज़ अकेले लौटना और दरवाज़े पर दस्तक देना। बबुआइन उसी तरह सन्देह-भरी आँखों से देखती है और अपनी लडक़ी को बाँह पकडक़र अन्दर भेज देती है। सीढिय़ाँ चढ़ते हुए कमरे में दाखिल होने को मन नहीं होता। कमरे में आकर किसी चीज़ को रखने-उठाने को मन नहीं होता। खिडक़ी के पास खड़े होकर दिल्ली का दूर-दूर

तक का विस्तार दिखायी देता है। सराय रुहेला स्टेशन से एक-एक करके गाडिय़ाँ गुज़रती जाती हैं। अँधेरे में एक भटकती हुई रूह बार-बार कराह उठती है। मैं कमरे से छत पर आता हूँ और छत से कमरे में लौट जाता हूँ...।

काफ़ी देर करवटें बदलने पर भी नींद नहीं आयी, तो मैं उठकर बैठ गया। उठकर कमरे की बत्ती जला दी। दीवार पर फ़ेड-इन और फ़ेड-आउट होते हुए रंग सहसा लुप्त हो गये। पास ही तिपाई पर हरबंस की फ़ाइलें रखी थीं। मैं कुछ देर उनके अधूरे अधलिखे पन्नों को पलटता रहा। अध्याय एक—बुआजी के यहाँ पहली भेंट। दो चेहरे। उसके नाखून। एक सवाल।...अध्याय पाँच—बर्फ़ बहुत गिरी है। मगर मन में कोई ख़ुशी नहीं। भ्रूण-हत्या सिर पर मँडरा रही है। क्या अपराध की अनुभूति ही अपराध का सबसे बड़ा दंड नहीं है?...अध्याय ग्यारह—एकान्त सडक़ और खाली जेब। वह क्यों नहीं आयी?...अध्याय इक्कीस—आईना टूट गया है। क्या वह आईना ज़िन्दगी का आईना ही नहीं था? अगर गाड़ी की दुर्घटना हो गयी होती? अध्याय पच्चीस—असम्भव को सम्भव बनाने का प्रयत्न। हवा जैसे चलती है, चलने दो।—संख्याहीन अध्याय...इतने बरसों में इन काग़ज़ों को कीड़े क्यों नहीं खा गये? यह सब बकवास है, कोरी बकवास। मुझे चाहिए कि इन काग़ज़ों को आग में झोंक दूँ।...अनध्याय—आख़िर अन्त क्या होगा?

मैंने काग़ज़ रख दिये और कमरे से बाहर निकल आया। बाहर तिपाई पर पानी का जग ढककर रखा हुआ था। मैं अचानक तिपाई से टकरा गया, तो शीशे का जग ज़मीन पर गिर गया। मैं उस आवाज़ से स्तब्ध होकर पल-भर अपनी जगह पर ज्यों-का-त्यों खड़ा रहा। हरबंस ने अपने कमरे में करवट बदली और फिर उसकी लम्बी साँस सुनायी देने लगी। तभी पीछे के दरवाज़े पर हल्की-सी थपथपाहट हुई और शुक्ला की निंदियायी हुई आवाज़ आयी, “बाँके!”

मैंने धीरे-से जाकर दरवाज़ा खोल दिया। वह शॉल ओढ़े हुए ठंड में ठिठुरी हुई-सी खड़ी थी। “आप अभी जाग रहे हैं?” उसने मुझे देखकर पूछा, “अभी आवाज़ कैसी हुई थी?”

“मेरा पैर तिपाई से टकरा गया था जिससे जग टूट गया है।”

“भापाजी की तबीयत तो ठीक है न?”

“हाँ। मेरा ख़याल है उसे नींद आ गयी है।”

“शुक्र है।” वह बोली, “मैं तो डर गयी थी कि कहीं...।”

“तुम भी अभी तक जाग रही थीं?”

“नहीं, जाग नहीं रही थी, मगर पूरी तरह सोयी भी नहीं थी। सुरजीत देर से घर आया था, उसे खाना खाकर सोये अभी थोड़ी ही देर हुई है।”

मेरा ध्यान फिर उसके शरीर के फैलाव की ओर चला गया और मुझे लगा कि उसे इतनी ठंड में बाहर नहीं आना चाहिए था।

“तुम सो रहो। हरबंस के पास मैं तो हूँ ही।”

“मैं आपको एक बात बताना भूल गयी थी। अगर रात को उन्हें फिर मितली हो, तो उन्हें दवाई का एक डोज दे दीजिएगा। उनकी दवाई उधरवाले कमरे में मेज़ पर रखी है। मैंने सुबह मँगवायी थी, मगर दिन में तो उसकी ज़रूरत पड़ी नहीं।”

“अच्छा...।”

जाते-जाते वह फिर रुकी और बोली, “देखिए, एक बात और भी आपसे कहना चाहती थी।

भापाजी का दिल्ली में दिल नहीं लगता, इसलिए आप इनसे कहें कि ये आगरावाली नौकरी कर लें। हो सकता है वहाँ जाकर इनका मन कुछ शान्त हो जाए। वह काम इनके मन के अनुकूल भी है...।”

“देखो, बात हुई तो उससे कहूँगा।”

“आपको आज मैंने बहुत तकलीफ़ दी हैं।” उसने कहा और धीरे-धीरे चली गयी। मैंने दरवाज़ा बन्द कर लिया। कमरे में आकर मैं बत्ती बुझाकर लेट गया। मगर हरबंस की फ़ाइल देर तक मेरे दिमाग़ में खुली रही...।

सुबह सोकर उठा, तो वर्षा से धुली हुई धूप रोशनदान से नीचे झाँक रही थी। आँगन से बत्तखों के कुडकुड़ाने और पंख फडफ़ड़ाने की आवाज़ आ रही थी। मैंने बिस्तर से उठकर खिडक़ी खोल ली। दो बत्तखें आँगन में चक्कर काट रही थीं। क्वाक् क्वाक् क्वाक्! उनकी काली धारियोंवाली गरदनें हिलतीं, पीली चोंचें नीचे को झुककर ऊपर उठ जातीं और पंख थोड़ा खुलकर बन्द हो जाते। क्वाक् क्वाक् क्वाक्!

मैंने कमरे का दरवाज़ा खोला, तो सहसा ठिठक गया। सामने रसोईघर में मिट्टी के तेल का स्टोव जल रहा था और उसके पास, उसके ऊपर झुकी हुई-सी नीलिमा खड़ी थी। पीठ की तरफ़ से वह उस समय बहुत दुबली लग रही थी। उसके बाल खूब कसकर बँधे हुए थे जिससे बालों के नीचे उसकी लम्बी गरदन ऊपर तक नज़र आ रही थी। मुझे देखकर वह एक बार ज़रा-सा मुसकरायी और फिर उसी तरह काम में लग गयी। मैं जाकर चुपचाप रसोईघर के दरवाज़े के पास खड़ा हो गया। उसने एक बार फिर घूमकर मेरी तरफ़ देखा और उसी तरह फीके ढंग से मुसकराकर कहा, “तुम्हें चाय दे दूँ?”

“तुम बना लो, तो साथ ही पीते हैं।” मैंने कहा।

“तुम कमरे में चलो, मैं लेकर आ रही हूँ।”

“हरबंस सो रहा है?” मैंने पूछा।

उसने धीरे-से सिर हिलाया और गरम पानी से प्यालियाँ धोने लगी। मैं कमरे में लौट आया। हरबंस की फ़ाइलें तिपाई पर खुली हुई रखी थीं। मैंने उन्हें बन्द किया और उठाकर मेज़ पर रख दिया। नीलिमा चाय लेकर आ गयी। चाय बनाते हुए भी उसने कोई बात नहीं की। चाय के दो-एक घूँट भर चुकने के बाद उसने पूछा, “तुम्हें रात को ठीक से नींद आ गयी थी?”

“शुरू में तो काफ़ी देर मैं जागता रहा था।” मैंने कहा, “मगर बाद में सो गया था।”

उसके बाद फिर कुछ देर हम दोनों खामोश रहे। फिर मैंने पूछा, “तुम किस वक़्त आयी हो?

“मैं अभी थोड़ी देर पहले ही आयी हूँ,” वह बोली। फिर कुछ देर चाय की प्याली में न जाने क्या देखते रहने के बाद उसने कहा, “सुबह सुरजीत मेरे पास आया था।”

“अच्छा!”

“रात को शुक्ला को काफ़ी बुख़ार हो गया है। अप्रैल-मई में उसके बेबी होनेवाला है, इसलिए सुरजीत बहुत घबराया हुआ था। मैं आना नहीं चाहती थी, मगर फिर मैंने सोचा कि...सोचा नहीं, मुझे लगा कि...शायद अब यही ठीक है।”

"अच्छा किया जो तुमने यह बात जल्दी सोच ली।" और कुछ देर चुप रहने के बाद मैंने कहा, "शुक्ला कल और परसों दोनों दिन बहुत हैरान हुई है और उसने काम भी बहुत किया है।"

"मुझे पता है।" वह बोली, "सुरजीत ने मुझे बताया था।"

"सुरजीत को मालूम था?"

"मालूम कैसे न होता? रात को जग टूटने पर जब वह तुमसे पूछने के लिए आयी थी तो...।"

"वह उस वक़्त जाग रहा था?"

"हाँ। वह बेचारा तो रात-भर नहीं सोया। यहाँ से जाकर शुक्ला को कुछ मितली-इतली भी हुई थी। वह सारी रात उसे सँभालता रहा है।"

"अच्छा!" मैं कुछ जल्दी-जल्दी चुस्कियाँ भरने लगा।

"मेरा तो ख़याल है कि वह हममें सबसे अच्छा आदमी है।"

मैं चुपचाप चाय पीता रहा। तभी अरुण साथवाले कमरे में से आँखें मलता हुआ आ गया। 'ममी', उसने नीलिमा के गले में बाँहें डालकर कहा, "मैं रात को किस घर में सोया था?"

"तू रात को नानी के घर में सोया था," कहते हुए नीलिमा ने उसे उठाकर गोद में बिठा लिया और उसके सिर पर हाथ फेरने लगी।

"तो अब अपने घर में कैसे आ गया?"

"तेरी बत्तखें तुझे सोये-सोये अपने पंखों पर बिठाकर ले आयी थीं।"

"मेरी बत्तखें कहाँ हैं?" अरुण एकदम उसकी गोद से उतर गया।

"बाहर आँगन में घूम रही हैं।"

"आहा! आहा!" अरुण ने हाथ पर हाथ मारा और बाहर भाग गया।

"ये बत्तखें तुम खरीदकर लायी हो?" मैंने पूछा।

"नहीं।" वह बोली, "कल शाम को मैं अरुण को जन्तर-मन्तर में घुमाने के लिए ले गयी थी। वहाँ से लौटकर आ रही थी, तो ये सडक़ पर पड़ी थीं। शायद कोई क्रिसमस ईव के लिए ले जा रहा होगा और रास्ते में उससे गिर गयी होंगी। इनके पैर आपस में बँधे हुए थे और ये वहाँ पड़ी-पड़ी कुडकुड़ा रही थीं। मुझे लगा कि किसी बस या कार के नीचे आकर कुचली जाएँगी, इसीलिए मैंने उन्हें उठा लिया। कुछ देर इन्हें लिये वहाँ खड़ी रही कि शायद कोई इन्हें लेने के लिए आ जाए। मगर कोई नहीं आया, तो मैं इन्हें घर ले आयी। घर आकर रात तक अरुण इन्हीं से खेलता रहा है। इनसे खेलता-खेलता ही सो गया। अच्छा हुआ, नहीं तो सोने से पहले बॉबी के पास आने के लिए रोता।"

अरुण दोनों बत्तखों को बगलों में दबाये हुए बाहर से आ गया। बत्तखें उसकी बाँहों के दबाव से कुछ सहम गयी थीं और टुकुर-टुकुर सामने की तरफ़ देख रही थीं। अरुण ने उन्हें लाकर कमरे में छोड़ दिया, तो वे पंख फडफ़ड़ाती हुई पलँग के नीचे घुस गयीं।

"अच्छी पली हुई बत्तखें हैं।" मैंने कहा, "तुम इनसे नये साल की दावत करोगी?" मगर मेरे इतने कहते न कहते अरुण मेरे पास आकर मेरे घुटनों पर मुक्के मारने लगा।

"ममी, कोई मेरी बत्तखों को काटेगा, तो मैं उसे जान से मार दूँगा।" उसने कहा और मेरे पास से

हटकर मुक्का ताने हुए नीलिमा के पास चला गया। नीलिमा ने उसे बाँहों में भरकर अपने साथ सटा लिया और बोली, “नहीं बेटे, तेरी बत्तखों को कोई नहीं काटेगा।”

“मैं आज से तुमको अपने घर में नहीं आने दूँगा।” अरुण मेरी तरफ़ आँखें निकालकर बोला। मैंने उसकी बाँह पकडक़र उसे अपनी तरफ़ खींच लिया और उसके गालों को चूम लिया।

बत्तखें पलँग के नीचे से निकल आयी थीं। अरुण ने मेरे हाथ से अपनी बाँह छुड़ा ली और उन्हें फिर बग़लों से लेकर पुचकारता हुआ बाहर चला गया।

रोशनदान से झाँकती हुई धूप दीवार से फ़र्श पर उतर आयी थी। मैंने घड़ी की तरफ़ देखा और उठ खड़ा हुआ। “मेरा ख़याल है मैं अब तैयार हो जाऊँ और चलूँ।” मैंने कहा।

कुछ ही देर में मैं चलने के लिए तैयार हो गया। हरबंस तब भी जागा नहीं था। “उसे जगा दूँ?” नीलिमा ने पूछा।

“नहीं, उसे अभी सोया रहने दो।” मैंने कहा, “उसे तुम्हारे आने का पता है?”

“नहीं, मैंने आकर उसे जगाना ठीक नहीं समझा। कहो, तो अब जगा दूँ।”

“नहीं, रहने दो।”

उसी समय बाँके सब्ज़ी का थैला लिये बाहर से आ गया। “तुम सब्जी ले आये?” नीलिमा उसे देखते ही बोली, “मगर तुमने जाते हुए पैसे तो मुझसे लिये ही नहीं थे। तुम्हारे पास पैसे थे?”

“कल छोटी बीबीजी ने पाँच रुपये का नोट दिया था।” बाँके थैला रखकर जेब से पैसे निकालता हुआ बोला, “उसमें से कल सब्ज़ी लाया था और साहब की दवाई लाया था। रात को इन साहब के लिए सिगरेट की एक डिब्बी भी लाया था। अब उसमें से पाँच-छ: आने मेरे पास बचे हैं।”

“ये तुम अपने पास रखो।” कहती हुई नीलिमा उधर के कमरे में चली गयी और वहाँ से अपना पर्स उठा लायी। उसमें से पाँच रुपये का नोट निकालकर बाँके को देते हुए उसने कहा, “उधर जाओ, तो ये उनके रुपये उन्हें लौटा देना।” फिर मेरी तरफ़ देखकर वह बोली, “तुम नाश्ता करके नहीं जाओगे?”

“इनके नाश्ते के लिए तो सुरजीत साहब ने उधर से कह रखा है,” बाँके बोला।

“नहीं, मैं नाश्ता करके नहीं जाऊँगा।” मैंने कहा, “वैसे तो आज मेरा हॉफ़ डे है, मगर सम्पादक ने नौ बजे मुझे दफ़्तर में बुला रखा है। उसे शायद मुझसे कोई ज़रूरी बात करनी है। तुम सुरजीत से भी मेरी तरफ़ से कह देना।

उससे पहले दिन मेरी सम्पादक से भेंट नहीं हो सकी थी। जब मैं हनुमान रोड पर नीलिमा से मिलकर वापस आया था, तो वह अपने किसी काम में व्यस्त था और उसने कहा था कि मैं कुछ देर के बाद उसे फ़ोन कर लूँ। जब मैंने फ़ोन किया, तो वह बाहर गया हुआ था। उसके बाद शाम को मुझे दूसरी चिट मिली थी कि सुबह नौ बजे आकर मैं उससे मिल लूँ। मैं जब उसके कमरे में दाख़िल हुआ, तो मेरे मन में कई-कई आशंकाएँ उठ रही थीं। वह उस समय स्टेनो को कुछ नोट्स दे रहा था। मुझे बैठने का इशारा करके वह नोट्स देता रहा। मैं धडक़ते हुए दिल से आनेवाले क्षण की प्रतीक्षा करता हुआ इधर-उधर देखता रहा। जब स्टेनो चला गया, तो उसने कुहनियाँ मेज़ पर फैलाये हुए मुझसे कहा, “तो...?”

"आपने आज आने के लिए कहा था।" मैंने कहा।

"हाँ।" वह बोला। फिर कोई बात याद आ जाने से वह अपनी टेबल डायरी के पन्ने उलटने लगा। उसमें एक जगह कोई बात नोट करके उसने कहा, "मैं तुमसे सिर्फ़ यही कहना चाहता था कि इस बीच तुमने मुझे सिर्फ़ एक ही फ़ीचर लिखकर दिया है। उसके बाद और कोई फ़ीचर तुम प्लान नहीं कर रहे? लोक सभा का बजट सेशन आरम्भ होने से पहले मैं चाहता था कि...।"

"आपने उस फ़ीचर के बारे में अपनी राय मुझे नहीं बतायी थी।" मैंने कहा।

"हाँऽऽ! वह फ़ीचर ठीक ही था।" वह आवाज़ को कुछ लटकाकर बोला।

"मगर तुमने मेरी बात को बहुत शाब्दिक अर्थ में ले लिया था। मेरा मतलब दरअसल और चीज़ से था और मैं तुमसे कुछ दूसरी ही तरह के फ़ीचर की उम्मीद कर रहा था। मगर वह फ़ीचर तुमने लिखा अच्छा था हालाँकि उसमें भी मुझे लगा कि तुम अभी अपनी कविता से बिल्कुल छुटकारा नहीं पा सके...।"

मुझे अपने मन में कुछ तसल्ली हुई कि जिस तरह की बात से मैं डर रहा था, वैसी कोई बात नहीं है। "मैं आपकी बात को समझता हूँ।" मैंने कहा, "वह फ़ीचर मैंने सिर्फ़ शुरू करने के लिए लिखा था। इधर मैं एक और फ़ीचर प्लान कर रहा हूँ...।"

"आई सी...!" वह थोड़ा मुसकराया, "उसकी कुछ रूपरेखा तुम मुझे पहले से बता दो, तो मैं उसे शेड्यूल में रख लूँ।"

मैं बहुत जल्दी-जल्दी सोचने लगा। कल रात से मेरे मन में एक रूपरेखा बन रही थी। "मैं सोच रहा था कि यहाँ पर विदेशी पैसे से जो कुछ ऐसी-वैसी संस्थाएँ काम कर रही हैं, उनके बारे में एक चीज़ लिखूँ...।"

"कैसी संस्थाओं के बारे में?"

"यहाँ कई एक ऐसी संस्थाएँ हैं न जो साहित्य, कला और संस्कृति की आड़ लेकर किन्हीं छिपे हुए राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति कर रही हैं...।"

"जैसे?"

मैंने उदाहरण के तौर पर 'भारतीय संस्कृति केन्द्र' का नाम ले लिया।

सम्पादक का चेहरा सहसा गम्भीर हो गया और उसने अपने दोनों हाथों को आपस में उलझा लिया। "यू मीन...", उसने कहा, "मगर इस बार तुम मेरे मतलब से बहुत आगे चले गये हो। इस तरह की चीज़ राजनीतिक हो जाएगी और मैंने तुम्हें बताया नहीं, मगर तुम्हारी राजनीतिक टिप्पणियों को लेकर पहले ही ऊपर काफ़ी चर्चा हो चुकी है। मैं तुम्हारा हित चाहता हूँ, इसलिए तुम्हें यह राय दूँगा कि तुम्हें ऐसी चीज़ों में नहीं पडऩा चाहिए जो तुम्हारे अपने हित को नुक़सान पहुँचा सकती हैं। ऊपर से मुझे यह भी कहा जा रहा है कि तुम्हें सांस्कृतिक रिपोर्टिंग से भी हटाकर 'न्यूज़' सेक्शन में कर दिया जाए। इसलिए ऐसी चीज़ लिखने का मैं तुम्हें परामर्श नहीं दूँगा। और अख़बार की पॉलिसी को नज़र में रखते हुए मैं कह सकता हूँ कि ऐसी चीज़ हम छाप भी नहीं सकते। इसलिए करना चाहो, तो तुम कोई और ही चीज़ प्लान करो।"

पल-भर हम दोनों चुप रहकर तौलती हुई-सी नज़रों से एक-दूसरे की तरफ़ देखते रहे।

"मैं सोचकर आपका बताऊँगा।" मैंने कहा।

"हाँ-हाँ, तुम अच्छी तरह सोचकर बताना।" वह बोला, "एक अन्दर की बात तुम्हें और बता रहा हूँ जिसे तुम्हें आउट नहीं करना चाहिए। मुझसे यह भी कहा गया कि तुम्हें अगला इन्क्रीमेंट देने से पहले तुम्हारे काम को कुछ दिन और अच्छी तरह देख लिया जाए। तुम्हें इस बात को ध्यान में रखकर ही चलना चाहिए।"

उसके कमरे से अपने केबिन में आकर कुछ देर मैं चुपचाप सामने दीवार पर लगे हुए कैलेंडर की तरफ़ देखता रहा। मेरी मेज़ पर उपहार में पायी हुई नये साल की अजन्ता के चित्रोंवाली एक डायरी रखी थी। कुछ देर मैं उसके पन्ने पलटता हुआ चित्रों को देखता रहा। उन चित्रों को देखते-देखते अचानक मुझे ध्यान आया कि मैंने उस दिन साढ़े दस बजे सुषमा को फ़ोन करने के लिए कह रखा है। मैंने अनजाने ही फ़ोन का चोंगा उठा लिया हालाँकि मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं उससे क्या बात करूँगा। मैं धीरे-धीरे उसका नम्बर मिलाने लगा—चार, पाँच, पाँच, चार...! मगर आगे का हिन्दसा मिलाने से पहले ही मैंने चोंगा रख दिया। डायरी मैंने एक तरफ़ सरका दी और कुरसी की पीठ से टेक लगाकर अपने हाथों को आपस में मलता हुआ फिर कुछ देर कैलेंडर की तरफ़ देखता रहा। काग़ज़ लेकर कुछ लिखने की कोशिश की तो मुझसे कुछ लिखा नहीं गया। फिर मैंने चोंगा उठा लिया। इस बार पहले के तीन हिन्दसे मिलाने के बाद ही मैं रुक गया और मैंने चोंगा रख दिया। चोंगा रखते ही मैं सहसा अपनी कुरसी से उठ खड़ा हुआ। मुझे लग रहा था कि मुझे उस समय कहीं जाना है। मैंने चलते-चलते डायरी मेज़ से उठा ली। शायद मन में कहीं इस तरह का ख़याल भी था कि वह डायरी मुझे किसी को उपहार में देनी है। नीचे आकर मैं फुटपाथ पर खड़ा हो गया और सोचने लगा कि मैं कहाँ जाने के लिए ऊपर से आया हूँ। क्या मुझे कॉन्सीक्यूशन हाउस जाना था? मगर वहाँ जाने से पहले क्या सुषमा को फ़ोन कर देना ज़रूरी नहीं था?

मैंने हाथ देकर एक आती हुई खाली टैक्सी को रोक लिया। सरदार ड्राइवर ने मीटर गिराकर मेरी तरफ़ देखा, तो भी मैं पल-भर सोचता रहा। फिर चुपचाप दरवाज़ा खोलकर अन्दर बैठ गया। सरदार ने अपनी सीट पर बैठते हुए मेरी तरफ़ देखकर पूछा, "कहाँ चलना है साहब?"

मेरे दोनों हाथों की उँगलियाँ आपस में उलझी हुई थीं। मैंने दोनों हाथों को एक-दूसरे से कसे हुए धीरे-से कहा, "क़स्साबपुरा।" और हाथ खोल लिये।

ड्राइवर शायद नया था। वह यह सुनकर भी मेरी तरफ़ देखता रहा और बोला, "कौन-सा पुर?"

"बस्ती हरफूलसिंह!" मैंने कहा और थोड़ा ढीला होकर सीट पर नीचे को सरक गया। "बस्ती हरफूल," सरदार सोचता हुआ-सा बोला, "यह कहाँ पर है साहब?"

"बारहटूटी, सदर बाज़ार!" मैंने झुँझलाकर कहा। सरदार ने टैक्सी स्टार्ट कर दी। टैक्सी एक झटके के साथ चली, तो मैंने अपनी गोद में रखी हुई डायरी को एक बार देख लिया कि वह गिर तो नहीं गयी।

टैक्सी चेम्सफ़ोर्ड रोड का पुल पार करके कुतुब रोड पर आ गयी। मैंने एक लम्बी साँस ली और मन में कुछ हल्का महसूस करता हुआ सीट पर थोड़ा और नीचे को सरक गया।

****